समन्वय

[संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण]

रचयिता

डा० भगवान्दास, काशी

सस्ता साहित्य मण्डल

नई दिल्ली

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री,
सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

प्रथम संस्करण, १९२८
द्वितीय संस्करण, १९४७

मूल्य
साढ़े पांच रुपये

मुद्रक
श्रीनाथदास अग्रवाल,
टाइम टेबुल प्रेस, बनारस।

नये संस्करण के सम्बन्ध में निवेदन

'समन्वय' के प्रथम संस्करण की प्रतियाँ, प्रायः तीन वर्ष हुआ, समाप्त हो गईं। 'सस्ता साहित्य मंडल' के व्यवस्थापक और मन्त्री, श्री मार्तंड उपाध्याय के उत्साह से यह नया संस्करण छापा गया है। पूर्व संस्करण की अपेक्षा इस में बहुत से प्रकरण नये लिखे हैं; प्रमाण-भूत प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों के श्लोक अधिक दिये हैं, और जहाँ-जहाँ वाक्य उलझे और अर्थ संदिग्ध जान पड़े वहाँ-वहाँ उन को सुलझाने और विस्पष्ट करने का यत्न किया है। मैं चाहता था कि टाइप कुछ बड़े होते, पर पृष्ठ संख्या ड्योढ़ी या उस से भी अधिक हो जाती। और काग़ज़ के दुर्भिक्ष और सब प्रकार के मूल्यों की अतिवृद्धि के कारण, जिस का हाल प्रत्येक भारतवासी को विदित है, पुस्तक का मूल्य बहुत अधिक रखना पड़ता। इस ग्रन्थ का 'कापीराइट' मैंने 'सस्ता-साहित्य-मंडल' को, पाँच वर्ष के लिए, अर्थात् संवत् २००९ के अन्त तक के लिए दिया है। इसके पश्चात् यह ग्रन्थ 'कापीराइट' से मुक्त हो जायगा; जिस का जी चाहे छाप सकता है। अन्य भाषाओं में अनुवाद के लिए अभी से छूट है।

काशी,
(स्वराज-दिवस, १५ अगस्त, १९४७ ई०)
सौर ३० श्रावण, सं० २००४ वि०

आपका सेवक शुभ चिन्तक—
भगवान्दास

प्रथम संस्करण का निवेदन

भारती-भण्डार का यह सौभाग्य है कि 'समन्वय' के रूप में उसे तत्त्वदर्शी मुनिवर श्री भगवान्दास का आशीर्वाद प्राप्त हुआ है। भण्डार को इस बात का गर्व है कि इस के द्वारा पहले-पहल आप की पुस्तक मातृभाषा हिन्दी में निकल रही है। यह एक ऐसी पुस्तक है जिस के प्रकाशन से हिन्दी ही नहीं, समस्त देशी भाषाओं का मस्तक ऊँचा हुआ है, क्योंकि ग्रन्थकर्त्ता संसार के उन इने-गिने लोगों में हैं जो मानवीय जगत् के विचारों को कोई वास्तविक निधि दे सकते हैं। हमारा ध्रुव विश्वास है कि यह हिन्दी की एक ऐसी पुस्तक होगी जो केवल भारतीय भाषाओं में ही नहीं, बल्कि विदेशी भाषाओं में भी अनुवादित होगी। क्योंकि जिन समस्याओं का इस में समन्वय हुआ है वे केवल भारत में ही नहीं सभी देशों में, किसी-न-किसी रूप में, विद्यमान हैं।

कारण कि यों तो मनुष्य अपने को—बुद्धि-बल के कारण—पृथ्वीमात्र के प्राणियों में श्रेष्ठ समझता है, और वास्तव में बुद्धि है भी एक अमोघ शक्ति; किन्तु उसी बुद्धि का मानवता ने ऐसा दुरुपयोग मचा रक्खा है कि उस ने अपने को एक बड़े जाल में जकड़ दिया है। क्या उपासना, क्या ज्ञान, क्या कर्म, तीनो ही मार्गों में मनुष्य इस समय एक भूल-भुलैया में पड़ा हुआ है। और उस में पग-पग पर उसे रूढ़ियों की ऐसी ठोकरें खानी पड़ती हैं कि वह मुंह के बल आ जाता है। खेद कि अपने को ऐसी स्थिति में फँसा देने का जिम्मेदार स्वयं मनुष्य ही है।

ऐसे समय 'समन्वय' सदृश ग्रंथ ही अन्धकार में पड़ी मानवता को आलोक प्रदान कर सकते हैं, और उन्हें उन रूढ़ियों के टक्कर से बचा सकते हैं जो किसी समय की सामाजिक आवश्यकता की अब ऐतिहासिक चिन्ह मात्र हैं। ऐसे ही निबन्धों से हमारा मोह से निबेरा हो सकता है, और मोह से निबेरे में ही कल्याण है। तभी भगवान् गीता में कहते हैं—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति,

तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।

सो, हमें पूरी आशा है कि समन्वय द्वारा लोक अवश्य ही प्राचीन का नवीन के साथ देश-कालानुसार उपयोग करेगा, और उसी के आदर्श पर पुनः एक ऐसे समाज की रचना कर सकेगा जो—

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

—इस वेद-मंत्र को सिद्ध कर सके।

आशा है, इस पुस्तक का हिन्दी-संसार खूब स्वागत करेगा।

काशी
श्रावण शुक्ल ११, १९८५ वि०

प्रकाशक
(राय कृष्णदास)

प्रस्तावना

भगीरथ के रथ पीछे लगी भगी भागीरथी जग तारिबे कों,
ढिग आई जबै तबै न्हाइबे, पाप मिटाइबे, पुण्य कमाइबे कौं,
बेगि चरण विंध्याद्रि धायौ जल, पै अति आनन्द ते जड़ होए कै,
भूलि गयौ है बढ़ाइबे कौं, अरु भूलि गयौ है निसारिबे कौं।

काशी से प्रायः दस कोस उत्तर-पश्चिम, गंगा के जल में अर्ध-मग्न, न जाने कितने सहस्र वर्षों से, विन्ध्य पर्वत का एक शैल तपस्या कर रहा है। कुछ दूर से, पूर्व की ओर से देखने से, उस का आकार ठीक मनुष्य के चरण के ऐसा जान पड़ता है। इसी से उस का नाम चरणाद्रि पड़ा है। प्रायः दो सहस्र वर्ष पूर्व, विक्रमादित्य के समय से, उस पर दुर्ग बना है। कथा प्रथित है कि विक्रमादित्य के बड़े भाई भर्तृहरि ने, विरक्त हो कर भाई को राज सौंप कर, इसी स्थान मे आ कर तपस्या की, योग साधा, मोक्ष पाई, अमर हुए। "कलि मे अमर राजा भरथरी।" दुर्ग के भीतर उन का समाधि-स्थान अब तक दिखाया जाता है। गिरि-दुर्ग के नीचे, गंगा के किनारे, एक छोटी बस्ती बसी है, जिस को गिरि के नाम से ही, हिन्दी मे संस्कृत शब्द के रूप का परिवर्त्तन कर के, (चरण-गिरि चरनारगढ़, चरनार) चुनार कहते हैं। बस्ती से डेढ़ कोस पर, पर्वत की दरी मे, झरने के किनारे, दुर्गा देवी का पुराना मन्दिर है। किंवदंती है कि कहीं उसी के पास, शृङ्गी ऋषि का आश्रम था, जो महाराज परीक्षित को, राजधर्म का अल्प ही उल्लंघन करने के लिए, शाप के द्वारा अति उग्र दण्ड दे कर, श्रीमद्भागवत पुराण के अवतार के, परम्परया, कारण हुए।

इस बस्ती मे, गंगातट पर, ढाई वर्ष से मै ने शरण लिया है। कभी-कभी काशी जाता रहता हूँ। प्रीति-पात्र राय कृष्णदास जी ने सौर २८ माघ, १९८१, वि० के दिन, यहाँ एक बार यह इच्छा प्रकट की, कि मेरे कुछ हिन्दी लेखों और व्याख्यानो का संग्रह छापा जाय। उन की विशेष आस्था उस

लेख-माला पर थी, जो 'समन्वय' के नाम से, मेरे प्रिय मित्र श्री शिवप्रसाद गुप्त के 'आज' नामक दैनिक पत्र मे छपी थी। इन लेखों का मूल एक व्याख्यान था जिसे, उन्हीं शिवप्रसादजी की उदारता और लोकोपकार-बुद्धि से स्थापित काशी विद्यापीठ मे, समावर्तन संस्कार के समय, एक नागिंकोत्सव मे, मै ने दिया था। इस के प्रायः एक वर्ष पूर्व, और ८ चैत्र १९८० वि० को, स्वामीश्रद्धानन्द जी के अनुरोध से, गुरुकुल कांगड़ी के समावर्त्तन संस्कार के अवसर पर, इसी आशय का व्याख्यान मै ने किया था। स्वामी जी ने उस को छापने की इच्छा की थी; लिपिबद्ध कर के काशी से उन के पास भेजा; उसी वर्ष की वर्षाऋतु मे, हृषीकेश, हरद्वार, कांगड़ी, आदि के सन्निकट, गंगा मे संहार-कारक आपूर, संप्लव, आया; गुरुकुल की सब शालाएँ, पुस्तकें, सामग्री-संचय, ध्वस्त हो गये; मेरे व्याख्यान की लिपि को भी गंगा ने ग्रहण कर के पवित्र किया; गुरुकुल को, कनखल मे, नया जन्म लेना पड़ा; मेरे व्याख्यान को भी, काशी मे; उस के साथ, कुछ और लेख और व्याख्यान भी मिलाये गये। दो लेख नये भी इस संग्रह के लिए मै ने लिखे। कृष्णदास जी की श्रद्धा से मुझे भी उत्साह हुआ। सब संग्रह का नाम 'समन्वय' ही रक्खा गया, क्योंकि सभी लेखों का अभिप्राय, विविध विचारों, भावों, रीतियों का विरोध-परिहार और परस्पर सम्बन्ध, सम्वाद, समन्वय करना ही है।

राय कृष्णदास जी ने, अपने मित्र, विख्यात सुकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त जी के 'साहित्य प्रेस' मे, इस संग्रह के छपने का प्रबन्ध किया। मै ने प्रूफ़ देखा तो सही, पर छापाखाना चिरगांव (ज़िला झांसी) मे, और मै चुनार मे, प्रायः डेढ़ सौ कोस की दूरी पर; तथा, गर्मी के दो महीनो मे, (सन् १९२८ ई०, सम्वत् १९८५ वि०) नैनीताल और अल्मोड़ा के बीच रानीखेत पर्वत पर, प्रायः चार सौ कोस दूर; इस से अशुद्धियां रह गई हैं; अध्येता सज्जन सहज मे अपनी बुद्धि से इन की शुद्धि कर लेंगे। कृष्णदास जी को जितना ये लेख रुचे, उन का चतुर्थांश भी यदि अन्य पढ़ने वाले सज्जनो को रुचें, तो उन का और श्री मैथिलीशरण जी का उत्साह, इस संग्रह के छपाने का, सफल हो; और मै भी कृतार्थ और धन्यम्मन्य होऊँ।

भर्तृहरि की कीर्ति से व्याप्त प्रदेश में आया हूँ, इस लिए जिस श्लोक से उन्हों ने अपने प्रसिद्ध नीति-शृङ्गार-वैराग्य-शतकों का आरम्भ किया है, उसी के कुछ परिवर्तित रूप से इस प्रस्तावना का अन्त करता हूँ।

यां (विद्यां, अहं, जीवात्मा, गूढेन अव्यक्त-वैराग्य-बीजेन) चिंतयामि सततं, मयि (जीवात्मरूपे) सा (विद्या) विरक्ता; सा तु अन्यम् इच्छति जनं (परमात्मानं), स जनो ऽन्यसक्तः (अविद्यायां सक्तः, स्वमहिमानं, विद्यापतित्वकृतं, विहाय, मद्रूपं अविद्याऽऽश्लिष्टं, जीवात्मत्वं धारयति); अस्मत्कृते च (अस्माकं, जीवात्मनां, उद्धरणाय, तारणाय, पूर्वं बन्धस्य ऽनुभवं दत्त्वा, "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा", पश्चात्, स्वभगिन्याः सपत्न्याश्च विद्यायाः द्वारा मोक्षणाय, "विद्यया ऽमृतम् अश्नुते", तस्मात् उद्धरणाय, परोक्षेण, गुप्तरूपेण, निरंतरं यतमाना जगत्कर्त्री अविद्या) परितुष्यति काचिद् अन्या (सा अविद्या एव); धन्या वयं ननु परस्परभावबद्धाः ।

'विश्राम' चुनार,
सम्वत् १९८५ वि०

भगवान्दास

पुनश्च

यह पुस्तक मूलतः 'भारती भंडार, काशी' से, श्री रायकृष्णदास जी के प्रयत्न से छपी, पर अब इस का सारा 'स्टाक', 'सस्ता-साहित्य-मंडल', नई दिल्ली, ने खरीद लिया है; यह उस मंडल के मंत्री श्री मार्तण्ड उपाध्याय के पत्र से मुझे विदित हुआ। अब यह पुस्तक 'मंडल' की ओर से ही प्रकाशित मानी जानी चाहिए।

शान्तिसदन, सिगरा,
बनारस कैंट, १०-५-४० ई०

भगवान्दास

विषय-सूची

(प्रत्येक पृष्ठ पर नये शीर्षक रख दिये गये हैं ; पाठक सज्जन उन को इस सूची का सविस्तर उपबृंहण जानें ।)

समन्वय

१. गणपति-पूजा*

॥ ॐ ॥

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे,
प्रियाणां त्वा प्रियपतिं हवामहे,
निधीनां त्वा निधिपतिं हवामहे ।

अमृत-विष-पान

नैषध-चरित नामक प्रसिद्ध काव्य मे श्लोक है—

सततम् अमृताद् एवाऽहाराद् यद् आपद् आरोचकं,
तद् अमृतभुजां भर्ता शंभुर् विषं बुभुजे विभुः ।

देवता सदा अमृत पीया करते हैं। उन के पति, सब से बड़े देवता, महा-देव का क्या कहना है। वे तो नित्य नित्य उत्तमोत्तम अमृत बहुत ही पीते होंगे। पर इस नित्य-नित्य के अमृतपान से वे उद्विग्न हो गये। उन को अरोचक हो गया। तो मनफेर के लिए, उन्हों ने हालाहल विष पी लिया।

आप लोगों को अच्छे-से-अच्छे शास्त्रज्ञ विद्वान् अध्यापकों के व्याख्यान सुनते सुनते अवश्यमेव अजीर्ण हो गया है, इसी लिए आप को मेरी टूटी-फूटी बातें सुनने की इच्छा हुई, और आप ने अनुरोध कर के मुझ को यहाँ बुलाया।

* काशी विश्व विद्यालय मे, भाद्रपद सं० १९८२ मे, गणपतिउत्सव के सम्बन्ध मे, व्याख्यान हुआ; उस का परिबृंहित रूप यह प्रथम अध्याय है।

मुझे सचमुच व्याख्यान देने का अभ्यास नहीं। इस प्रकार से सभा मे बोलने में बहुत श्रम और थकावट मानता हूँ, और उस पर अधिक कठिनता यह है कि झंझट के कामो से अवकाश भी नहीं कि कुछ अध्ययन कर के, कुछ सोच-विचार के, व्याख्यान की सामग्री एकत्र करूँ। आज ही कथंचित् घंटे दो घंटे में एक दो पुराण उलट-पलट कर, गणेश जी की कथा कुछ देख पाया हूँ। गणपति-उत्सव मे गणपति की कथा ही कहना उचित है।

उत्सव और हिन्दू धर्म

छात्रों को विशेष कर, और मनुष्यमात्र को सामान्यतः, उत्सव बहुत प्रिय होते हैं। खेल, मन-बहलाव, किस को नहीं अच्छा लगता? सब देशों मे, सब जातियों मे, किसी न किसी बहाने से उत्सव मनाये जाते हैं। मुस्लिम बस्तियों मे ईद, शबेबरात, बारावफ़ात, मौलूद, मुहर्रम आदि के नाम से; पच्छिम के ईसाई देशों मे ईस्टर, क्रिस्मस, कार्निवल, घुड़दौड़, नावदौड़, आदि के व्याज से; और थियेटर, सिनेमा, तो बड़े शहरों मे हर रात जारी रहते हैं, जैसा अब सभी देशों मे हो चला है। यहाँ की भी पुरानी प्रथा रही है कि उत्सव प्रायः धर्म के नाम के संबन्ध से मनाये जायँ। प्रसिद्ध है कि हिंदू का खाना, पीना, सोना, जागना, उठना, बैठना, छींकना, खाँसना, रोज़गार, व्यवहार, सभी धर्म के नाम से होता है। यहाँ तक कि चोरी और ठगी भी भवानी की पूजा कर के और अच्छा मुहूर्त देख के चोरधर्मशास्त्र के अनुसार होती रही है। महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्री को सचमुच एक चोरधर्मशास्त्र की, संस्कृत मे, प्राचीन पुस्तक मिली। यदि 'धर्म' का अर्थ हेतुयुक्त, कार्यकारण-सम्बन्ध के अनुसंधान से पूर्ण, लोक-'धारकः', लोक-संग्राहक सत्कर्मोपयोगी ज्ञान समझा जाय, जो ही 'सायंस' और शास्त्र का भी सच्चा अर्थ है, तो प्राचीन और नवीन भावों का समन्वय हो जाय; यथा सब ही कर्म, सब ही आहार, विहार, व्यवहार, 'धर्म' अर्थात् 'सायंस' अर्थात् दृष्ट-अदृष्ट-फलबोधक सज्ज्ञान सच्छास्त्र के अनुसार होना ही चाहिये। अस्तु। उत्सवों का धर्म से इस देश मे घनिष्ठ सम्बन्ध बहुत काल से हो रहा है। यदि सूची तैयार की जाय तो स्यात् वर्ष के तीन सौ पैंसठ दिनो के लिए कम से कम सात

सौ बीस त्योहार निकल आवेंगे। पर मुख्य त्योहार दो प्रकार के हैं, एक युगादि पर्व अथवा ऋतुपरिवर्तन सम्बन्धी, जैसे वसंतपंचमी, होलिका, देवशयन, देवोत्थान, श्रावणी, दीपावली, शरत्-पूर्णिमा, कार्तिकी-पूर्णिमा, आदि। और दूसरे ऐतिहासिक, पौराणिक घटना सम्बन्धी, जैसे रामनवमी, विजयदशमी, कृष्ण-जन्माष्टमी, शिवरात्रि, वामनद्वादशी, नृसिंहचतुर्दशी, हनुमान्‌चतुर्दशी आदि। गणेशचतुर्थी को पौराणिक इति-वृत्त का स्मारक उत्सव समझना चाहिये।

परिश्रम और विनोद

अंग्रेज़ी मे कहावत है "आल वर्क ऐएड नो प्ले मेक्स जैक् ए डल ब्वाय," अर्थात् यदि लड़का पढ़ने लिखने ही मे दिन रात परिश्रम करता रहे, और खेल कूद कुछ न करे, तो उस की बुद्धि मन्द हो जाती है। इस न्याय का परिणामरूप दूसरा न्याय, छात्रों ने अपने लिए बना लिया है कि "आल प्ले ऐंड नो वर्क मस्ट मेक जैक ए ब्राइट ब्वाय," अर्थात् यदि लड़का खेल कूद ही मे लगा रहे, और पढ़ना लिखना न छूवे, तो अवश्यमेव उस की बुद्धि बड़ी तीव्र और स्फूर्तिमती हो जायगी! इसी से आप देखते हैं कि स्कूल, कालिज, पाठशाला, मदरसों मे, प्रायः सात-आठ महीने अनध्याय होता है और पाँच चार महीने पढ़ाई। पर छात्रशुभचिंतक अध्यापक-मंडली इस फ़िक्र मे रहती है कि किसी प्रकार से अनध्यायों मे भी अध्ययन का काम करा लिया जाय। इस लिए उत्सवों मे भी आप लोगों को किसी व्याज से लेक्चर, व्याख्यान, ही सुनवा दिये जाते हैं। ठीक ही है, खेल से काम को, और काम से खेल को, मदद मिलनी ही चाहिए।

कर्मणि अकर्म यः पश्येद्, अकर्मणि च कर्म यः,
स बुद्धिमान् मनुष्येषु, स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।

'कर्म मे अकर्म को, और अकर्म मे कर्म को, जो देखता और पहिचानता है वही तो मनुष्यों मे बुद्धिमान् है, योगी है, सब कामों को करने वाला है।'

इस गीता के श्लोक का भी कुछ ऐसा ही अर्थ होगा। और भी—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरा उवाच प्रजापतिः,
देवान् भावयताऽनेन, ते देवा भावयंतु वः;
परस्परं भावयंतः श्रेयः परमवाप्स्यथ ।

'प्रजापति ने यज्ञ की विधि के साथ मानव प्रजा की रचना कर के कहा कि तुम लोग इस यज्ञ से देवताओं का पोषण करो, तब वे देवता तुम्हारा पोषण करेंगे; परस्पर सहायता करते हुए दोनो परम श्रेयस् को पाओगे ।'

इस का भी अर्थ यों लग सकता है—देवनात् खेलनाद् देवाः, मननात् अध्ययनात् मनुष्याः, देवनं च मननं च परस्परं भावयतः । खेलने से छात्र हृष्ट पुष्ट होते हैं, उस से अध्ययन के लिए उत्साह और बल अधिक होता है । तथा उत्साह और बल से अध्ययन करने के बाद खेलने की इच्छा भी अधिक उत्कट होती है । उचित खेल से, हर्ष की, हर्ष से प्राण का, वृद्धि होती है ।

इस प्रकार खेल-कूद का और ज्ञानवृद्धि का, उत्सवों का और व्यावहारिक परिश्रम का, अन्योऽन्याश्रय है ।

गणपति की उत्पत्ति

आप लोग तीन दिन से गणेशोत्सव मना रहे हैं, तो गणपतिपूजन का समयोपयोगी अर्थ भी कुछ लगाना चाहिये ।

पश्चिम की रीति से पढ़े लिखे विद्वान् यह कहते हैं, कि गणेश मूलतः आर्यों के देवता नहीं, किंतु भारतवर्ष की किसी असभ्य प्राचीन जाति के विरूप कुरूप देवता हैं, जिन को आर्य लोगों ने उस असभ्य जाति को जीतने के बाद उस के सांत्वनार्थ अपनी देवमण्डली मे मिला लिया। इस विचार मे कितना अंश सत्य है कितना मिथ्या, इस के विवेचन की शक्ति मुझ मे नहीं। इस का निर्णय आप के महाविद्यालय के महापण्डित पुरातत्त्ववेत्ता अपनी सूक्ष्मेक्षिका से करेंगे । मै तो श्री गणेश जी के स्थूलकाय के अनुरूप स्थूल दृष्टि से इतना ही देखता हूँ कि, पहिले जो कुछ रहे हों, अब तो ये आर्यों के परम आर्य देव, विकृत रूप होते हुए भी बड़े सुन्दर रूपक के आश्रय, हो रहे हैं । तो भी यहाँ इतना कहना अनुचित न होगा कि इन पाश्चात्य विद्वानो का विचार सर्वथा निर्मूल नहीं है ।

मानव-गृह्यसूत्र (२ । १४) से जान पड़ता है कि पहिले चार विनायक माने जाते थे, (१) शालकटंकट, (२) कूष्मांडराजपुत्र, (३) उस्मित, (४) देवयजन। तथा यह माना जाता था कि ये मनुष्यों मे, स्त्रियों मे, बालकों मे, प्रेतवत् आवेश प्रवेश कर के विविध उपद्रव करते-कराते थे। और इन की शांति, मद्यमांसादिक के अर्पण तर्पण से, की जाती थी; जैसे आजकाल भी, विशेष कर 'छोटी' अथवा 'नीच' कहलाने वाली जातियों मे, और पर्वतों मे अधिकतर, झाड़-फूंक, टोना-टोटका, उतारा, ढोला आदि के विविध उपचारों प्रकारों से, भूत-प्रेतादि की और रोगादि की, की जाती है। याज्ञवल्क्यस्मृति के समय आने तक ये चार एकत्र कर के एक बना लिये गये थे, पर नाम इस एक उपदेव के छः रहे, जो उक्त चार के ही रूपांतर हैं, यथा, शाल, कटंकट, कूष्मांड, राजपुत्र, मित और सम्मित (१-२७१, २८५)। *

---

* वाल्मीकि रामायण मे, तथा महाभारत मे, सालकटंकट और शाल-कटंकटा शब्द राक्षस-राक्षसी के नामो मे मिलते हैं। आधुनिक मंगोलियन जाति इस 'राक्षस'-नामक महाजाति की वंश-परंपरा मे जान पड़ती है। यथा 'मुद्रा-राक्षस' नाटक से विदित होता है कि नंद का मंत्री 'राक्षस', अर्थात् तिब्बती या चीनी, था। इस प्राचीन महाजाति का वासस्थान, अटलांटिस महाद्वीप, जलप्रलय से समुद्र-मग्न हो गया, सहस्रों वर्ष पूर्व, ऐसा कुछ वैज्ञानिकों का विचार है। संभव है कि यह नाम और रूप चीनियों तिब्बतियों के द्वारा अदल-बदल कर भारतवर्ष मे पहुँचा हो। बुद्धदेव के पहिले, पुराण काल मे, तथा उन के पीछे, सम्राट् हर्ष-वर्धन के समय तक 'चीन' देश और भारत मे परस्पर व्यवहार और यात्रियों का आना-जाना था, यह प्रायः असंदिग्ध है। हिमालय समूह के अंतर्गत गंध-मादन पर्वत पर, 'नर-वाहन' कुबेर के 'यक्ष-राक्षसों' से, भीम के युद्ध का वर्णन महाभारत मे है; कुबेर पहिले भारत के दक्षिण 'लंका' मे रहते थे; उन की वह राजधानी, जब उन के छोटे भाई राक्षस-शिरोमणि रावण ने उन से छीन ली, तब उत्तर मे आ बसे, और 'अलका' की रचना कराई; इत्यादि कथाओं से, भारत के दक्षिण, पूर्व, और उत्तर मे 'राक्षस' जाति के मनुष्यों के विस्तार की सूचना होती है।

इस परिवर्त्तन से क्या अर्थ निकालना चाहिये ?

बात यह है कि सभी संसार परिवर्त्तनशील है। सभ्यता-शालीनता, इष्ट पूज्य, पूजा-अर्चा, विश्वास-आचार, रहन-सहन, सभी के रूप बदलते रहते हैं। मूलतत्त्व, जिन का प्रतिपादन दर्शनो मे किया है, नहीं बदलते। मनुष्य की प्रकृति के बहुविध अंशों, अवयवों, अक्षों, पहलुओं, गुणो के परिवर्त्तमान अभिव्यंजनों प्रस्वापों, आविर्भावों-तिरोभावों, के अनुसार, उस की सभी सामग्री बदलती रहती है।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषः, यो यच्छ्रद्धः स एव सः;
यजंते सात्त्विका देवान्, यक्षरक्षांसि राजसाः,
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजंते तामसा जनाः;
देवान् देवयजो यांति, मद्भक्ता यांति मामपि। (गीता)
यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः। (रामायण)

'श्रद्धा ही पुरुष का स्व-भाव है, तात्त्विक स्व-रूप है; जिस की जो श्रद्धा है, हृदय की इच्छा है, वही वह है; सात्त्विक जीव देवों को पूजते हैं; राजस, यक्ष-राक्षसों को; तामस, भूत-प्रेतों को। देवताओं के पूजने वाले, देवताओं के पास जाते हैं; मेरा भक्त मेरे पास आता है। जो अन्न मनुष्य खाता है, वही उस के देवता खाते हैं।''

अर्थात् तामस प्रकृति के मनुष्यों के देवता भी तामस, राजसों के राजस, सात्त्विकों के सात्त्विक। गुणो से परे, गुणो के मालिक को, स्वामी को, आत्मा को, पहिचानने वाले आत्मवानो के लिए, एक आत्मा सर्वव्यापी सर्वदेवमय ही देवता है।

ज्यों ज्यों मनुष्यों की प्रकृति मे, अर्थात् प्राकृतिक गुणो के आविष्कार मे, उत्कर्ष होता है, तमस् कम और रजस् अधिक, फिर रजस् कम और सत्त्व अधिक, त्यों त्यों उनके देवताओं मे भी उत्कर्ष होता है।

इस से यह नहीं समझना चाहिये कि राजस तामस उपदेवता कहिये, शक्तियाँ कहिये, भूत-प्रेत-पिशाचादि कहिये, सर्वथा मिथ्या हैं, केवल कल्पना हैं, अत्यंतासत् हैं। ऐसा नहीं। उन मे भी वैसी व्यावहारिक सत्ता है जैसी सात्त्विकों मे। किंतु पूजकों भावकों की भावना, कल्पना, वासना, के अनुसार, भावित इष्ट का

आकार और बल भी होता है, घटता, बढ़ता, और बदलता है। भावक, भावना, भावित–इन शब्दों से ही स्पष्ट होता है कि पूजक की भावनाशक्ति से ही, देवता का आकार, विग्रह, सम्भूत होता है।

"जिनकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।"

मननात् त्रायते इति मंत्रः। मंत्रमूर्तिर्देवः।

भक्तानामनुकंपार्थं देवो विग्रहवान् भवेत्।

ये यथा मां प्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहम्। इत्यादि।

'मनन करने से जो त्राण करै वह मंत्र। देव की मूर्त्ति मंत्र है, मंत्र के अनुसार है। निराकार परमात्मा ही तो भक्तों के अनुग्रह के लिए, उन की भावना के अनुसार, विग्रह, अर्थात् शरीर, धारण कर लेता है। जो जैसा मुझे भजते हैं, मैं भी उन्हें वैसा ही भजता हूँ, वैसा ही देख पड़ता हूँ।'

यदि यह कहा जाय तो अनुचित न होगा कि, मनुष्य, जैसे दृश्य स्थूल पदार्थों और पशुओं से अपने प्रयोजन, अनुसार काम लेता है, उन के आकार प्रकार बदल लेता है, और उन को सिखा लेता है, वैसे ही अदृश्य, अल्पदृश्य, सूक्ष्म देवोपदेवों के विषय में भी काम करता और लेता है। पर इन के विषय में मानस भावना मुख्य साधन है। जंगली शिकारी, मृगयु, व्याध मनुष्य की सामग्री, हथियार, कुत्ते, आदि, जंगली होते हैं; कृषक और नागरिक की नागरिक, परिष्कृत, संस्कृत, अन्न, वस्त्र, गृह, रथ, हृष्ट पुष्ट गाय, बैल, घोड़े, आदि। क्रमशः उत्कर्ष होता है। ऐसा उत्कर्ष और परिवर्तन हो सकने में हेतु यह है कि तीनो गुण, सत्त्व, रजस्, तमस्, सर्वदा अन्योन्यसंबद्ध हो कर, घटते बढ़ते रहते हुए, अपृथक्कार्य हैं। रुद्र ही शिवशंकर हो जाते हैं, भव ही संहारकर्त्ता हर हो जाते हैं। विष्णु ही मत्स्य, कूर्म, वाराह, नरसिंह, वामन आदि। गौरी ही काली, चंडिका ही अन्नपूर्णा। वही मनुष्य अभी स्नेही अभी क्रोधी, अभी हँसमुख अभी रोनीसूरत, अभी आलसी अभी उत्साही।

निष्कर्ष यह कि, पूर्वरूप गणेश जी का चाहे विकट खालकटंकट आदि का रहा हो, पर अब तो चिरकाल से शुद्धि और संस्कार होते होते सर्वप्रिय गोलमोल बालक का हो गया है।

जिस सुन्दर भवन मे इस समय हम आप सब बैठे हैं, उस को यदि कोई कहे कि यह मूलतः मृत्तिका है, तो अवश्य अंशतः सत्य है। पर क्या सर्वथा सत्य है? क्या यह केवल मृत्तिका ही है? क्या इस मे इस के बनाने वालों की बुद्धि का सौंदर्य नहीं है? हम सब के शरीर ही पांचभौतिक हैं। पर क्या केवल पंचभूत ही इन मे हैं? आत्मा भी तो है। गणेश जी चाहे कहीं से आये हों, इस समय तो सब देवताओं के आगे उन की पूजा हो रही है। उन की उत्पत्ति के विविध पौराणिक आख्यान ही कहते हैं कि वे मिट्टी से बनाये गये। पर बनानेवाले की शक्ति भी उन मे है, और, इस कारण, पीछे जो उन की महिमा हुई वह उन के नाम ही से सिद्ध है, 'सर्वदेव गणानां ईशः पतिः, गणपतिः, गणेशः।' भिन्न भिन्न पुराणो मे थोड़े थोड़े भेद से कथा कही है, पर मुख्य बातें समान हैं। शिवपुराण की ज्ञान-संहिता में कहा है,

> **कियता चैव कालेन जया च विजया सखी,**
> **पार्वत्या च मिलित्वा च विचारतत्पराऽभवत्;**
> **रुद्रस्य च गणाः सर्वे नंदिभृंगिपुरःसराः,**
> **प्रमथाश्च ह्यसंख्याताः, ह्यस्मदीयो न कश्चन;**
> **द्वारि तिष्ठंति सर्वेऽपि शिवस्याज्ञापरायणाः—**
> **इत्युक्ता पार्वती देवी सखीभ्यां रुचिरं वचः।**
> **मदीयः सेवकः कश्चिद् भवेत् शुभतरः, तदा**
> **ममाऽज्ञायाः परं न अन्यद्रेखामात्रं चलेद्इह;**
> **इति विचार्य सा देवी करयोः मलसंभवम्**
> **पंकमुत्सार्य तेनैव निर्ममे पुत्रकं शुभम्।**

दल-दली

पर्वत की बेटी पार्वती की दो सखी, जया और विजया। नाम ही से इन लड़कियों की लड़ाकी प्रकृति का परिचय होता है। पर्वतनिवासी जातियां प्रायः दूसरों से जित विजित नहीं होतीं, स्वयं दूसरों पर जय विजय पाती रहती हैं। इन दोनो ने पार्वती को सलाह दी कि रुद्र जी के तो नन्दी, भृंगी, आदि असंख्य प्रमथ-गण

नौकर हैं, जो सदा उन की आज्ञापालन के लिए सिर ऊँचा किये हुए तयार रहते हैं; पर आप का कोई एक नौकर भी नहीं जो आप के कहे को रेखामात्र भी न टाले। बस क्या पूछना था; ऐसी सलाह तो झट मन मे बैठ ही जाती है; घर मे पहले छोटे बच्चे लड़ते हैं, तब उन की धाय अपनी अपनायती दिखाने को लड़ती हैं, फिर उन की माय उन का उन का पक्ष लेकर लड़ती हैं, फिर उन के बापों को, आपस के सगे भाइयों को, विवश हो कर लड़ना पड़ता है; और चूल्हे अलग-अलग किये जाते हैं। जो दशा मनुष्यलोक की, सो दशा देवलोक की। जीव की प्रकृति तो रागद्वेषात्मक सभी लोकों मे एक सी है। पार्वती देवी ने पानी मिट्टी से, (किसी पुराण मे लिखा है, अपने पसीने की मैल से), भादों सुदी चौथ को, खूब मोटा ताज़ा 'पुत्रक' (पुत्तलक) बेटा बना कर महल के दरवाज़े पर खड़ा कर दिया, और हुक्म दे दिया कि कोई न आने पावे, विशेष कर के शिव-शंकर तो घुसने ही न पावें। हुकूमत मे बड़ा रस है, और हुकूमत का अर्थ है दूसरों की निष्कारण भी रोक टोंक, डाँट धौंट, करना, और अपनी शान मशीख़त दिखलाना।

'सफ़्राजेटिज़्म' (स्त्रीराज्यं)

लोग समझते हैं कि 'सफ़्राजेटिज़्म', अर्थात् स्त्रियों का शासनादि कार्य मे पुरुषों के तुल्य अधिकार चाहना, यह एक नई बात पच्छिम के देशों ही मे पैदा हुई है। ऐसा नहीं। बड़ा पुराना भाव है; और इस के पोषक उदार-हृदय पुरुष भी हो गये हैं। आर्य-शिरोमणि भीष्म-पितामह इसी कोटि मे हैं। स्त्रियों की, अपनी माताओं, बहिनों, पत्नियों की, सदा निन्दा करना, इस अभागे देश की चाल बहुत काल से हो रही है। मध्यकालीन संन्यासी शंकर से भी न रहा गया, कह मारा, "द्वारं किमेकं नरकस्य नारी।" संन्यासी को ऐसी निन्दा करने से क्या मतलब? स्वयं भी तो माता के गर्भ से ही जनमे थे; और तमाशा यह कि बड़े मातृभक्त थे, यहाँ तक कि संन्यासी होते हुए भी, उस आश्रम के विरुद्ध, इन्हों ने माता का अन्त्य-संस्कार किया! उत्तम ऋषियों के भाव दूसरे थे।

जीर्णे भोजनमात्रेयः, गौतमः प्राणिनां दया;
बृहस्पतिरविश्वासः; भार्गवः स्त्रीषु मार्दवम्।

'जब पहिले किया हुआ भोजन पच जाय तब ही फिर भोजन करो, अन्यथा नहीं, यह आत्रेय ऋषि का उपदेश है; सब प्राणियों पर दया करो, यह गौतम का; अत्यन्त विश्वास किसी पर मत करो, यह बृहस्पति का; स्त्रियों से सदा मृदुता का व्यवहार करो, यह भार्गव का।'

वीरश्रेष्ठ भीष्म ने पुनः पुनः (शान्तिपर्व, अ० २७२, चिरकारी उपाख्यान में) कहा है—

एवं स्त्री नापराश्नोति, नरः एवापराध्यति;
व्युच्चरंश्च महादोषं नर एवापराध्यति।
नापराधोऽस्ति नारीणां, नर एवापराध्यति;
सर्वकार्यापराध्यत्वान्नापराध्यन्ति चाङ्गनाः।

अर्थात्, स्त्री चाहे जो कुछ करे अपराध पुरुषों का ही है, जो कुछ अपराध होता है वह स्त्रियों के विरुद्ध पुरुष ही करते हैं। स्त्री नहीं अपराध करती। पुरुषों को कोई हक़ नहीं कि स्त्रियों को गाली दें। स्त्रियों को गाली देना स्त्रियों के ही ज़िम्मे छोड़ा जाय तो इस गाली देने के काम मे कभी कोताही न होगी। एक दूसरे की बुराई पीठ पीछे खूब कर लेती हैं! पुरुषों को क्या प्रयोजन कि अबलाओं को गाली दे कर अपना गौरव गाम्भीर्य खोवैं और छिछोरापन दिखावैं?

तो इस तुल्याधिकार की अभिलाषा और प्रतिस्पर्धा से गणपति की सृष्टि हुई। आज काल भी प्रत्यक्ष ही देख पड़ता है कि तुल्याधिकार के दावे से ही तो दलबन्दी होती है। और दल हुआ तो उस दल के अर्थात् गण के पति की, नेता-नायक की, आवश्यकता होती है, और नायक बनाये जाते हैं, चाहे मिट्टी के ही क्यों न हों। इसी वास्ते गणपति का दूसरा नाम भी वैसा ही अन्वर्थ और अर्थगर्भ है। वि-नायक, 'लीडर', शब्द का अर्थ ही है, विशिष्टो नायकः।

अच्छा तो अब नायक ही हो कर क्या लाभ, जो दलों में भिड़न्त न हो? बिना इस के दलादली का रस कैसे आवे? तो गणेश जी को हुक्म हुआ कि शिव जी को रोक देना। 'लीडर' लोग, दलपति गणपति लोग, अपने दल की टेक रखने के लिए 'शिव' को भी, भलाई को भी, रोक देते हैं, जब तक अपने

हाथों से, अपनी इच्छा के अनुसार वह भलाई न हो सके। आज काल की पार्लिमेंटों मे, कौंसिलों में, 'आबुस्ट्रक्शन्', विघ्न, प्रतिरोध, की 'पालिसी', नीति, कुछ ऐसी ही सी तो मालूम पड़ती है! आप पूछेंगे कि 'लीडर', 'गण-पति' कैसे, जो पार्वती और जया और विजया के हुक्म मे रहें? तो आप अपने आँख के सामने का हाल देख लो। अंग्रेजी में 'लीडर' शब्द का अर्थ नायक तो प्रसिद्ध ही है, पर उस का एक अर्थ और है। जैसे धौरेय और धुरन्धर शब्द शकट के अगले बैल के लिये कहा जाता है, जो धुर का श्रम मुख्यतया उठावे, वैसे ही 'लीडर' शब्द उस घोड़े के लिए कहा जाता है जो जोड़ी या चौकड़ी मे अगुआ हो कर सब से अधिक परिश्रम से गाड़ी खींचता है। दूसरे घोड़े 'ह्वीलर' कहलाते हैं। तो आज काल के, क्या सदा काल के, 'लीडर', अगुआ घोड़े के अर्थ मे नायक होते हैं, उन के हाँकने वाले उन के 'फ़ालोअर्स', अनुयायी, कोच-वान और गाड़ी पर सवार मुसाफ़िर, हुआ करते हैं। 'फ़ालोअर्स' के हुक्म के मुताबिक 'लीडर' महाशय न चलें तो उन की कम्बख्ती आ जाती है, लीडरी छीन कर दूसरे के सपुर्द की जाती है। इसी लिए हितोपदेश की पुस्तक मे एक मत-लबी स्वार्थी ने कहा है—

न गणस्याग्रतो गच्छेत्; सिद्धे कार्ये समं फलम्;
यदि कार्यविपत्तिः स्यात्, मुखरस्तत्र हन्यते।

'गण के आगे न चले, मुखिया न बने। कार्य सिद्ध भया तो फल सब को बराबर ही मिलता है; यदि बिगड़ा तो मुखिया ही मारा जाता है।' अनुयायी लोग, अपने हठ से, और अगुआ के कहने के विरुद्ध चल कर, काम बिगाड़ते भी हैं, और फिर 'लीडर' को बुरा भी कहते हैं! पर अब ऐसे होशियार 'लीडर' भी बहुत होने लगे हैं जो आफ़त आने पर अनुयायियों को आगे और आप पीछे हो जाते हैं, वाह-वही ख़ुद लेते हैं, गालियाँ दूसरों की ओर चलवा देते हैं।

दलों की मुठभेड़ और सुलह

शिव तो आने वाले थे ही; फाटक पर रोके गये; नया अपमान; बड़ा आश्चर्य हुआ। अपने गणों को आज्ञा दी कि इस को 'समझाओ'; फिर 'हटाओ' की

नौबत आई; फिर 'मारो' की। हुई मारपीट। गणपति तो मोटे ताजे खास इस काम के लिए बनाये ही गये थे।

भवद्भवनदेहलीविकटतुण्डदण्डाहति-

त्रुटन्मुकुटकोटिभिर्मघवदादिभिर्भूयते।

'सूँड़ की झपेट टूटत मुकुट देवराज को।'

शिव के गणों को उन्हों ने मार भगाया। और जिन देवों को, इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि को, अपनी सहायता के लिए वे बुला लाये उन की भी यही दशा हुई। इधर से चंडिका लोग सब प्रकार से अपने गणपति की सहायता करती रहीं। अन्त मे, आगे हो कर विष्णु लड़ने आये; उन से लड़ने मे गणपति जी जो उलझे तो शिव ने मौका पा कर पीछे से जा कर गणपति का सिर त्रिशूल से काट डाला। दूसरे दल के लीडरों को धोखे से भी परास्त करना आज काल भी शुद्ध धर्म समझा जाता है। दूसरा भी अर्थ हो सकता है,

विसिनोति, व्याप्नोति, जगत् सर्वं, इति विष्णुः।

महत्तत्त्व बुद्धितत्त्व का सारभूत, परम सात्त्विक, अव्यक्त हो कर व्यापक, आध्यात्मिक ज्ञान। यदि अहंकार की अधम तामस राजस बुद्धि से प्रेरित, अज्ञानी, अल्पज्ञानी, कोई जीव उस ज्ञान से लड़ेगा, तो उस जीव का शिरश्छेद, शिव अर्थात् रुद्ररूपी उत्तम तमस् द्वारा होना उचित ही है। आगे फल अच्छा होगा।

पर तत्काल इस जीत का फल अच्छा नहीं हुआ। चंडिका देवियाँ परम क्रुद्ध हुईं। बच्चे पर आपत्ति आवै तो गाय भी सिंहिनी हो जाय। प्रलय की तयारी हो गई। जब मियाँ-बीबी मे लड़ाई ठने तो सिवा गृहस्थी के प्रलय के और क्या हो सकता है? सर्वनाश होते देख कर नारदादि ऋषियों ने, जो उस समय के 'एडिटर', पत्र-सम्पादक-स्थानीय, थे, इधर उधर की 'रिपोर्ट' जमा किया करते थे, संसार का हाल घूम घूम कर बड़े शौक से देखा करते थे, और कलह और युद्ध मे विशेष रस मानते थे, क्योंकि इन के बिना तो 'पेपर' की बिक्री ही कम हो जाय—इन ऋषियों ने दोनो पक्षों को, 'मैन वर्सस वुमन' को, समझा-बुझा कर सुलह कराई। प्रलय ही हो जाय तो फिर तमाशा देखने को

कहाँ मिले; 'पेपर' बिलकुल बन्द ही हो जाय। यदि अज्ञान का सर्वदा उच्छेद हो जाय तो ज्ञान का भी प्रयोजन बाकी न रह जाय, सृष्टि समाप्त हो जाय, लीला बन्द हो जाय। चाहिए यह कि अज्ञान थोड़ी मात्रा मे बना रहे, और ज्ञान की हुकूमत उस पर हो, तब लीला मे सुख आवै। इस लिए विनायक के रूप मे परिवर्त्तन होना आवश्यक हुआ। गणेश जी का अपना पहिला निर्बुद्धि लड़ाके लड़के का सिर तो मिला नहीं; नष्ट हो गया; विष्णु कहीं से खोज कर एक दाँत वाले हाथी का सिर लाये; वही चिपका दिया गया; और गणेश जी चंगे हो कर चटपट उठ बैठे। 'लीडर' को, गणपति को, सब से बड़ा मूँड़ चाहिये ही। पार्वती के पुत्र तो थे ही, शिव ने भी उन को अपना बड़ा पुत्र माना, और गणमात्र के पति नियुक्त हो गये। सभी गणो के।

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे।

नारद

जीवस्य नरस्य इदं नारं, संसरणं, भ्रमणं, तद् ददाति इति नारदः, बुद्धेः कलहप्रवर्त्तको राजसो भावः। जीव को संसार मे भ्रमण कराने वाली कलहिनी बुद्धि की जो वासना है वही नारद। पर उस वासना के भी हृदय मे विष्णुभक्ति छिपी है। आपो नाराः अयनं शयनस्थानं यस्य स नारायणः, तत् स्थानं नारं, मोक्षं, अपि भ्रामणानन्तरं ददाति, इति बुद्धेः कलहनिवर्त्तकः सात्त्विको भावः अपि नारदः। परमात्मा के अयन शयन के स्थान को, मोक्ष को, जो संसार मे भ्रमण कराने के अनन्तर, जीव को दे, वह बुद्धि का सात्त्विकज्ञानात्मक भाव भी नारद।

गणपति की प्रतिष्ठापना तथा विवाह

पर सूखे साखे नीरस कुरस महा झंझटवाले गणपतित्व से गणेश जी को सन्तोष नहीं हुआ। 'लीडर' लोगों को, मिहनत के बदले में कुछ रस भी तो मिलना चाहिये। थोड़ा अज्ञान तो रही गया है। फ़र्माइश किया कि मेरा ब्याह भी होना चाहिये। पर 'लीडर' महाशय अकेले कहाँ लीडरी का रस चीखने पाते हैं? शंकर के पहिले पुत्र, छः मुख वाले, जिन के कई नाम हैं, षण्मुख, षाण्मातुर,

कार्त्तिकेय, स्वामिकार्त्तिक, साम्ब, सुब्रह्मण्य, सनत्कुमार, सेनानी, गुह, कुमार, स्कंद, महासेन, तारकारि, आदि, वे भी आ पहुँचे। एक एक नाम का अर्थ है। छः मुख से छः कृत्तिकाओं का दूध पीया था।

वि यः तस्तम्भ षड् इमा रजांसि

अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्। (ऋग्वेद)

सौर सम्प्रदाय में, सौरजगत् में, सौर व्यूह-समूह मे, जो पृथिवी के सदृश छः अन्य ग्रह आकाश मे थमे हुए घूम रहे हैं, उन सब मे से, अनेकानेक जन्म जन्मान्तर मे घूमता हुआ, सब का अनुभव कर के, सब का ज्ञान संचय कर के, सब के दूध से पुष्ट हो कर, जो महापराक्रमी जीव, इस पृथिवी पर, देवसेना का सेनानी हो कर आ टपका है, 'स्कन्न' हुआ है, वह षण्मुख स्कंद, गणपति का भी बड़ा भाई। छांदोग्य उपनिषत्, ७-२६-२, मे कहा है कि सनत्कुमार स्कंद, तप से शुद्ध हुए जीव को "तमसस्पारं दर्शयति"; अन्य उपनिषदों मे कहा है, "अविद्यायाः पारं तारयति", "तारं ब्रह्म व्याचष्टे"; सनत्कुमार-गुह के जन्म की, पृथिवी पर उतरने की, "तारक" दैत्य को मारने की, कथा, महाभारत मे, वन, शल्य, प्रभृति पर्वों मे कही है। 'तारक' मंत्र के उपदेशक, 'तारक' दैत्य के मारक, सनत्कुमार परमर्षि भी, देव-सेनानी भी—यह सब 'पुराण-गुह्य,' आर्ष-रहस्य है। माडम ब्लावाट्स्की के ग्रन्थों में इन का कुछ उद्घाटन किया है। 'लीडरी' मे हिस्सा लगाने को, काम मे अड़चन डालने को, और 'लीडर' को बहँकने से रोकने को भी, ऐसे बड़े भाई लोग आ ही जाते हैं।

अच्छा तो स्कंद जी ने भी और गणपति जी ने भी साथ ही व्याह की फर्माइश की। और मेरा आगे, मेरा आगे, की स्पर्धा हुई। जान छुड़ाने के लिये, और समय टालने के लिए, शिव जी ने कहा कि तुम दो मे से जो पृथ्वी प्रदक्षिणा कर के पहिले लौट आवे उस का व्याह पहिले किया जायगा। आज काल काला-पानी की बड़ी नाव पर पैर रखते ही, हिन्दू को, हिन्दू के भाई जात बाहर कर देते हैं। पहिले समय में सात समुन्दर पार कर के सारी पृथ्वी की परिक्रमा की हिम्मत दिखाये बिना व्याह ही नहीं होता था। बोदे बेहिम्मत को, जो दुनिया का

हाल कुछ जानता नहीं, कौन कन्या दे ? अस्तु । षण्मुख जी फिर भी अपनी पुरानी घुमन्तू प्रकृति के अनुसार झट लाठी उठा कर पृथ्वी परिक्रमा को चल दिये ।

गणेशजी ने क्या किया ? गणेश जी भी उठे, और सात बेर शिव पार्वती की परिक्रमा कर के सामने खड़े हो गये ।

"अब्बा जी, अम्मा जी, ब्याह कर दीजिये ।"

"अरे ! पृथ्वी-परिक्रमा को न कहा था ?"

"आप ने एक बेर को कहा था, मैं तो सात बेर कर चुका, आप ने देखा ही नहीं ?"

"कैसे ?"

"आप की और माता की, पुरुष परमात्मा की और 'उमा' 'मा-या' मूल-प्रकृति की, कई बेर परिक्रमा कर ली, अपनी बुद्धि के भीतर ही इन का तत्त्व पहिचान लिया, तो फिर इन के बाहर कौन पृथ्वी है जिस की परिक्रमा बाकी है ?"

"सचमुच तुम बुद्धिसागर हो, तुम्हारा ही ब्याह पहिले होना चाहिए ।"

चले शंकर पार्वती कन्या की खोज मे । ढूँढ़ते ढूँढ़ते विश्वकर्मा विश्वरूप की दो कन्या, बुद्धि और सिद्धि, मिलीं । उन मे ब्याह किया गया । यही दो तो समस्त विश्व की सारभूत रत्न हैं ।

इत्युक्त्वा तु समाश्वास्य गणेशं बुद्धिसागरम्,
विवाहकरणे तौ च मतिं चक्रतुरुत्तमाम् ।
एतस्मिन्नंतरे तत्र विश्वरूपसुते उभे,
सिद्धिबुद्धी इति ख्याते सर्वाङ्गसुन्दरे शुभे ।
ताभ्यां चैव गणेशस्य विवाहं चक्रतुर्मुदा ।
यथा चैव शिवस्यैव गिरिजायाः मनोरथः,
तथा च विश्वकर्माऽसौ विवाहं कृतवांस्तदा ।
कियता चैव कालेन तस्य पुत्रौ बभूवतुः ;
सिद्धेर्लक्ष्यः तथा बुद्धेर्लाभः परमशोभनः ।

मालूम पड़ता है कि दहेज़ भी कुछ ठहराया गया था, नहीं तो यह ज़रूर ही क़रार विश्वकर्मा से करा लिया गया था कि खिलाना-पिलाना बरात को अच्छी

तरह। क्योंकि पुराण, जो कदापि झूठ नहीं कह सकता, और जिस में दोषक का संदेह भी करना महापाप है, लिखता है कि जैसा जैसा शिव पार्वती का मनोरथ हुआ, वैसा वैसा बिचारे विश्वकर्मा ने विवाह में किया! न करता तो उस की मुसीबत आ जाती। आजकाल हिन्दुओं के विवाहों मे देख ही पड़ता है कि लड़की वाले की क्या क्या फ़ज़ीहत होती है। हिन्दू धर्म, हिन्दू शिष्टता और सभ्यता, की ऐसी ख़ूबी ही है।

अब नये ज़माने, नये युग, के 'स्पिरिट', रूह, भाव, चित्त, के अनुसार, लड़के-लड़की, नहीं, युवा-युवती, बिना बाप जी, माँ जी, पुरोहित जी, ज्योतिषी जी, हजाम नापित घटक जी, भाई बन्धु जी, से पूछे ही, अपनी पसंद से 'स्वयंवर' ब्याह ठहरा लेना शुरू करेंगे, तब यह फ़ज़ीहतें बचेंगी। पर, हाँ, दूसरे चाल की नई फ़ज़ीहतें, आपत्तियाँ, ज़रूर ही पैदा होंगी, द्वन्द्व न्याय से; यह कथा न्यारी!

अच्छा, विवाह हुआ, तो अब विवाह का फल भी होना चाहिये। तो सिद्धि को एक पुत्र हुआ, उस का नाम लक्ष्य; और बुद्धि को भी पुत्र, लाभ।

छपी पोथी मे नाम 'लक्ष' लिखा है, पर इस से विधि मिलती नहीं। "लक्ष–द", "लक्ष–द", लाख रुपया का एक साथ दान करने वाले की महिमा दानप्रशंसक कवि लोगों मे बहुत प्रसिद्ध है, जो चाहते हैं कि किसी गाँठ के पूरे अकल के अधूरे राजा साहूकार की वाहवाही एक दो कवित्तों मे कर दें, और वे अपनी खुशामद से खुश हो कर उन को लाख रुपये की थैली उठा कर दे देवें, चाहे भारी मिहनत करने वाले किसान पेट भर खाने को पावें या न पावें। स्यात् ऐसे ही भावों के कारण पोथी मे 'लक्ष' छप गया है। यह ठीक है कि कार्यसिद्धि होने से लक्ष रुपया मिल जाता है। पर लक्ष क्यों, कोटि क्यों नहीं? लक्ष तो छोटी चीज है। पुराने ऋषियों के भाव ऐसे नहीं थे। 'पात्रे दानं' की प्रशंसा उन्हों ने यदि की है तो 'संतोष' की प्रशंसा और भी अधिक की है। आज काल 'दान' ही की प्रशंसा सुन पड़ती है, 'संतोष' की नहीं। कथा प्रसिद्ध है, पर जितनी प्रसिद्ध होनी चाहिये उतनी नहीं, कि एक राजा ने सोने की मुद्राओं की थैली मंत्री को दी, और कहा कि किसी साधु महात्मा को देना। कुछ दिन पीछे राजा ने मंत्री से पूछा, "किस को दी"। उत्तर मिला, "अपने को"। "क्यों"? तो, "जो

से पूछा, 'किस को दी ?'। उत्तर मिला, 'अपने को,। 'क्यों ?'। 'साधु महात्मा थे वे लेते नहीं, जो लेते थे वे साधु महात्मा नहीं; मै ही एक ऐसा मिला जिस मे दोनो गुण, साधु भी और लेने वाला भी ।'

बहुधा देख पड़ता है कि लंबे चौड़े मोटे ताजे गेरुवाधारी बेफ़िक्रे महाशय, दुबले पतले सूखे साखे तरह तरह की चिन्ताओं और आश्रितों के बोझों से लदे हुए गृहस्थ के सामने आ बैठते हैं, और कहते हैं, 'आप भाग्यवान् हो, आप को आज साधु महात्मा का दर्शन हो रहा है, आप दानी सुन पड़ते हो, कुछ सेवा करो, हमारे साथ पचास मूर्त्तियाँ हैं, आज आप ही के जिम्मे हलवा पूरी की सेवा हो'। और हिन्दू गृहस्थ की बुद्धि आज सैकड़ों वर्ष से ऐसी कुंठित और अन्ध-श्रद्धा से जड़ बनाई जा रही है कि इस से यह उत्तर देते नहीं बनता, कि 'महाशय! आप अपने मुँह से साधु महात्मा बनते लजाते नहीं हो; आप स्वयं भी कुछ दूसरों की सेवा करते हो, या दूसरों ही से सेवा चाहते हो ? आप ने मुझे दानी सुना है तो मै भी आप को संतोषी सुना चाहता हूँ; आप के पुरखा सच्चे साधु महात्मा ऐसे होते थे कि दूसरों का काम साधते थे (साध्नोति परेषाम् शुभान् कामान् इति साधुः), और माँगना तो दूर रहा, कोई कुछ देता था तो भी नहीं लेते थे। यह श्लोक बहुधा सुनाया जाता है,

शतेषु जायते शूरः, सहस्रेषु च पंडितः,
वाग्मी दशसहस्रेषु, दाता भवति वा न वा ।

किन्तु मेरी पोथी मे, एक तीसरी पंक्ति और लिखी है, '**संतोषी लभ्यते नैव, याचकास्तु पदे पदे**'। वर्त्तमान समय मे न उचित संतोष ही, न उचित दान ! 'लह्वद' 'लह्वद' कर के, अपात्र कुपात्र को राजस तामस दान की मिथ्या प्रशंसा का फल यह हुआ है, कि थोड़े से मिथ्यादानी होते हैं, और जनता का बहुत बड़ा भाग भिखमंगा और मोघजीवी हो गया है; और 'बुद्धि सिद्धि' देश से दूर चली गई और पच्छिम के देशों मे जा बसीं; और अघायुषों, मोघजीवियों, मुफ्तखोरों, मिथ्या-वेश-धारियों से भारत भर गया। तुलसीदास जी ने, दूसरे पहलू से, रामायण मे लिखा है, 'तपसी धनवन्त, दरिद्र गृही, कलिकौतुक तात न जात कही'। मांगते मांगते, मूसते झूँसते, 'तपसी' तो धनवंत हो गये हैं, और

उन को देते देते गृहस्थ दरिद्र हो गये हैं। इसी मिथ्या भाव के कितने ही अन्य रूप देख पड़ते हैं। लोग आते हैं, कहते हैं, 'एक कष्ट देने आया हूँ, क्षमा कीजियेगा;' कष्ट का दान लेते लेते भले आदमी का घर भर जाता है, और नया कष्ट रखने की जगह नहीं रहती, पर कष्ट का दान देने वाले लोग चले ही आते हैं; उनका ताँता ओराता ही नहीं ('तति उर्वरित' नहीं होती)। और कहते हैं 'सज्जन का काम यही है कि दूसरों का काम कर दे, दूसरों की इच्छा पूरी कर दे, दूसरों का बोझ उठा ले, हल्का करै, इस लिये, (यदि) आप सज्जन हैं, (तो) मेरा यह काम कर दो, मुझे इतना रुपया दे दो, मेरे पुत्र को पाल पोस पढ़ा लिखा और रोज़गार भी लगा दो, मेरी बेटी का ब्याह करा दो', इत्यादि। यदि उन से कहा जाय कि जो परिभाषा आपने 'सज्जन' की की है, उस के अनुसार, आप ही मेरा यह काम कर दो, तो उत्तर होता है, 'मैं किस योग्य हूँ,' इत्यादि। कितने ही लोग कहते आते हैं कि 'आप की, अमुक अधिकारी से जान पहिचान है, इस लिये मेरी सिफारिश ऐसी ऐसी उस से कर दो।' मानो 'उन' से जान पहिचान इसी लिये है कि अन-जाने आदमियों की सिफ़ारिश करता रहै! हे भाई! स्वार्थी लोग 'सज्जन' की परिभाषा उस प्रकार से करते हैं जैसी आप ने की है, और जिस से प्रायः अनुचित काम कराना चाहते हैं, भिक्षा माँगते हैं, प्रार्थना करते हैं, उसी को शिक्षा देते हैं, आदेश उपदेश देते हैं, डाँटते हैं! भाई! यह तो धृष्टता है, 'भिक्षु-पाद-प्रसारण-न्याय है' 'अंगुली पकड़ते, पहुँचा पकड़ना है।' 'स्वार्थी दोषं न पश्यति', स्वार्थान्धता है, 'गरज़मन्द बावला।' धर्मार्थी सज्जन की परिभाषा दूसरी है; धर्मार्थी सज्जन वह है जो न स्वयं कोई अनुचित काम करता है, और न किसी दूसरे से अनुचित काम कराना चाहता है। कभी कभी यह भी लोग कह देते हैं, 'वाह, साहब, दो क़लम लिख देने मे आप का क्या होता है? आप का इस मे क्या बिगड़ता है? आप से कुछ रुपया नहीं माँगते हैं।' हे भाई! ज़रा समझो यदि दो क़लम कोई चीज़ ही नहीं, तो क्यों लिखवाना चाहते हो? अपना मतलब भी साधना चाहते हो, अपमान भी करते हो उसी का, और उस की क़लम और समझ और नीयत का, जिस से मतलब निकालना चाहते हो!; यह तो बड़ी धृष्टता है; 'उलटि चोर

कोतवालहि दाण्डे'! किसी भी राह-चलतू से ही दो क़लम क्यों नहीं लिखवा लेते? स्वयं ही क्यों नहीं लिख लेते? और आप को तो आज प्रथम बार देखता हूँ, आप के विषय मे कुछ जानता नहीं; क्या झूठी सिफ़ारिश लिख दूँ?! रुपया तो नहीं माँगते हो, पर झूठी सिफ़ारिश के बल आजीव जीविका वा अन्य कोई बड़ा लाभ चाहते हो! ऐसी झूठी सिफ़ारिशों का फल यही होगा, कि आप का काम तो होगा नहीं, मै बेवक़ूफ़ समझा जाऊँगा, और जान पहिचान भी मिटैगी। इत्यादि। तो उचित बीच का रास्ता यह है कि कुछ दो तब कुछ लो।

तैर्दत्तान्अप्रदायएभ्यो यो भुंक्ते स्तेनः एव सः,
एवं प्रवर्तितं चक्रं न अनुवर्त्तयति इह यः,
अघायुरिंद्रियऽऽरामो मोघं, पार्थ!, स जीवति। (गीता)

ऐसे हेतुओं से, रिद्धि का पुत्र तदनुरूप होना चाहिये न? तो उस का अनुरूप पुत्र 'लक्ष्य' ही है। जो ही कुछ जिस किसी का लक्ष्य हो उसी का लाभ उस के लिये सिद्धि है। यदि वराटिका तो वराटिका, ही की सिद्धि। यदि इंद्रत्व, गणपतित्व, ब्रह्मत्व, तो इंद्रत्व, गणपतित्व, ब्रह्मत्व की सिद्धि।

जैसे सिद्धि का उचित प्रसव 'लक्ष्य' हुआ, वैसे ही बुद्धि को भी 'लाभ' नामक पुत्र हुआ, अथवा लाभोपाय कहिये। सच पूछिये तो मुझे ऐसा जान पड़ता है कि यहाँ भी प्रचलित लिखी और छपी पोथियों मे पाठ का व्यतिक्रम हो गया है।

बुद्धेर्लक्ष्यस्तथा सिद्धेर्लाभः परमशोभनः,

ऐसा होता तो अधिक ठीक होता। बुद्धि तो लक्ष्य को और उस के लाभ के उपाय को, मार्ग को, निर्णय करती है, और क्रियाशक्ति, सिद्धिशक्ति, उस लक्ष्य को सिद्ध करती है, साध लेती है, लक्ष्य का लाभ करती है।

गणपतित्व की कठिन शर्तें।

बस, गणपति जी महाराज, सिद्धि और बुद्धि को पत्नी, और लक्ष्य और लाभ को पुत्र, प्राप्त कर के सुख से गृहस्थी करने लगे, और सब के अग्रपूज्य

बने। जिस की ऐसी गिरस्ती हो उस की पूजा कौन न करे? और जो आज कल के शिक्षित महाशय एक-पत्नी-व्रत पर बड़ा आग्रह करते हैं, उन को यदि ऐसी दो भार्याएँ और ऐसे दो पुत्र मिलने का संभव देख पड़े, तो मैं समझता हूँ कि अवश्य ही वे अपना एकपत्नीव्रत का आग्रह छोड़ दें। पर, मित्रो! गणपति होने और ऐसी दो भार्या और ऐसे दो पुत्र मिलने के जो 'समय' हैं, जो शर्तें हैं, उन का पालन करना सरल नहीं है, इस को खूब समझिये—पहिले एक सिद्धान्त पर, एक पक्ष पर, अटल हो कर सब से लड़ाई लड़ना, और उस में अपना सिर तक कटा देना, फिर एक दाँत वाले एक हाथी का सिर पहिनना! अपनी आँख के सामने की 'हिस्टरी' को, 'इति+ह+आस' नहीं, आप तु 'इति+ह+अस्ति' को, देखिये। जो जन 'लीडर' बनना चाहते हैं, बुद्धिपूर्वक, अपने यत्न से; अथवा अबुद्धिपूर्वक, अन्तरात्मा की प्रेरणा से, पूर्वकर्मानुसार, दूसरों के हठ से, जबरदस्ती 'लीडर' बनाये जाते हैं; उन को क्या क्या दुर्दशा भोगनी पड़ती है! पहिले तो वे प्रायः कुछ दिनों तक ऐकपाक्षिक और टेकी ज़िद्दी लड़ाके होते हैं; पर क्रमशः जब उन की युद्धशक्ति देख कर कुछ लोग उन के साथ हो जाते हैं तब उन को अपनी राय छोड़नी पड़ती है, और जो 'सब की राय', अर्थात् भूयिष्ठ की राय, हो, वह माननी पड़ती है! यथा 'सर्वं पदं हस्तिपदे निमग्नं', तथा 'सर्वं मुण्डं हस्तिमुण्डे प्रविष्टं'; सब से बड़ा सिर, बहुतर बहुतम मत का सिर, हाथी का है; उस में भी दाँत एक ही होना चाहिये; द्वन्द्व नहीं, द्वैत नहीं, द्विविधा नहीं। और भी; मनुष्य के सिर मे केवल ज्ञानेंद्रिय और ज्ञानशक्ति है, हाथी के मुण्ड में ज्ञानशक्ति के साथ साथ प्रधान-कर्मेन्द्रिय-हस्त-रूपी नासिका-शुंड भी है। अर्थात् लीडर महाशय को ज्ञानी भी और कर्मण्य भी होना चाहिये। जो ऐसे ज्ञान-कर्म-आत्मक बहुमत को अपने कन्धे पर ओढ़ कर सँभाल सकें; और छोटे से छोटे चूहों को भी और बड़े से बड़े हाथियों को भी एक ही घर में रख सकें; बल्कि हाथी का मूँड ले कर चूहों की पीठ पर इस नज़ाकत और होशियारी से, लालित्य और सौकुमार्य और सावधानी से, बैठें, कि चूहा चिपटा हो जाने के ठिकाने और भी चेतन और जानदार हो कर दूसरे विरुद्ध दल वालों के रास्ते में बिल ही बिल कर दे; वे ही सब दलों, सब छोटों और बड़ों, का सम्मेलन कर के, लीडरी,

नायकी, चौधराहट, चतुर्धरता, पेशवाई, सर्वगणपतित्व को निबाह सकते हैं। यह सब तभी हो सकता है जब उन में कर्मयोग-साधक एक-दंतात्मक अद्वैतभाव हो; दुजागरी नहीं; नहीं तो भेदबुद्धि ज़ोर कर के दलों को छिन्न भिन्न कर देगी। एक को अधिक खुश किया तो दूसरे बिगड़े; दूसरे को ज्यादा अपनाया तो एक भड़के। महा कठिन काम है सब को खुश रखना। अंग्रेजी में कहावत है 'प्लीज़ आल्, प्लीज़ नन्', अर्थात् 'सब के तोषण के जतन, सब को रोषण होय; सबहि समेटन जो चलै, सब ही देवै खोय'; पर 'लीडर' को अपने दल के भीतर, यह करना पड़ता है। यदि ठीक ठीक एकदन्त हो तो स्यात् कथंचित् कुछ कृतार्थता पावै। और इस के साथ साथ 'लीडर' महाशय को 'लक्ष्य' का भी ज्ञान होना चाहिये, क्या लक्ष्य है जिस की सिद्धि चाहिये, तथा उसके लाभ के उपाय की बुद्धि भी होनी चाहिये, और बड़ी एकदंतता, एकान्तता, एकाग्रता, एकलक्ष्यता से उस के साधने में लगना चाहिये। 'इक साधे सब ही सधे, सब साधे सब जाय।' नहीं तो लीडरी बहुत दिन तक नहीं चल सकती। बड़ी कठिन शर्तें हैं! पर कितने ही लोग जिन में ऐसे गुण एक भी नहीं हैं, लीडरी की तृष्णा से पागल हो रहे हैं!

लक्ष्य और लाभोपाय और लाभ।

आज काल तो प्रायः यही देख पड़ता है कि न लक्ष्य का ही स्पष्ट ज्ञान है, न उस के लाभोपाय की सुविचारित सुव्यवस्थित बुद्धि है। बिचारी सिद्धि कहाँ पास आवे! आप को क्या चाहिये, इस को यथाशक्ति सुस्पष्ट निर्णय कर लीजिये। तत्पश्चात् किस एक प्रकार से, अथवा किन किन विविध प्रकारों से, यह लक्ष्य प्राप्त हो सकता है, इस को यथाशक्ति यथाबुद्धि पूरे परिश्रम से विचार कर के, लाभ के उपायों को स्थिर कर लीजिये। तब काम में प्रवृत्त हूजिये।

सहसा विदधीत न क्रियां, अविवेकः परमापदां पदं;
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः।

(भारविः)

गुणवद्‌अगुणवद्वा कुर्वता कार्यजातं, परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन;
अतिरभसकृतानां कर्मणांआविपत्तेर् भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ।
(भर्तृहरिः)

'जल्दबाज़ी से काम नहीं करना। अविवेक से बड़ी बड़ी आपत्तियाँ सिर पर आ पड़ती हैं। अच्छी तरह सोच विचार कर काम करने वाले के गुणों पर लुभा कर संपत्तियाँ आप ही उस के पास आती हैं। कार्य आरंभ करने के पूर्व, पंडित को चाहिये कि अच्छी तरह से उस के गुण और अवगुण को विचार ले, और क्या परिणाम होगा इस का यथाशक्ति निश्चय कर ले। बहुत त्वरा से किये हुये कामों का फल ऐसा हो जाता है कि मरते दम तक हृदय में काँटा चुभा और जला करता है।'

पर इस बात का अर्थ यह मत लगा लीजियेगा कि चुप बैठना अच्छा है।

कर्मणि एव अधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन,
मा कर्मफलबुद्धिर्भूः, मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि। (गीता)

'उचित कर्त्तव्य कार्य करने ही का अधिकार तुम को है, फल पाने का अधिकार नहीं है। कर्म का फल मुझ को मिले—ऐसी बुद्धि मत करो, न ऐसी कि मैं कुछ कर्म न करूँ।'

काम अवश्य कीजिये, और निःस्वार्थ बुद्धि से कीजिये; पर आगा पीछा भी अवश्य सोच लीजिये; और फल को परमात्मा पर छोड़िये; तब गणपतित्व चमकेगा।

शब्द-निर्वचन और बुद्धि।

गणपति के स्वरूप और सामग्री का और भी अर्थ किया जा सकता है। निरुक्त शास्त्र में प्रसिद्ध है कि वेद का अर्थ कई प्रकार से करना चाहिये, यौगिक, याज्ञिक, ऐतिहासिक, आदि। सांख्य के शब्दों में कहने से तीन मुख्य प्रकार ठहरते हैं, आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक। प्रत्यक्ष ही है कि पुरुष अर्थात् आत्मा, प्रकृति अर्थात् भूत, और उन के सम्बन्ध की शक्ति अर्थात्

'देव,' की ही लीला यह सब संसार है। संसार के प्रत्येक पदार्थ मे ये तीनो हैं। इसी से तीनो भाव हर जगह मिलते हैं। वेद के वाक्यों के भी तीन मुख्य अर्थ होना उचित है; और जैसे वेद का निर्वचन (व्याख्या) करना उचित है, उस से भी अधिक आवश्यक है कि पुराणो के वाक्यों का निर्वचन किया जाय। पर काल की गति से वह सब ज्ञान इस देश से प्रायः लुप्त हो गया जिस के बल से ऐसा निःशेषवचन' किया जा सकता है। उस के स्थान पर शब्दाडम्बर, 'वाचो विग्लापनं,' मिथ्या दुराग्रह, परस्पर ईर्ष्या, छिद्रान्वेषण, गुणप्रच्छादन, यही अधिक देख पड़ता है। यदि कोई गणपति के पुराणोक्त रूप को रूपक कह कर उस का निर्वचन करना चाहे, तो स्यात् वह नास्तिक, म्लेच्छ, पतित, अस्पृश्य, समझा जायगा। 'धर्म के विषय मे बुद्धि को मत लगाओ', 'शास्त्र में, अर्थात् जिस पोथी को मै शास्त्र बताऊँ उस में, लिखी सब बातों को आँख बन्द कर के मानो'—यही हुक्म सुन पड़ता है; यद्यपि अग्रपूज्य गणपति का विशेष विशेषण 'बुद्धिसागर' है। हनुमान् भी 'बुद्धिमतां वरिष्ठ' कहे जाते हैं, 'शास्त्रसागर' और 'शास्त्रि-वरिष्ठ' नहीं। दर्शन का सिद्धान्त है कि सृष्टि का पहिला आविर्भाव, प्रकृति का प्रथम परिणाम, महत् तत्त्व = बुद्धि तत्त्व है। प्रकृतेर्महान्, अर्थात् बुद्धिः। सर्वमान्य भीष्म का आदेश है,

तस्मात्, कौन्तेय !, विदुषा, धर्माधर्मविनिश्चये,
बुद्धिमास्थाय लोकेऽस्मिन् वर्तितव्यं कृतात्मना।
(शान्तिपर्व, अ० १४१)

उत्सर्गेण, अपवादेन, ऋषिभिः कपिलादिभिः,
अध्यात्मचिन्तामाश्रित्य, शास्त्राणियुक्तानि, भारत !
(अ० २६०)

जाजले ! तीर्थमात्मैव, मा स्म देशातिथिर्भव।
कारणैर्धर्ममन्विच्छन् स लोकानाप्नुते शुभान्।
(अ० २६९)

अर्थात् धर्माधर्म का निर्णय, कृतात्मा आत्मज्ञानी मनुष्य, बुद्धि से ही कर सकता है, और ऐसी ही आध्यात्मिक बुद्धि के बल से कपिलादि महर्षियों ने स

शास्त्र बनाये। उत्सर्गरूपी साधारण नियम भी बनाये, और विशेष विशेष अवस्थाओं के विचार से उन नियमो के अपवाद भी कहे। सब से बड़ा सच्चा तीर्थ आत्मा ही है। दूसरे तीर्थों मे, देश देश मे, अतिथि बने, क्यों भटको ? अपने भीतर ही धर्माधर्म को हेतुपूर्वक विचारो। जो मनुष्य हेतुयुक्त धर्म पहिचानता और करता है वही शुभ लोकों को पाता है।

जिस धर्म मे धर्माधिकारी लोग बुद्धि का, जिज्ञासा का, शंका-समाधान का, कार्य-कारणान्वेषण का, विचार का, ही तिरस्कार करेंगे, वह धर्म अवश्य डूबेगा; 'बुद्धिर्यस्य बलं तस्य, निर्बुद्धेस्तु कुतो बलं'; 'बुद्धौ शरणमन्विच्छ, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति' (गीता)। यही कारण है कि जब से 'सनातन' धर्म मे यह 'अधुनातन' अ-बुद्धि दुर्बुद्धि, घुसी है, और उस का 'बौद्ध' स्वरुप इस देश से बिल्कुल निकाल दिया गया, तब से, अर्थात् कोई बारह सौ वर्ष से, यह धर्म परायों की जूतियाँ खाता ही चला आता है और सिकुड़ता ही जाता है।

अविद्यायामंतरे वर्तमानाः, स्वयंधीराः पण्डितम्मन्यमानाः,

जंघन्यमानाः परियन्ति मूढाः, अन्धेनैव नीयमानाः यथान्धाः।

(कठोपनिषत्)

अविद्या मे बूड़े, भेद-बुद्धि में सने; अपने को बड़ा धीर बड़ा पण्डित मानते हुए; निष्कारण 'छूओ मत' से ही धन्यम्मन्य पवित्रम्मन्य; समानरूप पाँचभौतिक त्रिगुणात्मक शरीरों मे, बिना प्रत्यक्ष अशुचिता आदि अस्पृश्यता का कारण हुए भी, छिपा हुआ आत्यन्तिक 'जन्मना वर्णभेद' मानते हुए; प्रत्यक्ष ही जन्मना पशुओं को, कुत्ता, बिल्ली, बंदर, मैना आदि को, गोद मे खेलाते, गाय, बैल, भैंस, घोड़ा, बकरी आदि को पालते; कितने ही पशुओं का मांस उदरस्थ करते हुए भी; अपने समान आकृति रखने वाले, नीरोग, स्वच्छ, मनुष्यों को, अदृश्यमान अप्रत्यक्ष 'जन्मना' अस्पृश्यता का भाजन समझते हुए; वज्रसूच्यादि वेदोपनिषदों की विस्पष्ट शिक्षा का, अहंकारवशात्, अवहेलन करते हुए; ऐसे लोग ही यदि इस महा सार्थ के नेता गणपति बने रहेंगे, तो अवश्य यह सार्थ अन्ध-नीत-अंध की दशा को प्राप्त हो कर गहरे गड्ढे मे गिरेगा।

इस लिये, प्रिय विद्यार्थीजन! आप लोग, जिन ही पर देश के भविष्य उत्कर्ष की, उन्नति की, आशा आश्रित है, जो ही हमारे भविष्णु, शुभंयु, प्रीति-पात्र हो, जो ही पूर्व पुरुषों और उत्तर पुरुषों का उद्धार कर सकते हो, सच्चे गणपति का अनुकरण करना, मिथ्या गणपतियों का नहीं। अथ च, संसार का तथा अध्यात्म का अनुभव प्राप्त कर के, स्वयं सच्चे गणपति बनने का यत्न करना। तभी पतित देश का उद्धार करोगे। पूर्व पुरुषों का उद्धार यों करोगे कि यदि तुम अपने सत्कार्यों से सत् कीर्त्ति कमाओगे, तो तुम्हारे पूर्व पुरुषों को भी लोग याद करेंगे; और उत्तर पुरुषों का, अपनी संतति का, तो प्रत्यक्ष ही भला करोगे।

आध्यात्मिक अर्थ।

गणपति के रूपक का जो अर्थ आप लोगों से अब तक मैंने कहा वह अधि भूत और अधिदेव मिश्रित है। एक और सीधा सादा अर्थ यह है कि, प्रत्यक्ष ही, घर के भीतर सब से अधिक आदर और फ़िक्र, सब से छोटे बच्चे की, की जाती है; तथा जितना ही मोटा ताजा बच्चा हो उतना ही सब को प्यारा और अच्छा लगता है; और हाथी के बच्चे से बढ़ कर कोई बच्चा अधिक गोल मोल नहीं होता।

अब दूसरा अर्थ सुनिए। मेरे एक मित्र (श्री चम्पतराय जी जैन, अवध प्रान्त के हरदोई नगर के बारिस्टर) ने (अपनी 'गऊ-वाणी' नाम की छोटी पर बड़ी उत्तम पुस्तक मे) बड़े यत्न से इस रूपक का शुद्ध आध्यात्मिक अर्थ भी निकालने का यत्न किया है। वह भी कुछ घटा बढ़ा कर, और शब्दो को बदल कर, आप को सुना देता हूँ।

वस्तुओं को काट डालने वाले चूहों का अर्थ विवेचक, विशेषक, विभाजक, विच्छेदक, भेदकारक, विस्तारक, व्यासकारक, विश्लेषक ('एनालिटिकल्') बुद्धि है; जो बुद्धि संकरमय संसार के अवयवों को पृथक् पृथक् कर के पहिचानती है, विशेषों को पकड़ती है; 'अणुरपि विशेषोऽध्यवसाय-करः', तथा 'युगपज् ज्ञानानु-त्पत्तिर्मनसो लिंगम्' (न्याय-सूत्र); वस्तुओं के सूक्ष्म सूक्ष्म विशेषों को ही पहिचानने से उन के विषय मे निश्चयात्मक ज्ञान होता है। और मन का यह विशेष लक्षण है कि वह दो ज्ञानो को एक साथ उत्पन्न नहीं होने देता।

अपना नैसर्गिक सिर कटना अहंकार का नाश है ।

हाथी के सिर का, नर शरीर से जुटना—यह संयोजक, समाहारक, समासकारक, समूहक, अनुगमक, अभेद-साधक, समन्वय-कारक, विरोध-परिहारक, संश्लेषक, आश्लेषक, ज्ञान है, ('सिंथेटिकल्') बुद्धि है । सब से बड़ा हाथी का सिर 'महद्-बुद्धि' का सूचक है, जिसी का दूसरा नाम 'महान्‌आत्मा' है ।

सर्वेषामेव भावानां सामान्यं वृद्धिकारणम् ;
ह्रासहेतुर्विशेषश्च, प्रवृत्तिरुभयस्य तु ;
सामान्यमेकत्वकरं; विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्;
तुल्यार्थता तु सामान्यं; विशेषस्तु विपर्ययः । (चरक)

'यदि सामान्य अंश पर ध्यान दें, तो एका और विस्तार बढ़ता है;दि य विशेष अंश पर ध्यान दें, तो भेदभाव, पृथक्त्व, और संकोच बढ़ता है; संसार मे दोनो ही सदा काम कर रहे हैं ।' यथा, यदि कहें, 'हम भारतवासी', तो भारत-बासिता रूपी सामान्य गुण पर ध्यान देने से अड़तीस कोटि मनुष्य एक में आ जाते हैं; यदि कहें कि हम ब्राह्मण, वा क्षत्रिय, वा वैश्य, तो कुछ लाख ही रह जायँगे; उस पर भी, कनौजिया, उस पर भी पंक्तिपावन, तो दस ही बीस बच जायँगे; वा रघुवंशी, वा राठोर, वा बिसेन, वा डोगरा, वा कायस्थ, वा माहेश्वरी, वा अग्रवाल, वा ओसवाल आदि, तो भी कुछ सहस्र वा कुछ सौ ही ।

बुद्धिरात्मा मनुष्यस्य, बुद्धिरेवात्मनो गतिः ।
यदा विकुरुते भावं तदा भवति सा मनः ।
(म० भा० शांति० अ० २५४)

'त्रिकालदर्शिनी बुद्धिः' । 'स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्वः' ।

अर्थात् बुद्धि ही आत्मा है; आत्मा की गति, आत्मा का स्फुरण, आत्मा की ज्योति का ही नाम बुद्धि है; बुद्धि ही जब विशेष भाव को पकड़ती है तब मन हो जाती है; बुद्धि ही तीनो काल देखती है; सब बुद्धियों का साक्षी, सब अनुभवों का अनुभव करने वाला, आत्मा है; ऐसे वाक्यों से इस बुद्धि के स्वरूप और कार्य की सूचना होती है । जैसे मन का लक्षण यह कहा है कि वह एक क्षण मे

एक ही (ऐन्द्रिय) ज्ञान को पकड़ता है, वैसे ही बुद्धि का लक्षण यों किया जाय कि वह, एक साथ, बहुत से, भूत, भवद्, भविष्य (स्मृति-संकल्परूप) के ज्ञानो का, समाहार करती है, तो अनुचित न होगा। जीव को दोनो प्रकार के ज्ञान की आवश्यकता है; चूहों की भी, हाथी की भी; विशेष ज्ञान की भी, सामान्य ज्ञान की भी; अनेकज्ञान की भी, एकज्ञान की भी।

> संमतं विदुषां हिएतद् समासव्यासधारणम्।
> यदा भूतपृथग्भावं एकस्थंअनुपश्यति,
> तत एव च विस्तारं, ब्रह्म संपद्यते तदा। (गीता)

'विद्वानो को यह प्रिय है कि ज्ञान के समास-व्यास दोनो को संक्षिप्त रूप को भी विस्तृत रूप को भी, सूत्र को भी भाष्य को भी, बुद्धि मे रखें। जब संसार के अनंत नानात्व को एक आत्मा मे बैठा हुआ, और उसी एक से सब नाना वस्तुओं को निकला हुआ, जीव पहिचान लेता है, तभी उस का ब्रह्म अर्थात् वेद अर्थात् ज्ञान संपन्न होता है, और वह स्वयं ब्रह्मतत्त्व हो जाता है।'

भेद देखना, व्यक्तियाँ देखना, यह साधारण जीव का काम है। वैदृश्य मे सादृश्य देखना, व्याप्तिग्रह के द्वारा अनुगम करना, 'सिमिलारिटी इन् डैवर्सिटी' पहिचानना, यह न्यायशास्त्री, 'सायंटिस्ट' का काम है। अनेक मे एक देखना; भेद मे अभेद के, व्यक्तियों मे समाज के, व्यक्तियों में समष्टि के, वैदृश्य मे सादृश्य के, कारण को, परमात्मा का ऐक्य जानना; 'यूनिटी इन् मल्टिप्लिसिटी' समझना; यह वेद की अंतिम बात, ज्ञान की पराकाष्ठा, वेदान्त है।

> प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च, कार्याकार्ये, भयाभये,
> बंधं मोक्षं च, या वेत्ति बुद्धिः, सा, पार्थ !, सात्त्विकी।
> सर्वभूतेषु येनएकं भावंअव्ययंईक्षते,
> अविभक्तं विभक्तेषु, तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकं। (गीता)

'प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य, भय और अभय, बंध और मोक्ष के सच्चे स्वरूप को जो बुद्धि पहिचानती है, वही बुद्धि सात्त्विक है। जिस ज्ञान से सब वस्तुओं मे एक अस्तित्व को, सब विभक्त पदार्थों मे उन सब को एक मे

बांधने वाली परमात्मा की अविभक्तता को, पहिचानता है, वही ज्ञान सात्त्विक है।

इसी बुद्धि के बल से गणेश को बुद्धिसागर का विशेषण प्राप्त हुआ है; विद्यार्थियों के विशेष रूप से इष्टदेव बने हैं; सब विद्याओं, सब शास्त्रों, के शिक्षक, प्रवर्त्तक, निर्माता हैं। बिना इस बुद्धि के शास्त्र बेकार हैं।

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा, शास्त्रं तस्य करोति किम् ?
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ?

'जिस को अपनी निजी बुद्धि नहीं उस को दूसरे की बुद्धि से उत्पन्न शास्त्र क्या सहायता कर सकता है ? जिस को आँख नहीं वह दर्पण ले कर क्या करेगा ?'

एकदंतता इसी अद्वैत बुद्धि का सूचक है। चूहों का अर्थ यह भी हो सकता है कि इस बुद्धि के प्राप्त करने में हजारों छोटे मोटे विघ्न होते हैं। महत्व इस को न मिले, जीव मेरे ही काबू मे रहे, इस लिये अविद्या देवी हजारों विघ्न किया करती हैं। जो वाहन और साधक हैं, वे ही बाधक बना दिये जाते हैं। यथा, 'शौचात्स्वांगजुगुप्सा, परैरसंसर्गः', शुचिता की जब वृद्धि होती है तब पहिले अपने शरीर से जुगुप्सा, और पीछे दूसरों से असंसर्ग होना चाहिये; पर देखा क्या जाता है ? सच्ची शुचिता तो है नहीं, केवल दंभात्मक द्वेषात्मक पवित्रंमन्यता अधिकतर फैली है; अपने शरीर से तो जुगुप्सा के स्थान मे परम राग, 'हमारा शरीर दूसरों के शरीरों से बहुत पवित्र है', जन्मतः ही; उत्तम रूप रङ्ग से, वा स्नान सदाचार मेध्या आहार आदि से, इस हेतुविचार की कोई आवश्यकता ही नहीं; तपस्या से उस को कृश करने के स्थान में सुस्निग्ध पालन पोषण; दूसरों से असंसर्ग का अर्थ, व्यवहारवर्जन नहीं, किन्तु केवल मिथ्या 'छूओ मत', 'छूओ मत'। इस सब का क्या फल है ? जो ही शौच, सात्त्विक होने से ब्रह्मज्ञान का साधक होता, वही राजस तामस हो कर, अहंकार, द्रोह, और दंभ से प्रेरित हो कर, उस अभेददर्शन मे नितान्त बाधक हो जाता है।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततां च सहस्राणां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः। (गीता)

'हजारों में एक, सिद्धि पाने का यत्न करता है; और हजारों यत्न करने वालों

में कोई, मुझे, 'मैं' को, आत्मा को, परमात्मा को, ठीक ठीक पहिचानता है।" (प्रसिद्ध पाठ 'यततामपि सिद्धानां' है; पर इस प्रसंग मे तो 'सिद्धि' का 'लक्ष्य' आत्मज्ञान ही जान पड़ता है; और यदि ऐसा, तो 'सिद्धानां' कहने से अभिप्राय ठीक नहीं बनता)।

ऐसे आत्मज्ञान मे, अभेद-बुद्धि मे, जो मानव परिनिष्ठित है, वही, विघ्न करने वाले चूहों की, विघ्नकारी शंकाओं की, सेना को दबाकर अपने काबू में ला सकता है, उन पर सवार हो सकता है, गण-पतित्व कर सकता है।

यह अभेदबुद्धि 'बहूनां जन्मनामन्ते' जीव को प्राप्त होती है। इस लिये एतत्स्वरूप गणेश, सब से छोटे, सब से पीछे जन्मे, बालक रूप हैं। पर छोटे होने पर भी वृद्धों से वृद्ध हैं, 'पूर्वेषामपि गुरुः, कालेनानवच्छेदात्'; पुरानों से भी पुराने हैं, कालातीत हैं, प्रधानप्रकृति के पहिले आविष्कार हैं। इस लिये सब के आगे इन की पूजा होती है; पूजा तो होती है, पर 'बुद्धि-पूर्वक' नहीं होती; 'गणेश' की पूजा से पूर्व, पहिले, 'बुद्धि' की पूजा होनी चाहिये। यह सजन भी हैं और विद्वजन भी हैं, 'गण' के 'पति, नेता, बनाने योग्य हैं—इस ज्ञान के लिये, 'गण' को 'बुद्धि' की आराधना पहिले करनी चाहिये; यदि 'बुद्धि' ही की पूजा नहीं, तो कार्य की 'सिद्धि' कहाँ ? आज काल के बुद्धि-द्रोहियों को इस पर विचार करना चाहिये। पर यदि विचार कर सकते तो बुद्धिद्रोही क्यों होते ? यदि बुद्धि-द्रोही हैं तो विचार कैसे करेंगे ? अभेद्य चक्र है ! कोई अभिमन्यु, अभिमानी, किंतु परमात्माभिमानी, ही, इसे भेद सकता है। स्यात् उन की मृत्यु भी इसी भेदन मे हो। पर रिपु अवश्य परास्त होंगे।

अच्छा, इस हाथी को 'मोदक' बहुत प्रिय हैं। क्यों न हों ? ब्रह्मबुद्धि वाला जीव, 'नित्यानन्दः परमसुखदः केवलो ज्ञानमूर्त्तिः,' तो मोदस्वरूप ही, सदा ब्रह्मानन्द में, 'भूमा वै सुखं' मे, मग्न ही है। उस को 'मोदक' के सिवा और क्या अच्छा लगे ? और मोदकों का बल न मिलै, तो दुष्टों से लड़ै, कैसे ?

एकदन्त है, अद्वैतवादी है, लम्बोदर है। अनन्त ब्रह्मांड रूप प्रत्यक्ष गोल लड्डुक जिस के उदर में हैं, 'जगंति यस्यां सविकासंआसत', प्रत्यक्ष चमड़े की आँख से देख पड़ने वाला आकाश-ब्रह्म, जिस में ये सब ब्रह्म के अंड, ब्रह्मांड,

सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, बुध, शुक्र, बृहस्पति, शनि, तारागण, फिर रहे हैं, ऐसा महा-प्राणी, महाविराट्, लम्बोदर न हो तो और क्या हो ?

यह हुआ गणपति का आध्यात्मिक रूप। ब्रह्मवैवर्त पुराण, गणेश खण्ड, में लिखा ही है—

ज्ञानार्थवाचको गश्च, णश्च निर्वाणवाचकः,
तयोरीशं परं ब्रह्म गणेशं प्रणमाम्यहम् ।

'ग' का अर्थ ज्ञान, 'ण' का अर्थ निर्वाण, दोनो का ईश गणेश अर्थात् ब्रह्म, उस को नमस्कार है ।

तथा लिंगपुराण मे भी यही बात दूसरे शब्दों से कही है । शिव ही गणेश रूप हो गये ।

ततस्तदा निशम्य वै पिनाकधृक् सुरेश्वरः,
गणेश्वरं सुरेश्वरं वपुर्दधार सः शिवः । (अ० १०५)

घूम फिर के सभी देवता परमात्मा ही के नाम और रूप हैं । और असली गणपति भी और महादेव भी वही हैं ।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ;
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति, अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः । (ऋग्वेद)

एतमेके वदंत्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्,
इन्द्रमेके, परे प्राणं, अपरे ब्रह्म शाश्वतम् । (मनु)

जो गणपति के इस असली आध्यात्मिक स्वरूप को हृदय मे सदा धारण करेंगे, वे ही सच्चे गणपति स्वयं बन सकेंगे ।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषः, यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।

जिसकी जैसी श्रद्धा, अभिलाषा, हार्दिक कामना, वही उस का तात्त्विक मार्मिक रूप ।

गणपतित्व की मुसीबतें ।

गणपतित्व की मुसीबतें आप लोग आँख के सामने देख रहे हो । यह नई बात नहीं है, बहुत पुरानी है । पाँच हजार वर्ष पहिले, कृष्ण, इसी विषय का

अपना रोना नारद रो रोये। उन की जीवनी के ऐसे अंशों पर आज काल भक्त-जन कम ध्यान देते हैं। देना चाहिए। बड़ी व्यवहार-शिक्षा मिलती है। अपने मामा क्रूर कंस को मार कर, कृष्ण ने, नाना उग्रसेन को राजगद्दी पर बिठा कर, मथुरा में काम चलाना चाहा, और शराब-कबाब-प्रधान मद्य-मांस-भूयिष्ठ इन्द्रमख को बन्द कर के कृषिप्रधान गोमख की प्रतिष्ठा करने का यत्न किया।

> यांइमां पुष्पितां वाचं प्रवदंत्यविपश्चितः,
> वेदवादरताः, पार्थ !, नान्यदस्तीति वादिनः,
> क्रियाविशेषबहुलां,...तयापहृतचेतसाम्,
> व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते। (गीता)

> फलश्रुतिं कुसुमितां न वेदज्ञाः वदन्ति हि;
> अग्निमुग्धाः, धूमतांताः, स्वं लोकं न विदन्ति ते;
> हिंसाविहाराः, ह्यालब्धैः पशुभिः, स्वसुखेच्छया,
> यजन्ते देवताः यज्ञैः पितृभूतपतीन् खलाः;
> उपासते इन्द्रमुख्यान् देवादीन्; न तथैव माम्। (भागवत)

'यह जो, वेद वेद कर के, ना-समझ लोग, छोटी छोटी व्यर्थ क्रियाओं से भरी कर्मकाण्ड की बात सदा किया करते हैं, मानो दूसरी कोई बात है ही नहीं, उस के भुलावे में आ कर, भोग और ऐश्वर्य मिलेगा इस लालच में पड़ कर, मनुष्य अपना सच्चा कल्याण नहीं पहिचानते, और ब्रह्मज्ञान के लिये दृढ़ निश्चय कर के समाधि में बुद्धि को नहीं लगाते। इस फूलपत्ता सी फैलाई, लुभावनी, फलश्रुति के फेर में पड़ कर, अग्नि जलाते और धूआं खाते हैं, जिह्वा के सुख के लिये यज्ञ के बहाने हिंसा करते हैं, राजस तामस देवताओं की पूजा करते हैं, और मुझ को, 'मैं' को, परमात्मा को, भूल जाते हैं।'

ऐसे वाक्यों से, कृष्ण के समाज-सुधार सम्बन्धी भाव जान पड़ते हैं। शांतिपर्व, अ० २७१, में भी, 'हिंसायज्ञों' को धूर्तप्रवर्त्तित कहा है। बुद्ध, शंकर, आदि ने भी, अति-क्रिया-बहुल बुद्धिनाशक कर्मकांड की निन्दा की। पर समाज के सुधारकों की जो दशा सदा होती है, वही कृष्ण की हुई 'एक सौ आठ वर्ष'

(कहीं 'साग्रं वर्षशतं', सवा सौ वर्ष, भी लिखा है), पृथ्वी पर रहे। स्यात् ही कोई दिन बीता हो जिस में लाठी सोंटा डंडा अस्त्र-शस्त्र उन से और दूसरों से नहीं चला। मार खाना और मारना ही मुख्य काम रहा। मथुरा में उन को उन के पड़ोसियों ने, उद्धत, महा 'मिलिटरिस्ट' सेनावादी, युद्धवादी, शस्त्रवादी, बलवादी क्षत्रियों ने, अपने मनमाना सौम्य प्रबन्ध, प्रजा का, नहीं करने दिया। सत्रह बेर कंस के श्वशुर जरासन्ध ने मथुरा पर धावा किया। अन्त में पाँच सौ कोस दूर, मरुधन्व के पार, समुद्र के किनारे, कृष्ण ने द्वारका बसाया। समुद्र ही से तो 'लक्ष्मी' देवी का प्रादुर्भाव होता है। जैसा अंग्रेजों को हुआ। जमीन से तो 'अन्नपूर्णा' 'वस्त्रपूर्णा' ही मिलती हैं। अस्तु। द्वारका में अन्धक-वृष्णि-संघ के रूप में कृष्ण ने एक चाल के संघराज्य, गणराज्य, 'रिपब्लिक' अथवा 'आलिगार्की' की स्थापना करने की परीक्षा, 'एक्सपेरिमेंट', किया। बड़ी कठिनता पड़ी। नारद से इसी का रोना रोये। 'अपने दिल का हाल किस से कहूँ; तुम मेरे पुराने सच्चे मित्र हो, इस से तुम से कहना चाहता हूँ।' 'कहिये महाराज, अवश्य।' 'सुनो।'

दास्यमैश्वर्यवादेन ज्ञातीनां तु करोम्यहम्;
अर्धं भोक्तास्मि भोगानां, वाग्दुरुक्तानि च क्षमे।
अरणीमग्निकामो वा, मथ्नाति हृदयं मम;
वाचा दुरुक्तं, देवर्षे!, तन्मां दहति नित्यदा।
बलं संकर्षणे नित्यं, सौकुमार्यं सदा गदे,
रूपेण मत्तः प्रद्युम्नः, सोऽसहायोऽस्मि नारद।
स्यातां यस्याहुकाक्रूरौ, किं नु दुःखतरं ततः?
यस्य चापि न तौ स्यातां, किंनु दुःखतरं ततः?
सोऽहं, कितव-मातेव, द्वयोरपि, महामुने!
एकस्य जयमाशंसे, द्वितीयस्य पराजयम्।

(म० भा० शान्ति० अ० ८१)

'नाम तो मेरा ईश्वर पुकारा जाता है, पर काम मेरा गुलामी करने का है। मजा दूसरे लेते हैं, पिसौनी मैं पीसता हूँ। सुख-भोग बहुत थोड़ा और गाली-भोग

बहुत अधिक मिलता है। जिन का भला चाहता हूँ, जिन के लिये दिन-रात पसीना बहाता हूँ, चिन्ता मे चूर रहता हूँ, वे ही सब से अधिक मुझे बुरा कहते हैं। आग बालने के लिये जैसे आदमी अरणी के ऊपर, खूब मन लगा के, वेग से, अग्नि-काष्ठ को मथता है, वैसे रस से ये सब मेरे रिश्तेदार मेरे हृदय को गालियों से और निंदा से नित्य मथा करते हैं; (ग्रामीण स्त्रियों की मूर्तिमती वाणी मे 'छाती पर कोदो दरते हैं'); इस के कारण दिन रात मेरा हृदय जला करता है। बलदेव, मेरे बड़े भाई साहब, अपनी भुजा ही देखा करते हैं, और बल के मद मे मस्त रहते हैं। छोटे भाई साहब, गद, अपनी सुकुमारता के मारे मरे जाते हैं। ज्येष्ठ पुत्र चिरञ्जीव प्रद्युम्न जी महाराज को अपना सुन्दर मुखड़ा ऐना मे निहारने ही से छुट्टी नहीं मिलती। दुनिया भर के झंझट का काम जो सिर पर लदा है, उस के ढोने मे कोई मेरी सहायता नहीं करता। उग्रसेन-आहुक और अक्रूर, दोनो, मेरे तो बड़े भक्त बनते हैं, और हैं भी, पर आपस मे इतना लड़ते हैं कि मेरे नाकों दम रहता है। जिस के पास ऐसे दो भक्त न हों उस की जिंदगी व्यर्थ है। और जिस के पास ऐसे दो भक्त हों उस का जीवन और भी व्यर्थ है। मेरी तो हालत उस अम्मा की ऐसी हो रही है जिस के दो जुआरी पुत्र हों, और आपस मे ही जूआ खेलें, और उस का दिन यही मनाते बीते कि एक तो जीते और दूसरा तो हारे नहीं। सो, मेरे पुराने मित्र !, तुम को कोई उपाय सूझे तो सलाह दो।'

नारद बोले, 'सुनिए महाराज !, आपत् दो प्रकार की होती है, एक तो दूसरों की की हुई, एक अपने आप बुलाई। सो आप की आपत् अपनी बुलाई हुई है। आप को क्या जरूरत पड़ी थी कि कंस को मार कर उन के सठियाये बूढ़े पिता आहुक-उग्रसेन को गद्दी पर बिठाने गये, और फिर उन को अकर्मण्य 'बभ्रु' देख कर उन के ऊपर अक्रूर को 'भोज' बनाया। (अक्रूरभोज-प्रभवाः... बभ्रूग्रसेनतः··· । बभ्रु और भोज शब्दों के अर्थ का निश्चित पता नहीं चलता, पर ऐसा जान पड़ता है कि जब राज-गद्दी का अधिकारी कार्य-क्षम न हो तो उस को बभ्रु कहते थे, और कार्य करने को जो नियुक्त किया जाता था उसको भोज, 'रीजेंट')। आप को गोटियाचाली का, चट्टे बट्टे लड़ाने का, हृद्-देश में

स्थित हो कर कठ-पुतली ऐसा आदमियों को नचाने का, शौक है, तो फिर आप को भी उन के साथ नाचना पड़ता है। अब जो किया उस को निभाहिये। बिना लोहे के शस्त्र से इन ज्ञातियों की जीभ काटिये।'

'सो कौन-सा शस्त्र है?'

'गाली के बदले मीठी बोली, चोरी के बदले और इनाम, अपमान के बदले सम्मान।

नान्यत्र बुद्धिक्षान्तिभ्यां, नान्यत्रइंद्रियनिग्रहात्,
नान्यत्र धनसंत्यागाद्, गुणः प्राज्ञेऽवतिष्ठते। (म० भा०)

'दुनिया की गति को, आदमियों की चाल चलन को, देखना बूझना, और बूझ कर के सहना, क्षमा करना, अपनी इंद्रियों को वश मे रखना, धन को नित्य नित्य त्यागते रहना, इस के सिवा प्रज्ञावान् और विशेष कर वृद्ध पुरुष के लिये दूसरा कोई काम बाकी नहीं रहता।'

'बहुत अच्छा, सलाह कडुई तो है, पर ठीक है। तत्काल तो आप ने जो मेरा आश्वासन किया वह मानो कटे पर नोन और जले पर अंगारा रखा। पर भाई, बात सच्ची कही।'

'महाराज!, आप को मै क्या सलाह दे सकता हूँ। आप स्वयं गुरुओं के गुरु, जगद्गुरु हो, आप ने मेरे हृदय मे पैठ कर मेरे मुँह से जगद् की शिक्षा के लिये जो कहलवाया वह मैंने कह दिया।'

गणराज्य।

यह हुई कृष्ण की कथा; ब्रह्मवैवर्त मे कहा है कि गणेश, श्री कृष्णविष्णु के ही अंश हैं। सत्त्व के देवता विष्णु; सत्त्व का अर्थ है, प्रकाशक ज्ञान, बुद्धि; गणेश बुद्धिसागर; इस लिये विष्णु का अंश होना ठीक ही है। ऐसे ही कृष्ण के बेटे प्रद्युम्न, स्वामिकार्तिक गुह के, तथा कामदेव के, तथा सनत्कुमार के, अंश कहे गये हैं। यह सब पौराणिक रूपक, सांख्य के तीनो गुणो के परस्पर सहचार तथा अभिचार, अनुरोध भी और विरोध भी, "अन्योऽन्य-अभिभव-ऽाश्रय," के रूपक हैं।

'प्रकृते किमुन्नायाताम् ।' प्रकृत में यह बात पुनः पुनः इन सब कथाओं से निकलती है कि गणपतित्व कैसा कठिन है। भीष्म ने गणराज्य के विषय में कहा है—

भेदमूलो विनाशो हि गणानामुपलक्षये;
मंत्रसवरणं दुःखं बहूनां, इति मे मतिः।
गणानां च कुलानां च राज्ञां (? राज्ये), भरतसत्तम!,
वैरसंदीपनावेतौ लोभ-अमर्षौ, नराधिप!।
भेदे गणाः विनश्येयुः; भिन्नास्तु सुजयाः परैः;
तस्मात् संघातयोगेन प्रयतेरन् गणाः सदा।
कुलेषु कलहाः जाताः, कुलवृद्धैः उपेक्षिताः,
गोत्रस्य नाशं कुर्वंति, गणभेदस्य कारणम्।
अकस्मात् क्रोधमोहाभ्यां, लोभाद्वापि स्वभावजात्,
अन्योऽन्यं नाभिभाषंते; तत्पराभवलक्षणम्।
जात्या च सदृशाः सर्वे, कुलेन सदृशास्तथा,
न चोद्योगेन, बुद्ध्या वा, रूपद्रव्येण वा पुनः।
भेदाच्चैव, प्रदानाच्च, नाभ्यंते रिपुभिर्गणाः;
तस्मात् संघातमेवाहुः गणानां शरणं महत्। (शांतिपर्व)

'गणों का नाश एकमात्र परस्पर भेद से होता है; और रहस्य का, शासन-संबंधी मंत्रों का, गुप्त रखना भी बहुत आदमियों की सभा के लिये दुष्कर है। गण में जो मुख्य कुल होते हैं, और उन कुलों के जो मुख्य होते और राजा के नाम से कहलाते हैं, (कुलपति भी नरपति, राजा, आदि शब्दों से व्यवहार किये जाते हैं; अथवा, 'राज्ञां' के स्थान में, मूल में, शब्द 'राज्ये' था, अर्थात् गणों और कुलों के राज्य में, 'डिमोक्राटिक ऑलिगार्किक पार्टी गवर्नमेंट,' में,), उन में आपस में अकस्मात् वैर बढ़ जाने के मुख्य कारण लोभ और अ-मर्ष, अ-सहन, होते हैं। इन कुलमुख्यों के वैर से कुलों में वैर, और कुलों में वैर से गण में व्यापी भेद, पैदा होता है; तब पराये उन को सहज में जीत लेते हैं। इस लिये संघात, संहता, मेल, बनाये रहने का सदा यत्न करते रहना

गणों का परम धर्म है। मनुष्यों का स्वभाव ही है कि काम, क्रोध, भय, मद, मत्सर, लोभ, अकस्मात् उन के हृदय में पैदा हो जाते हैं, (अकस्मात् अर्थात् अविद्या-रूप तमस् के, मोह के, कारण), और उन के कारण एक दूसरे से बोलना बन्द कर देते हैं। दूसरों के हाथ से पराभव पाने का यह साक्षात् लक्षण है। इस लिये कुलवृद्धों का धर्म है कि जब ऐसे कलह कोई देख पड़ें तो तत्काल उन के रोकने और मिटाने का यत्न करें, नहीं तो सारे गोत्र और गण का नाश हो जायगा। इस क्रोध लोभ ईर्ष्या आदि की उत्पत्ति का मुख्य कारण यह है कि गण मे, जाति तो सब की सदृश, कुल में भी सब सदृश, कोई किसी को ऊँचा नीचा नहीं कह सकता, पर उद्योग मे, बुद्धि मे, रूप में, द्रव्य मे तो कोई दो आदमी ठीक बराबर, समान, नहीं। तो भी, जिन के पास ये गुण कम हैं, वे भी उन की बराबरी करना चाहते हैं जिन के पास ये गुण अधिक मात्रा मे हैं, और ये, अधिक गुण वाले, उस संघर्ष का अ-मर्ष करते हैं, उस को सहते नहीं। एक ओर लोभ और ईर्ष्या, एक ओर अ-मर्ष, सब ओर मोह। कैसे काम चले?'

सर्वे यत्र प्रणेतारः, सर्वे पंडितमानिनः,
सर्वे प्राधर्म्यं (नेतृत्व) इच्छंति, तद् वृंदं हिआशु नश्यति।

'जिस समाज मे सभी नेता बनना चाहें, सभी अपने को सर्वोत्तम पंडित समझें, सभी चाहें कि सब से बड़ा अगुआ मै ही होऊँ—ऐसा समाज बहुत जल्दी ही डूबता है।'

संघे शक्तिः।

'संघे शक्तिः कलौ युगे'; कलह-प्रधान देश और काल मे, कलियुग में, जो ही दल, चाहे छोटा ही हो, आपस का मेल बनाये रहेगा, संघात-शक्ति, संघ-शक्ति, संहनन-शक्ति बनाये रहेगा, सं-हत संघ बना रहेगा, वही अन्य सब पर विजय पावेगा।

अंग्रेजी मे कहावत प्रसिद्ध है कि 'ए हन्ड्रेड डिसिप्लिन्ड आरगेनाइज्ड सोल्जर्स कैन ड्राइव एबाउट ए माब आफ़ टेन थाउज़ण्ड मेन, ऐज़ दे प्लीज़',[1]

---

1. "A hundred disciplined soldiers can drive about a mob of ten thousand men as they please."

'सौ सिपाहियों का सन्नद्ध संग्रथित व्यूह, दस हज़ार आदमियों के असंग्रथित अ-व्यूढ़ झुंड को मन-माने हांक सकता है'। भीष्म पितामह के उपर्युक्त एक श्लोक का पूरा पूरा 'अनुवाद', हाल की छपी एक वृद्ध अंग्रेज़ की किताब में, जो प्रायः संस्कृत का एक अक्षर भी नहीं जानते थे, मिलता है। कारण यह कि अनुभव समान होने से विचार भी समान होते हैं। 'आलिगार्कीज़ आर ऐप्ट टु बी डिवाइडेड इन टु फ़ैकशन्स बाई दि राइवलरीज़ ऐण्ड जेलसीज आफ़ लीडिंग फ़ेमिलीज़'[1] [ब्राइस-कृत 'माडर्न डेमोक्रेसीज', भाग, २, पृ० ५९१]; अर्थात् संघराज्यों में मुख्य मुख्य कुलों की आपस की ईर्ष्या और कलह से परस्पर विरोधी दल पैदा हो जाते हैं। प्राक्कालीन संघराज्यात्मक ग्रीक और रोमन 'रिपब्लिक्स', तथा मध्यकालीन इटालियन 'रिपब्लिक्स', के इतिहास, ऐसी दलादली के उदाहरणों से भरे हैं।

संघात, संहनन, संग्रन्थन का उपाय।

नैसर्गिक कठिनता कैसे सरल की जाय? बिना संघ के शक्ति नहीं। बिना काव्य-व्यूह-वत्, शरीर-संघात-वत्, 'आर्गैनिज़ेशन', सं-हनन, व्यूहन के, बिना अंगांगिभाव के, बिना मुख्य और गौण अवयव, सिर और हाथ पैर, बड़े छोटे, नेता नीत, गणपति और गण के परस्पर संग्रन्थन के, संघ नहीं। पर, गण में, संघ में, सभी बराबरी का दावा करने वाले; कौन किस का कहना माने? इस महा विरोध का परिहार कैसे हो? बहुत ही कठिन है। इसी लिये इतिहास से जान पड़ता है कि 'रिपब्लिक' ज्यादा चलती नहीं। रोज़ उथल पुथल इन में हुआ करता है। जो रिपब्लिक, गणराज्य, कुछ चले, वे नाम को गणराज्य थे; वस्तुतः गणपति-राज्य थे। कृष्ण के ऐसे गणपति रहते हुए भी, अंधक-वृष्णि-संघ ने अपना संहार कर ही डाला।

गणराज्य चलाने का एकमात्र उपाय वही है, जिस की सूचना आप के

1. "Oligarchies are apt to be divided into factions, by the rivalries and jealousies of leading families"; Bryce, *Modern Democracies*, II, 591.

सामने, इस व्याख्यान के आरंभ मे, शिव के विष-पान से की गई: तथा नारद ने कृष्ण से स्पष्ट शब्दों मे कहा। पुरुष-सूक्त मे भी वही सूचना दूसरे प्रकार से की है।

समुद्र-मन्थन ।

पुराण का समुद्र-मन्थन का रूपक बड़ा उदात्त, उदग्र, श्रोजस्वी, सारगर्भ, बह्वर्थ, ज्ञानपूर्ण है। समुद्र नाम आकाश का भी निरुक्त मे कहा है। देव और दैत्यरूपी दो विरुद्ध शक्तियाँ, जो एक ही मूलशक्ति, माया, अविद्या-विद्या, के दो अंश हैं, यथा 'इलेक्ट्रिसिटी' के 'नेगेटिव्' और 'पाज़िटिव्' अंश, इस आकाश समुद्र मे परस्पर संघर्ष की क्रीड़ा करती हैं। 'इंद्रियस्येंद्रियस्यार्थे रागद्वेपौ व्यवस्थितौ'। प्रत्येक इंद्रिय के प्रत्येक विषय के साथ, राग भी और द्वेप भी, दोनो ही सदा लगे हैं; किसी इन्द्रिय को सुख देने वाले पदार्थ से जब राग होगा, तब उस सुख मे विघ्न करने वालों से द्वेप भी अवश्य होगा। यह बात चर्मचक्षु को भी प्रत्यक्ष है। संसार का नाम द्वंद्व है। सृष्टि जब होती है तब अनुरुद्ध-विरुद्ध जोड़ों की ही होती है। सब चीज़ जोड़ा जोड़ा हैं। कुरान मे भी लिखा है, "खलक़्ना मिन् कुल्लेशयीन् ज़ौजैन", मै ने (आत्मा ने) सब चीज़ें जोड़ा जोड़ा पैदा की हैं'। दुर्गा सप्तशती मे यही बात मधु-कैटभ के रूपक से कही है। ब्रह्मा सृष्टि का विचार कर ही रहे थे कि मधु-कैटभ नाम के दो असुर उन को मारने पर उद्यत हुए।

> **विष्णुकर्णमलोद्भूतौ ब्रह्माणं हंतुमुद्यतौ।**
> **मधुस्तु कामः सम्प्रोक्तः, कैटभः क्रोध उच्यते।**
> **अहंकारस्ततो जातो ब्रह्मा शुभचतुर्मुखः।**
> **स तामसो मधुर्जातः, कैटभो राजसस्तु सः।**
>
> (म० भा० शांति० अ० ३५७)

ब्रह्मा नाम अहंकार का सात्त्विक अंश; कहीं बुद्धितत्त्व भी कहा है; विसिनोति, व्याप्नोति, इति विष्णुः; व्यापक महत्तत्व। उस के कर्ण के मल से, अर्थात् दूषित राजस-तामस शब्दरूप, से (आकाश का गुण शब्द, जो कर्णग्राह्य है) मधु-काम और कैटभ-क्रोध पैदा हुए और ब्रह्मा को मारने दौड़े, अर्थात वेद के

शुद्ध सात्विक छंद को दूषित करने पर उद्यत हुए। शब्द मे बड़ी शक्तियां हैं; मधुर शब्द से बड़ा आनन्द उठता है, स्वास्थ्य बढ़ता है, संघात की पुष्टि सब प्रकार से होती है; क्रूर गर्जन आदि से कान के पर्दे फट जा सकते हैं, सचमुच भी कभी कभी फट जाते हैं, मृत्यु हो जाती है, तज्जनित प्रचंड वायु वेग से मकान गिर जाते हैं।

'ब्रह्मा वेदमयो निधिः', ज्ञान; उस के मारने वाले काम और क्रोध; दोनो मरें तो कैसे? 'आवां जहि न यत्र उर्वी सलिलेन परिप्लुता।' अपनी खुशी से ही मरेंगे; 'चरिताधिकारे चेतसि', जैसा योग-भाष्य मे लिखा है; जब उन का अधिकार, उन का संवेग, कम हो जाता है, तब उस 'भूमि' पर, चित्त की उस अवस्था में, ये दोनो मरते हैं, जहाँ पृथ्वी और जल का संयोग न हो। 'अग्नीषोमीयं जगत्', 'भू-स्थानी देवः अग्निः, अंतरिक्ष-स्थानी सोमः (पर्जन्यः, वायुः) द्यु-स्थानी सूर्यः;' जहाँ इन दोनो का, पृथ्वी-जल का, संयोग न हो (और ये दोनो भी काम और सूर्याग्नि क्रोध ही के दूसरे रूप हैं, जल काम का, अग्नि क्रोध का), अर्थात् जब दोनो की मध्यावस्था मे, चित्त शांत और मध्यस्थ, तटस्थ, होता है।

यथा शीतोष्णयोर्मध्ये नैवउष्णं, न च शीतता;
न पुण्यं न च वा पापं, न दुःखं न सुखं तथा,
न बंधो न च वा मोक्षः, इत्येषा परमार्थता।

'शीत और उष्ण के बीच मे एक ऐसी अवस्था होती है जिस को न शीत ही कह सकते हैं न उष्ण। परमार्थता का स्वरूप ही यह है कि उस मे द्वंद्व नहीं, न काम न क्रोध न सुख न दुःख, न पुण्य न पाप, न बंध न मोक्ष।'

इस अवस्था मे भी कौन मारे? तो सात्विक-ज्ञानात्मक परमार्थ-बुद्धि-स्वरूप विष्णु। और वह भी कहाँ पर? 'ततस्तु जघने कृत्वा संच्छिन्ने शिरसी तयोः।' जघन शरीर का मध्य भाग है; इस से मध्यस्थता की पुनर्बार सूचना होता है; इस भाग मे स्थित उदर-शिश्न पर वश होने से आहारैषणा और दारैषणा पर निग्रह होने से, काम क्रोध का निग्रह हो सकता है। श्रोत्र पहिली इन्द्रिय है; वहाँ इन का जन्म हुआ। कटि, प्राण का एक मुख्य स्थान है; मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर आदि चक्र यहाँ हैं; इसी कटि मे, इन दोनो की शांति भी होनी चाहिये।

साथ ही यह द्वंद्व आविर्भूत होता है, साथ ही तिरोभूत होता है। इस द्वंद्व, जोड़ा-जोड़ा, दो-दो मे, विरोध भी है और अनुरोध भी है।

देव और दैत्य जब एक ही मूल शक्ति, वासुकि (जगद् वासयति, व्याप्नोति, इति) नाग को, जो मन्दर पर्वत (मेरुदंड, पृष्ठवंश, ऊर्ध्वमूल अश्वत्थ, इडा-पिंगलादि नाड़ियों के स्थान) के चारो ओर कुण्डलित है, दो ओर से खींचते हैं, तब इस जड़ शरीर मे चक्रवत् परिवर्त्त आरम्भ होता है, और आकाश-समुद्र मे से विविध प्रकार के रत्नभूत पदार्थ निकलते हैं। पर इस उत्कट रगड़ का पहिला फल हालाहल क्रोधविष पैदा होता है। उस को पीने वाला और पचाने-वाला यदि कोई न हो तो सब खेल बिगड़ जाय। जो कुल के वृद्धतम हों उन्हीं का यह धर्म और कर्त्तव्य है कि वे इस ज़हर को पी कर बैठें, और सदा पचाते रहें। सब बोझ ढोने का, मिहनत करने का, दौड़ धूप का, खींचा तानी का, काम, जवान लोग, देव-दैत्य करेंगे। यह तो हुआ क्लेश का बटवारा। शुल्क का भी बटवारा देखिये। महा-देव को अन्य कुछ मिहनत नहीं करनी पड़ी, इस लिये उन को भक्ति, परम भक्ति, परम आदर, पूजा, स्तुति ही, विष पीने के बदले मे दाम मिलता है। देव दैत्य, वारुणी और अमृत आदि रत्न को आपस में बाँट लेते हैं; और उस बटवारे के हेर फेर के लिये, कौन अधिकार किस को मिले, इस के लिये, सदा लड़ते रहते हैं। पर महा-देव का सब ही, देव पक्ष भी और दैत्य पक्ष भी, दोनो दल ("पार्टी"), पूजन, स्तुति, भक्ति, खुशामद, चाप लूसी, चाटुकारी, कर के अपना मतलब निकालने के लिये, पूजन करते रहते हैं।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।

'जो आगे कड़ुआ विष समान जान पड़ता है, वह पीछे मीठा अमृत ऐसा फलदायी और गुणकारी होता है।'

इस रूपक से गणपति और गण का कर्त्तव्य जान पड़ता है, जिस के पालन से उपर्युक्त घोर विरोध का, जो गण के निसर्ग मे अन्तर्गत है, परिहार हो सकता है। कृष्ण-नारद-सम्वाद का भी यही अर्थ है। पुरुष-सूक्त-सूचित पुरुष-बलि और वर्ण-धर्म-कर्म-वृत्ति-जीविका-शुल्कादि के विभाग का भी यही अर्थ है। जब तक गणपति मे ऐसा स्वार्थत्याग और ऐसी लोकहितबुद्धि होगी, 'वात्सल्ये मनुवत् नृणां', प्रजा-

पति मनु के ऐसा प्रजा के लिये वात्सल्य होगा, और गण में ऐसे वृद्ध का आदर होगा, तब तक गण की संघशक्ति क्षीण न होगी। जब नहीं, तब गण नष्ट होगा।

जब शिव भी हालाहल को गले में धारण करते करते घबरा जाते हैं, तब

हरः संक्षुभ्यैनं भजति भसितोद्धूलनविधिं।

'ब्रह्मांड को जला कर, पीस कर, भस्म कर, धूल उड़ा डालते हैं, और प्रलय होता है।' नित्य नित्य झगड़ा निपटाते निपटाते, दोनों ओर की मनौनी करते करते, जब वृद्ध लोग स्वयं थक कर क्रुद्ध हो जाते हैं, तब मनुष्य-समाज में महाभारत होता है।

क्या उपाय किया जाय, कि राजस भावों की रोक, और सात्त्विक उदार भावों का उद्भावन और परिपोषण, समाज में और समाज के नेता में सदा होता रहे; यहाँ तक कि नेता तो सम्मान से भागता रहे, और जनता उस के पीछे सम्मान का उपहार लिये हुए दौड़ती रहे?

इस का एकमात्र उपाय यही है कि 'एकदंतता' सर्वप्राणेन साधी जाय। इस में जितना परिश्रम किया जाय वह थोड़ा है। बिना इस के कोई सत्कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। गणपति के सारे कुनबे के आचरण की सिखवन यही अद्वैतता, अभेदबुद्धि, और तज्जनित स्वार्थत्याग है। गणपति के पिता महा-देव, सब से बड़े देव, अल्लाह-अकबर [अकबर = सबसे बड़ा, अल्लाह = देव] का स्वरूप ही यह है।

महोक्षः, खट्वाँगं, परशुर्, अजिनं, भस्म, फणिनः,
कपालं च, इतीयत्तव, वरद!, तंत्रोपकरणं;
सुरास्तां तां ऋद्धिं दधति तु भवद्-भ्रू-प्रणिहितां;
नहि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति।

अर्थात्,

बैल, अरु डमरू, अरु फरसा, अरु गज की चर्म,
भस्म, सर्प, माला हू कपाल के कलाप की—
देवन के देव!, वरदाता वर-वस्तुन के!,
आपनी सुख संपति सब पूसी ही आपकी,

तुमरी भौंह के इसारे पुनि देव पावत ऋद्धि सिद्धि,
आप आत्माराम को न काम माया-मात्र की।

उक्षति, वर्षति, मेहति, बीजान्, जीवान्, प्राणान्, धर्मान्, इति महोक्षः, वृषः, धर्मः, चार पैर वाला, चार वर्ण-आश्रम-पुरुषार्थ-वेद-महावाक्य-दिशा-आदि-रूपी परमात्मा का वाहन ; कुंडलिनी शक्ति की, इडा–पिंगला–सुषुम्ना नाड़ियों में, गति के आकार का अनुकरण करने वाला डमरू; परमे ब्रह्मणि शाययति, आत्मनः अन्यत् इतरत् परं जडं जगत् शृणाति नाशयति, इति परशुः, अविद्या का, जड़ जगत् का, बंध का, खंडन करने वाला, ब्रह्म में शयन कराने वाला, मोक्ष देने वाला, ज्ञान, आत्मबोध; गजचर्मवत् काला और अति विस्तारशाली अनन्त नील आकाश; श्वेत भस्म के ऐसे ज्योती-रेणु-रूप नक्षत्र तारों के असंख्य ब्रह्मांड; सर्पवत् चक्राकार भ्रमण करने वाली संसार के प्रत्येक अणु में व्याप्त शक्तियाँ; उत्कृष्ट महर्षि और देव और जगन्-नियंता, संसार के चलाने वाले, प्रत्येक नक्षत्र तारा ब्रह्मांड के अधिकारी जीव, कपालरूप, शिरोरूप, मुख्यांगरूप की माला—यही परमात्मा की प्रत्यक्ष सामग्री है।

गणपति की माता सर्वशक्तिरूपिणी जगद्धात्री ने भी ऐसे ही जगद्भर्त्ता को बड़ी तपस्या से भर्त्ता पाया।

वृषो वृद्धो यानं, विषमशनं, आशा निवसनं,
स्मशानेषुआक्रीडा, भुजगनिवहो भूषणविधिः—
समग्रा सामग्री जगति विदितैव स्मररिपोर्;
यदेतस्यैश्वर्यं, तव, जननि !, सौभाग्यमहिमा।
शिवः शक्त्या युक्तो यदि, भवति शक्तः प्रभवितुं;
न चेदेवं, देवो न खलु कुशलः स्पंदितुमपि,
अतस्त्वांआराध्यां, हरिहरविरिंच्यादिभिरपि,
प्रणंतुं स्तोतुं वा, कथंमकृतपुण्यः प्रभवति। (आनन्दलहरी)

बूढ़े बैल की सवारी, विष भोजन, दिशा वस्त्र है,
सेज समसान, भुजग भूषन ठाँव लाग है;

जग में नहिं जानत कौन अद्भुत चरित्र इन के;
ईशता तौ इन की सब देवी को सुहाग है।
युक्त होत शक्ति (='इ') से जब तब ही 'शिव' होत प्रभु;
नाहीं तौ 'शव' समान डोल हू ना सकतु हैं;
हरि-हर-विरिंच जा की वंदना करत हैं नित्य,
वा की स्तुति पुण्यहीन बोल हू ना सकतु है।

तंत्र शास्त्र में, अ=विष्णु, इ=शक्ति, उ=ब्रह्मा, म=रुद्र, इत्यादि प्रत्येक वर्ण का विशेष सांकेतिक अर्थ है।

इन्हीं महादेव की महादेवी की, गणपति की माता की, हृदय से उपासना करने से ही, गणपतित्व की भी और गण के कल्याण की भी सिद्धि होगी; सच्चे गण-पति की, गण-पतित्व-योग्यता की, जननी, ये ही आत्म-विद्या रूपिणी महादेवी हैं। इन महादेवी के रूप अनन्त हैं।

या देवी सर्वभूतेषु बुद्धि-श्रद्धा-क्षुधा-तृषा-
तुष्टि-पुष्टि-क्षमा-लज्जा-स्मृति-धृति-कृति-स्पृहा-
काम-क्रोध-मोह-निद्रा-गर्धा-ईर्ष्या-भीति-मानिता-
शांति-कांति-द्युति-अविद्या-विद्या-रूपैश्च संस्थिता;
सा देवी सर्वभूतेषु चेतनेत्यभिधीयते,
चिद्रूपेण च सा कृत्स्नमेतद् व्याप्य स्थिता जगत्। (दुर्गासप्तशती)

सभी जीवों में, प्राणियों में, भूतों में, वस्तुओं में, चिद्रूप से, चेतना के नाम से, बुद्धि, श्रद्धा, क्षुधा, तृषा, तुष्टि, क्षमा, लज्जा, स्मृति, धृति, कृति, स्पृहा, काम, क्रोध, मोह, निद्रा, गर्धा, ईर्ष्या, भय, अभिमान, भ्रांति, कांति, शांति, द्युति, अविद्या, विद्या के असंख्य रूपों से, वही देवी वर्त्तमान है। 'चेतना' कहा तो सब कह दिया।

पर आप लोग विद्यार्थी हैं। आप के लिये 'विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः' यह रूप विशेष अभीष्ट है। किंतु इन सब अनन्त विद्याओं में भी एक मुख्य विद्या है। उस के उपासन आवाहन धारण से ही आप लोग आत्मोद्धार और देशोद्धार तथा मानव मात्र का उपकार करने के समर्थ गण-पति हो सकते हो।

या मुक्तिहेतुर् अविचिंत्यमहाव्रता त्वम्
अभ्यस्यसे, सुनियतेन्द्रियतत्त्वसारैः
मोक्षार्थिभिर्मुनिभिरस्तसमस्तदोषैर्,
विद्याऽसि सा भगवती परमा हि, देवि ! ।

'देवी भगवती वह परमा विद्या है जिस से मुक्ति प्राप्त होती है; जिस विद्या का, बड़े बड़े व्रत कर के, इंद्रियों का निग्रह कर के, मुनि लोग सदा अभ्यास करते हैं । इस परमा विद्या, अध्यात्मविद्या, के प्रचार से ही पतितोद्धार हो सकता है । इसी से मोक्ष मिल सकता है। एक जीव का ही मोक्ष नहीं, और किसी एक प्रकार ही के बंध से नहीं, किन्तु सब का सब प्रकार के बंधों से ।

बिना आत्मस्वरूप के ज्ञान के, दृढ़ सज्ज्ञान नहीं; बिना दृढ़ सज्ज्ञान के, अभेदबुद्धि नहीं; बिना अभेदबुद्धि के, दृढ़ सदाचार नहीं; बिना दृढ़ सदाचार के, परस्पर मेल और 'अभयं, सत्त्वसंशुद्धिः, ज्ञानयोगव्यवस्थितिः' नहीं; बिना इन के, आत्मवशता, स्वाधीनता, स्वतन्त्रता नहीं; बिना आत्म-वशता परमात्म-वशता, (जीवात्मा-वशता नहीं) स्व-तंत्रता, स्व-राज्य नहीं, उत्तम स्वतंत्रता नहीं, (अधम स्व-तंत्रता ही होगी), ऐसी अविच्छेद्य कार्य-कारण की शृंखला है ।

सर्वं परवशं दुःख, सर्वमात्मवशं सुखं;
एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः । (मनु)

भारतवर्ष में, वर्तमान काल में, केवल एक ही गण का गणपति होने से कार्य-सिद्धि नहीं हो सकती; सभी गणों का सर्व-मान्य एक पति होना चाहिये; हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, यहूदी, जैन, बौद्ध, सिख आदि सब का। यह कैसे हो? जब वह एक-दंत हो; सब मतभेदों का ऐकमत्य कर सके। यह शक्ति उसी भगवती परमा विद्या की उपासना से प्राप्त हो सकती है। जो बुद्धि, जो विद्या, सारग्राहिणी है; मूल बातों को, गम्भीर तत्त्वों को, पकड़ती है; ऊपरी कृत्रिम विशेषों में ही नहीं अटक रहती है; वह निश्चय से जानती है कि 'सर्वेषु वेदेष्वहमेव वेद्यः'; 'अहम्', मैं, आत्मा, 'आइ' (अंग्रेज़ी) 'अना' (अरबी), 'खुद' (='खुदा', फारसी), यही एक अजर अमर वस्तु सब मतों के सब वेदों में, सब धर्मग्रन्थों में, कही है। उसी पर चारों ओर ज़ोर देने से लोकविग्रह घटेगा, लोकसंग्रह बढ़ेगा, ऐकमत्य सधैगा, विरोध-

परिहार बनैगा; क्योंकि उसी के सर्व-मान्य आध्यात्मिक सिद्धान्तों के अनुसार ऐसी समाज-व्यवस्था बन सकेगी जो सर्व-संग्राहक, सर्व-कल्याण-कारक, सर्व-शिक्षक-रक्षक-पोषक-धारक हो।

देखिये; हम आप इस एक सभाभवन मे इस समय बैठे हैं। देखने को तो एक ही स्थान है, पर इस एक स्थान मे इस एक क्षण मे सैकड़ों लोक, सैकड़ों दुनिया, समन्वित हैं। 'रूप की दुनिया' अलग ही है, पर यहाँ मौजूद है। 'शब्द का लोक' भिन्न है, पर यहाँ है। 'गन्ध का संसार', 'स्पर्श का जगत्', 'रस का भुवन' 'दि वर्ल्ड आफ़ ट्रेड', 'दि वर्ल्ड आफ़ लिटरेचर', 'दि वर्ल्ड आफ़ हिस्टरी', 'सायंस का आलम' 'कविता का विश्व', एक सायंस के अन्दर विशेष विशेष सैकड़ों विज्ञानो के जगत्, कलाओं के लोक, आलमि-इश्क, आलमि-जंग, आलमि-नासूत, आलमि-मिसाल, आलमि-मलकूत, भूः, भुवः, स्वः आदि लोक, सूर्यलोक, 'दि वर्ल्ड आफ लैट', वरुण लोक, 'आफ़ वाटर', इत्यादि 'प्लेन' (अंग्रेज़ी), 'लौह' (अरबी), 'अर्द-अर्श' (अरबी), तल, भुवन—यह सभी इसी जगह उपस्थित हैं। जिसी का हम ध्यान करते हैं उसी में पहुँच जाते हैं। क्या बात हुई ? द्रष्टा मे, 'मै' मे, आत्मा की बुद्धि मे, ही इन सब का समन्वय होता है; सभी उसी मे सदा वर्त्तमान हैं; आत्मा ही सब का अनुभव आस्वादन, समाहार समन्वय, करता है। और, इस हेतु से कि सनातन-धर्म परमात्म-धर्म है ; क्यों कि सिवाय परमात्मा के और कोई वस्तु सनातन सदातन नित्य नहीं; और परमात्मा को किसी से विरोध नहीं; बल्कि वह सब मे है और सब उस में हैं; इसीलिये इस धर्म मे सब धर्मों का, देश-काल-निमित्त-अधिकार-भेदेन, समन्वय हो सकना है, और है; इस को किसी से विरोध नहीं। इस धर्म के सच्चे तात्त्विक सात्त्विक स्वरूप के विरुद्ध, आज काल, जो इस का बर्त्ताव, परस्पर-विरोध-मय, भेद-मय, 'मत-छू'-मय, 'छुई-मुई'-रूप, हो गया है, उस का मूल कारण यही है कि सात्त्विक ज्ञान, आत्मज्ञान, आत्मबुद्धि, आत्मविद्या का ह्रास, और तज्जनित सद्धर्म का रागद्वेष रजस्तमस् के मुख मे ग्रास, हो गया है।

न ह्यनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते। (मनु)

आत्मज्ञान की दृष्टि के बिना जो कोई कुछ काम करता है वह अच्छे फल को

नहीं पाता; क्यों कि उस को सत् लक्ष्य का ज्ञान नहीं, सत् पुरुषार्थ का ज्ञान नहीं और, इस हेतु से, वह अपनी शक्तियों का सत् प्रयोग नहीं करता।

तो आप लोग जो विद्यार्थी हो, इस परम विद्या आत्मविद्या का बहुत आदर से संग्रह कीजिये; तभी अन्य सब विद्या आप की सफल होगी। सच्चे गणपति आत्मा की पूजा नहीं की, तो कलह के चूहे सब रास्ता काट डालेंगे। आत्मा में सब देवता वर्त्तमान हैं।

विनयऽधायकोऽन्येषां, विशिष्टो नायकः स्वयम्,
नायकेन विना जातः, तस्माज् ज्ञातो विनायकः।
आत्मैव देवताः सर्वाः, सर्वम् आत्मनि अवस्थितं;
सर्वम् आत्मनि संपश्येत्, सच्चासच्च समाहितः;
सर्वम् आत्मनि संपश्यन् न अधर्मे कुरुते मनः।
सर्वेषाम् अपि चैतेषाम् आत्मज्ञानं परं स्मृतं,
तद् हि अग्र्यं सर्वविद्यानां, प्राप्यते हि अमृतं ततः।
उद्धरेद् आत्मनाऽत्मानं, न आत्मानम् अवसादयेत्;
आत्मैव हि आत्मनो बंधुर् आत्मैव रिपुर् आत्मनः॥

आत्मा ही सब का विशिष्ट नायक है, विनयन करने वाला है, उस का कोई नायक नहीं है, बिना किसी नायक के, किसी माता पिता के, उत्पन्न हुआ है, स्वयंभू है, वि-नायक है। आत्मा ही सब देवता है। सब कुछ आत्मा में है। जो सब को आत्मा में, और आत्मा को सब में, देखता है वह अधर्म में मन नहीं देता। सब से बढ़ कर आत्मज्ञान है, सब विद्याओं में श्रेष्ठ है। इसी से अमृत मिलता है, अमरत्व प्राप्त होता है, अर्थात्, भूले हुए किंतु सदा सत्, सदा सिद्ध, अपने अमरत्व को पहिचान (प्रत्यभिज्ञान) लेता है। आत्मा से आत्मा का उद्धार करना चाहिये; आत्मा को कभी अवसन्न नहीं होने देना चाहिये। आत्मा ही आत्मा का रिपु हो सकता है; क्यों कि दूसरे किसी को शक्ति नहीं जो आत्मा की हानि कर सके; और आत्मा ही सच्चा बंधु आत्मा का है, क्योंकि दूसरे किसी में ऐसी शक्ति नहीं जो इस की सहायता करे। दूसरे में शक्ति क्या होगी, जब 'इस के सिवाय दूसरा',

(अरबी मे 'मा सिवा अल्ला', 'आत्मनः अन्यत्',) 'आत्मनः इतरत्', कुछ, कोई, है ही नहीं, ('अहं एतत्-अन्यत् न')।

यही बात सूफियों ने भी कही है।

लौहि महफूज़स्त दर मानी दिलत;
हरचि मी ख्वाही शवद ज़ू हासिलत्।

अर्थात्,

ब्रह्मदेव की परमनिधि हृदय तुम्हारो होइ;
जो कुछ अभिलाषा उठै, तातैं पावहु सोइ।

और भी,

आनाँ कि तलबगारि ख़ुदा एद, ख़ुदा एद;
हाजत ब-तलब नीस्त, शुमा एद शुमा एद;
चीज़े कि न गर्दीद गुम, अज़ बहरि चि जोयेद ?
कस ग़ैरि शुमा नीस्त, कुजा एद, कुजा एद !

अर्थात्,

ईश्वर को जे खोजते !, सुनो हमारी बात,
खोजन कौ नहिं काज कछु, तुम ही हौ वह, तात !
कबहुँ जु खोयौ नाहि, तेहिं क्यों ढूँढ़त अकुलात ?
तुम सिवाय जग मे कछू दूजौ नाहिं दिखात !

आप के हृदय मे महा गणपति परमात्मा का सदा वास है; यदि आप यत्न करोगे तो पहिचानोगे कि आप स्वयं ही परम गणपति हो; और ऐसा पहिचानने से ही आप अपना भी और अपने समाज का भी कल्याण कर सकोगे। ॐ।

ॐ निधीनां त्वा निधिपतिं हवामहे।
प्रियाणां त्वा प्रियपतिं हवामहे।
गणानां त्वा गणपतिं हवामहे। ॐ।

: २ :

सर्व-मत-समन्वय*

(अर्थात् आत्मज्ञान द्वारा सब मतों का समन्वय)।

ॐ

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च, विश्वाधिपो, रुद्रो, महर्षिः,
हिरण्यगर्भं पश्यति जायमानं, स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ।

ॐ

प्रिय विद्यार्थी जन,

आज के ऐसे समावर्त्तन संस्कार के समय के व्याख्यानो मे, प्रायः विद्यार्थियों स्नातकों के जीवन के कर्त्तव्य के विषय मे कुछ उपदेश देने की प्रथा प्रचलित है। पर आप लोग त्यागशील, तपस्याशील, विद्वान्, आचार्यों और आध्यापकों के उपदेश और निदर्शन वर्षों से सुन और देख रहे हैं। मै आप को कौन-सी नई बात सुनाऊँ?

पुरातन ही नित्य नवीन है।

आज सवेरे से इसी चिन्ता मे मै मग्न हो रहा था, कि मुझे ध्यान आया कि जो सब से पुरानी बात है वही सदा नई है।

---

* सौर ८ चैत्र (मीन) १९८०, वि० (२२-३-१९२४ ई०), को, गुरुकुल, कांगडी, मे, श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी के सभापतित्व मे, स्नातकों के समावर्त्तन संस्कार के अवसर पर व्याख्यान दिया गया। तथा, सौर २८ माघ (मकर) १९८१, (१०-२-१९२५) को, काशी-विद्यापीठ मे, स्नातकों के समावर्त्तन संस्कार का जो प्रथम उत्सव हुआ, उस अवसर पर, उसी का आशय दुहराया गया। उसी का परिबृंहण यह दूसरा अध्याय है।

नवो नवो भवति जायमानः अह्नां केतुः ।

दिवसों के पताकारूप सूर्यदेव, अति प्राचीन होते हुए भी, नित्य नये हो कर प्रतिदिन जन्म लेते हैं ।

सो मै आप लोगों को, बहुत पुरानी पर नित्य नई, कुछ बातें सुनाऊँगा ।

आज आप मे से कई विद्यार्थियों का दीक्षान्त संस्कार हुआ है। और प्रतिवर्ष कई कई का होता जायगा । प्राचीन काल मे भी ऐसा होता था । उपनिषदों से जान पड़ता है, उस समय में, आचार्य, समावर्तमान विद्यार्थियों को, घर लौटने से पहिले, अन्तिम उपदेश, बहुत स्नेह से, बहुत गम्भीर भाव से, बहुत शुभ कामना से, देते थे, जैसा आज भी आप के आचार्यों ने आप को दिया ।

आचार्य का विद्यार्थी को अन्तिम उपदेश ।

'सत्यं वद, धर्मं, चर, स्वाध्यायात् मा प्रमदः, आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः; सत्यात्, धर्मात्, कुशलात् न प्रमदितव्यम्; भूत्यै न प्रमदितव्यम्; स्वाध्याय-प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यं; देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्; मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव। यानिअस्माकं सुचरितानि तानिएव त्वयाउपास्यानि, नो इतराणि । ये के च अस्मत्श्रेयांसो ब्राह्मणाः, तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम् । श्रद्धया देयं, अश्रद्धयाऽदेयं, श्रिया देयं, ह्रिया देयं, भियाऽदेयं, संविदा देयं। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः युक्ताः, आयुक्ताः, अलूक्षाः, धर्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्तेथाः । एष आदेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् ।'

(तैत्तिरीय उपनिषत्)

'अन्तिम उपदेश, आदेश यही है—सत्य बोलना; धर्म के अनुसार आचरण करना; स्वाध्याय मे, बुद्धिवर्धक ज्ञानवर्धक शास्त्रों के नित्य अवलोकन करने में, तथा, विशेष कर, अपनी विशेष जीविका के उपयुक्त ज्ञान के संग्रह करने मे, प्रमाद नहीं करना; पढ़ना समाप्त हुआ, अब हम को पठन पाठन से क्या काम, ऐसा मत समझना । कुशलता साधने वाले, कौशल के, कामो के करने से मत चूकना । भूति,

विभूति, विभव का सम्पादन करने वाले धर्मयुक्त कामों के करने से मत चूकना। जिस आचार्य के गुरुकुल मे तुम ने विद्या संग्रह किया, उस की सहायता करते रहना, जिस से नई पुश्त के विद्यार्थी वहाँ शिक्षा पाते रहें; इस प्रकार से ऋषिऋण चुकाना। देवों, ऋषियों, और पितरों के ऋण चुकाने वाले कामों से भी मत चूकना। जो अच्छे काम हैं वही करना, दूसरे काम नहीं करना। यदि हम ने भी कोई अनुचित काम किया है, तो यह विचार कर, कि आचार्य ने ऐसा किया है, उस का अनुकरण नहीं करना; जो हम से अच्छे काम बन पड़े हैं उन्हीं का अनुकरण करना; हमारे अनुचित कामो का अनुकरण मत करना। हम से जो अधिक श्रेष्ठ सच्चरित्र, रूखे नहीं, मृदु हृदय के, स्निग्ध, स्नेही प्रकृति के, धर्मिष्ठ, ब्रह्म के जानने वाले, संमर्षी, सहनशील, क्षमावान्, संमर्श, सत् परामर्श, देने की योग्यता रखने वाले, युक्त, युक्तियों के जानने वाले, आ-युक्त, लोक-संमत, जनता द्वारा पुरो-हित, अग्रे-निहित, नि-युक्त, अग्रगण्य माने हुए विद्वान् मिलें, उन की आसना करना, उन्ही की उपासना करते हुए जीना, श्वास लेना, उन्हीं का दम भरना। अन्धश्रद्धा मत करना, अपनी बुद्धि पर भरोसा कर के विवेक से काम करना। अपने मन में सार्व-जनिक स्नेह का भाव रखना। माता को, पिता को, आचार्य को, देव-रूप ही जानना। यदि कभी संशय हो, कि यह कर्म, यह वृत्त, अच्छा है या नहीं, तो उक्त प्रकार के सज्जन विद्वान् ब्रह्मवेत्ता जैसा आचरण करते हों वैसा आचरण करना। प्रजा-सन्तान का उच्छेद मत करना; अपने सुख चैन की स्वार्थी लालच में गार्हस्थ्य के उत्तम धर्म का बोझ उठाने से जान मत चुराना।'

ब्रह्मचारी, गृहस्थश्च, वानप्रस्थो, यतिस्तथा,
एते गृहस्थप्रभवाः (तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही)।
यथा नदीनदाः सर्वे समुद्रे यांति संस्थितिं,
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यांति संस्थितिं।
यथा वायुं समाश्रित्य वर्तंते सर्वजंतवः,
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तंते सर्व आश्रमाः।
यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो, ज्ञानेनान्नेन च अन्वहम्,
गृहस्थेनैव धार्यन्ते, तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही। (मनु)

सर्वेषामपि चैतेषां, वेद-श्रुति-विधानतः,
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः, स त्रीनन्यान् बिभर्ति हि ।

'ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, यति -- इन चारो आश्रमो की उत्पत्ति गृहस्थ से ही है; इस लिये सब से बड़ा आश्रम गृहस्थ का ही है। जैसे सब नदी नद, समुद्र ही मे संस्थिति, समाप्ति, ठहराव, आसरा पाते हैं; जैसे सब जीव जन्तु, वायु के ही सहारे जीते हैं; वैसे ही सब आश्रम गृहस्थ के आसरे रहते हैं। अन्य तीन आश्रमवालों को गृहस्थ ही अन्न भी देता है, और ज्ञान भी देता है। इस हेतु से, वेद की श्रुति ने, गृहस्थ ही को सब आश्रमो मे ज्येष्ठ भी और श्रेष्ठ भी कहा है।'

हाँ, सब उत्सर्गों के लिये, सब नियमो के लिये, अपवाद होते हैं। विशेष विशेष अवस्था मे नैष्ठिक ब्रह्मचर्यादि हो सकता है; और परार्थ के लिये, परोपकार के लिये, निश्चिन्त हो कर देश सेवा के लिये, यदि कोई नैष्ठिक, अथवा परिमित काल के लिये, ब्रह्मचर्य का व्रत बढ़ा दें, तो यह उन के और देश के बड़े सौभाग्य की बात है; और देश को ऐसे ब्रह्मचारी (तथा वानप्रस्थ) स्वयंसेवकों की बड़ी आवश्यकता है। नि-ष्ठा का अर्थ, 'नितरां स्थिति', आत्यन्तिक, आजीवन स्थिति; ऐसी निष्ठा वाला 'नैष्ठिक'। पर साधारण धर्म इसी को जानना, अर्थात् विद्याध्ययन से समावृत्त हो कर गार्हस्थ्य करना, और अपने त्रिविध ऋण को यत्न पूर्वक चुकाना। माता, पिता, आचार्य रूपी देवताओं ने आप के लिये बड़ा परिश्रम किया है; उन का ऋण आप के ऊपर बहुत है; उस को, अपने आगे की पुश्त के लिये वैसा ही परिश्रम कर के, चुकाना। माता पिता और आचार्य के लिये नम्रता भाव, स्नेह भाव, विनय भाव, अपने मन मे सदा बनाये रखना। इस से आप ही की आगे बहुत रक्षा होगी। मिथ्या-अहंकार-जनित कलह के दुष्फलों से बचोगे। हम से आप से जो वृद्ध हैं उन का अनादर मत करना। मातृभक्ति विशेष करना। शरीर को जन्म देने वाली माता की, तथा जन्मभूमि रूपिणी माता की, जिस से जन्म देने वाली माता का भी भरण पोषण हुआ और होता है, तथा उस जन्मभूमि की भी माता स्वयं जन्मरहित सर्वजगज्जननी, परमात्मा की स्वभाव-रूपिणी प्रकृति देवी की, परमपुरुष की प्रकृति की, जिस की सारी सृष्टि ही सन्तान है, हृदय मे भक्ति बनाये रखना।

अजामेकां लोहितकृष्णशुक्लां सर्वाः प्रजाः सृजमानां नमामः ।

परमात्मा की जन्मरहित अनादि-अनन्त शक्ति, त्रिक-मयी, त्रिगुणात्मिका, तीन रङ्ग वाली, सरस्वती रूपेण श्वेत, काली रूपेण कृष्ण, और लक्ष्मी रूपेण रक्त, देवी को, जो सब असंख्य प्रजाओं की जननी है, हम लोगों को नमस्कार करते रहना चाहिये; सदा हृदय मे, स्मृति मे, नम्रता से, विनय से, धारण किये रहना चाहिये। सत्त्व-ज्ञान-मयी सरस्वती, तमः-इच्छा-मयी काली, रजः-क्रिया-मयी लक्ष्मी।

माता की सात्विक भक्ति और वन्दना का भाव, परम-पावन और मनो-मल-शोधन है। मनु ने कहा है,

उपाध्यायान् दशआचार्यः, शताचार्यास्तथा पिता,
सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणअतिरिच्यते। (मनु)

दस उपाध्यायों से बढ़ कर आचार्य, सौ आचार्यों से बढ़ कर पिता, और सहस्र पिताओं से बढ़ कर माता की गुरुता है।

वृद्ध पितामह भीष्म ने इस का फल थोड़े मे कहा है,

जीवतः पितरौ यस्य, मातुरुत्संगतो यथा,
षष्टिहायनवर्षोऽपि, स द्विहायनवच्चरेत्। (शान्तिपर्व)

'जिस के माता पिता वर्तमान हैं वह साठ वर्ष की उमर पा कर भी वैसा निश्चिन्त और प्रसन्न रहता है जैसा मा की गोद मे दो वर्ष का बच्चा।'

"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः"। जिस रहन सहन आचार विचार से अभ्युदय भी और निःश्रेयस भी दोनो मिलें; इस लोक मे अभ्युदय भी, और संसार के सुखों के साथ सदा लिपटे हुए दुःखों के बंधनो से मोक्ष भी, मिले; वही धर्म है। इस लिये धर्मप्रधान सभ्यता शालीनता के गुरुकुल का आचार्य, अंतिम उपदेश फिर भी धर्मविषयक ही देता है, कि यदि कभी संदेह हो, कि इस विशेष अवस्था मे क्या कर्तव्य है, क्या कृत्य है, क्या धर्म है, तो जो सत्पुरुष, सच्चे विद्वान्, धार्मिक और तपस्वी जीव, जिन्हीं का नाम ब्राह्मण है, वे जैसा उस अवस्था मे, उस देश-काल-निमित्त मे, आचरण करते हों वैसा ही आप आचरण करना।

एषा वेदोपनिषत्।

यही समग्र वेद अर्थात् ज्ञान का निचोड़, निष्कर्ष, रहस्य, उपनिषत् है।*

कर्त्तव्य धर्म विषयक सन्देह का निर्णय कैसे हो।

वेद अर्थात् सज्ज्ञान कर्म-परक है; कर्मों का, व्यवहार का उपयोगी है, साधक है; आत्म-ज्ञान-प्रतिपादक ज्ञानकाण्ड को छोड़ कर। इस लिये ब्रह्मचर्य-काल के विद्याध्ययन का साक्षात् और मुख्य प्रयोजन, जीवन के व्यवहार की शुद्धि, आचरण-शुद्धि। इस लिये अन्तिम उपदेश इसी विषय का है, कि कर्मपरक धर्म के सम्बन्ध मे यदि शंका उत्पन्न हो तो उस का समाधान कैसे करना।

इसी अर्थ का अनुवाद मनु ने किया है।

> मानवस्यास्य शास्त्रस्य रहस्यमुपदिश्यते।
> अनाम्नातेषु धर्मेषु, कथं स्याद्, इति चेद्भवेत्,
> यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः, स धर्मः स्यादशंकितः।
> धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः स-परिबृंहणः,
> ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुति-प्रत्यक्ष-हेतवः। (मनु)

'इस मानवशास्त्र का रहस्य यही है कि, यदि ऐसी नयी अवस्था उत्पन्न हो जिस के सुलझाने के लिये प्राचीन प्रामाणिक धर्मग्रन्थों मे कुछ आम्नात न मिले, आदेश न हो, और प्रश्न उठै कि क्या करना चाहिये, तो शिष्ट ब्राह्मण जो निर्णय कर दें, वही धर्म माना जाय; तथा शिष्ट ब्राह्मण वे मनुष्य समझे जायँ, जिन्हों ने इतिहास—पुराण—सहित, धर्मपूर्वक, वेदों का, सच्चे ज्ञानो का, अध्ययन किया है, और जो वेदों मे, ज्ञानग्रन्थों मे, कही सुनी बातों को प्रत्यक्ष कर के दिखा सकते हैं।'

'एषा वेदोपनिषत्' और 'मानवशास्त्ररहस्य' दोनो एक ही बात है। क्यों कि,

---

* आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ चरक संहिता के 'विमान-स्थान' के आठवें अध्याय मे, अध्ययन और अध्यापन की विधि बहुत अच्छी रीति से बताई है; मनुस्मृति और उपनिषत् के आशय के अनुसार ही है, पर आयुर्वेद के शिक्षक और विद्यार्थी, तथा भिषक्, के विशेष उपयोग की बातें विशेष रूप से कही हैं।

यः कश्चित् कस्यचिद् धर्मो मनुना परिकीर्तितः,
स सर्वोऽभिहितो वेदे, सर्वज्ञानमयो हि सः। (मनु)

'जो जिस का धर्म मनु ने बताया है, वह सब वेद में कहा है, वेद भी और मनु भी सर्वज्ञानमय हैं, सर्वज्ञ हैं'।

यह अंतिम उपदेश कर्ममार्ग का है, कि संशयावस्था मे जिस को अच्छे लोग कहें वही धर्म है। महाभारत मे इसी विषय को दूसरे प्रकार से अनुवाद किया है।

तर्कोऽप्रतिष्ठः, श्रुतयो विभिन्नाः, नैको ऋषिर्यस्य वचः प्रमाणं;
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां; महाजनो येन गतः स पन्थाः।
(विदुरनीति)

'तर्क की कहीं प्रतिष्ठिति, समाप्ति, नहीं; श्रुतियाँ विभिन्न, परस्पर विरुद्ध, मिलतीं हैं; एक ही ऋषि नहीं जिसी का वचन प्रमाण मान लिया जाय; धर्म का तत्व (आत्मा के वासस्थान हृदय की) गुहा मे छिपा है; महाजन (जन-समूह, आर्यजनता, उस अंतरात्मा से प्रेरित हो कर) जिस पथ से चलै वही पथ ठीक है'।

महाजन शब्द का अर्थ कोई तो करते हैं 'महांतो जनाः,' 'बड़े आदमी'; कोई कहते हैं 'महान् जन-समूहः,' अर्थात 'मेजारिटी', बहुतर-मत, भूयसीयं। बड़े आदमी का अर्थ होता तो 'नैको ऋषिः' न कहते। राजशास्त्र मे, 'महाजन' शब्द एक सांकेतिक अर्थ मे प्रयोग किया हुआ जान पड़ता है; यथा, प्रधान प्रधान पौर, जानपद, श्रेणी, पूग, निगम, दल, आदि के मुख्य, मुखिया, महान्, महता महतो, महत्तर, मेहतर, प्रतिष्ठित, सम्भावित जनों की परिषत्। धर्म-संशय मे, ऐसी परिषत्, 'भूयसीयं' के प्रकार से, जो आपस मे स्थिर कर ले, वही पंथाः, वही रास्ता, वही धर्म। 'मानव-धर्म-सारः' नाम के अपने संस्कृत ग्रन्थ मे, तथा 'शास्त्रवाद बनाम बुद्धिवाद' नाम के हिन्दी ग्रन्थ मे, प्राचीन ग्रन्थों से कई उद्धरण कर के, मै ने यह दिखाने का यत्न किया है कि 'महाजन' का अर्थ 'प्रतिष्ठित जनों का समूह' ही है। गुजराती भाषा मे अब तक इसी अर्थ मे इस शब्द का प्रयोग होता है।

मनु का उपदेश इस विषय मे यह है,

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः,
स विज्ञेयः परो धर्मो; नाज्ञानामुदितोऽयुतैः। (मनु)

'सच्चा वेदवित्, ज्ञानी, उत्तमचरित्र वाला द्विज, जो निर्णय कर दे, उसी को धर्म जानना मानना। यदि दस सहस्र मूर्ख भी किसी बात को धर्म कहें तो नहीं मानना।'

यह कई बातें विरुद्ध ऐसी जान पड़ती हैं। इन का विरोध परिहार कैसे हो? इस के विषय मे आगे फिर कहूँगा।

वन्दे 'मातरम्' और स्वराज्य।

आचार्य ने अन्तिम उपदेश मे विद्यार्थी को कर्म-मार्ग-विषयक अन्तिम बातें कहीं। आजकाल के शब्दों मे जिन को 'डोमेस्टिक ड्यूटीज्' 'सोशल ड्यूटीज्' 'सिविक् ऐन्ड पोलिटिकल ड्यूटीज्', 'ह्यूमनिस्ट ड्यूटीज्', अर्थात् गृहधर्म, सामाजिक धर्म, राष्ट्रीय धर्म, मानवजाति संबंधी कर्तव्य, आदि कहेंगे, उन का आशय पुराने शब्दों मे देव, पितृ, अतिथि, आदि कार्य, और भूति, कुशल, और सर्वोपरि व्यापक शब्द 'धर्म' के नाम से आचार्य ने सूचित किया। और उस 'प्रिंसिपल् आफ् लिविङ् लेजिस्लेशन्' की भी, उस जीवत् जाग्रत् सिद्धांत की भी, जिस के अनुसार नवीन धर्म की परिकल्पना, नवीन धर्म का व्यवसान, आम्नान, होना चाहिये, और जो ही सब राज्यप्रबन्ध का मूल है, सूचना कर दी। 'मातृदेवो भव' से 'वन्दे मातरम्' का सूत्रपात, और 'धर्मकामाः यथा वर्तेरंस्तथा वर्तेथाः' से 'स्वराज्य' के मूलमन्त्र का सूत्रपात, कर दिया। अर्थात्, 'स्व-राज्य' मे, जनता के उत्तम-'स्व' को, धर्म-कामो, प्रजा के निस्स्वार्थ हित-चिन्तकों, को अपना 'पुरोहित, 'आगे किये हुये', चुने हुए, 'पुरः अग्रे प्रति-निहित, प्रतिनिधी-कृत', निर्वाचित किये गये, क़ानून-धर्म बनाने वाले, नियुक्त आयुक्त करो।

इस के बाद ब्रह्मचारी घर जाय। पर इतना पठन-पाठन भी पर्याप्त नहीं होता। कुछ और बाक़ी रह जाता है।

तर्कोऽप्रतिष्ठः, श्रुतयो विभिन्नाः।

शास्त्रों मे बहुत से विकल्प, और परस्पर विवाद, विरोध, खंडन-मंडन, देख पड़ते हैं। नवीन धर्म के परिकल्पन के उपाय के विषय मे जो शंका उठती हैं उन की चर्चा अभी ही की। कौन सच्चे विद्वान्, ज्ञानी, तपस्वी, धर्मकाम हैं, जिन पर विश्वास किया जाय, इसी का निर्णय कैसे हो। महा-जन-समूह भी प्रायः वाद विवाद के अनन्तर किसी नेता के दिखाये पथ पर ही चल पड़ता है; उस को भी, और उस के नायक को भी, पथ के निर्णय के लिये किसी हेतु को देखना ही पड़ता है; उस हेतु के उचितानुचित भाव का निर्णय कैसे हो ? इन शंकाओं का समाधान, इन अनंत विकल्पों का समन्वय, कैसे हो ?

आत्मज्ञान की आवश्यकता।

इस का अन्तिम रहस्य, इस की परमोपनिषत्, अभी बाक़ी ही है। ज्ञान-काण्ड के बिना, कर्मकाण्ड भी ठीक ठीक नहीं सधता। यह मनु ने फिर फिर कहा है।

> ध्यानिकं सर्वमेवएतद् यद्-'एतद्'-अभिशब्दितम् ;
> न हिअनध्यात्मवित्कश्चित् क्रियाफलम्उपाश्नुते।
> सैनापत्यं च, राज्यं च, दण्डनेतृत्वम्एव च,
> सर्वलोकाधिपत्यं वा, वेदशास्त्रविद्अर्हति।
> सर्वभूतेषु चात्मानं, सर्वभूतानि चात्मनि,
> समं पश्यन्, आत्मयाजी स्वाराज्यम्अधिगच्छति। (मनु)

'एतत्' 'इदम्' 'यह' शब्द से जो कुछ कहा जाता है वह सब 'ध्यानिक' है, परमात्मा का ध्यानमात्र है; सारा 'यह-दृश्य' जगत्, आत्मा के ध्यान से ही कल्पित है। इस लिये अध्यात्मविद्या, आत्मसंबंधी ज्ञान, संसार के तत्त्व का ज्ञान, जिस को नहीं है, वह कोई क्रिया ठीक नहीं करैगा, न किसी क्रिया से सत्फल पावैगा। उस को सद्उद्देश्यों का ज्ञान नहीं, सच्चे पुरुषार्थों का ज्ञान नहीं, उन की प्राप्ति के प्रकारों का ज्ञान नहीं, और वह शक्तियों का सत्प्रयोग नहीं कर सकता। सेनापति का काम, राजा का काम, दंडनेता न्यायाधीश प्राड्विवाक का काम, अथ किं, सर्व

संसार के अधिपति का काम भी, करने के योग्य वही है जो अध्यात्मशास्त्र को अच्छी रीति से जानता है; आत्मा की, जीवात्मा-परमात्मा की, मनुष्य की, प्रकृति को, द्वंद्वमय स्वभाव को, गुण-दोष को, सुतरां जानता पहिचानता है। जो मानव-स्वभाव के सब पक्षों, पहलुओं, प्रकार-विकारों, को नहीं जानता, वह मानव-जीवन-सम्बन्धी बातों का निर्णय कैसे कर सकता है? जो सब भूतों मे, जीवों मे, पदार्थों मे, आत्मा को, 'मै' को, चेतना को, और आत्मा मे, 'मै' मे, सब को देखता है, और तदनुसार समान रूप से आत्मा का यज्ञ करता है, अर्थात्, 'आत्मवत् सर्वभूतेषु,' सब के साथ यथोचित नीतियुक्त, धर्मयुक्त, व्यवहार करता है, वही स्वराट् की अवस्था को, स्वाराज्य को, आत्मवशता को, स्वाधीनता को, पाता है।

छांदोग्य उपनिषत् मे भी यही कहा है—

'आत्मैवइदं सर्वमिति, स वा एष एवं पश्यन्, एवं मन्वानः, एवं विजानन् आत्मरतिर्आत्मक्रीडः आत्ममिथुनः आत्मानन्दः, स स्वराड् भवति, तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। अथ येऽन्यथाऽतो विदुः अन्यराजानस्ते क्षय्यलोकाः भवन्ति, तेषां सर्वेषु लोकेषुअकामचारो भवति।'

'आत्मा ही, 'मै' ही, यह सब कुछ है, क्योंकि बिना 'मै' की चेतना के, बिना देखने वाले के, यह सब दृश्य कुछ भी हो ही नहीं सकता है—ऐसा जो देखता है, मानता है, जानता है, आत्मा मे ही सुख पाता है, आत्मा से ही खेलता है, आत्मा को साथी बनाता है, आत्मा से ही आनंद पाता है, वही स्वराट्, अपना राजा, आत्मवश, स्वाधीन, स्वतंत्र होता है, वह जिस लोक मे जाना चाहता है वहाँ, मानस कल्पना-शक्ति से जा सकता है। जो इस के विरुद्ध देखते हैं, 'मै' के बड़प्पन को नहीं पहिचानते, आत्मा से, 'मै' से, अतिरिक्त किसी दूसरे को बड़ा समझते हैं, उन के ऊपर दूसरे ही राजा होते हैं; उन के लोक, उन की सामग्री, पराधीन और क्षीयमाण होती है; किसी लोक मे, किसी देश मे, इसी भूलोक के विविध खंडों देशों, द्वीपों, वर्षों मे, तथा भुवः स्वः आदि अन्य लोकों मे, वे, मन-माने, आदर से, सम्मान से, नहीं घूम फिर सकते।

उसी से स्वराज्य का संभव ।

स्वराट् का भाव स्वराज्य वा स्वाराज्य । यह किसी को धोखा न हो कि, इस प्रकार की यह सब स्वराज्य की चर्चा जैसी अभी की गई, केवल 'फ़ल्सफ़ा' की बात है, ख़याली पुलाव है, मनोराज्य है, उस से इस दुनिया के काम काज से कोई वास्ता नहीं । ऐसा किसी को धोखा न हो, इस वास्ते मनु ने स्पष्ट कहा कि अध्यात्म-शास्त्र को जो नहीं जानता उस की सब क्रिया निष्फल होती है, और जो जीव वेदशास्त्र अर्थात् अध्यात्मशास्त्र को जानता है वही सैनापत्य, दंडनेतृत्व, आदि सब लोकव्यवहार के काम को ठीक ठीक कर सकता है ।

इतिहास से इस की पुष्टि ।

सेनापतित्व से और अध्यात्मशास्त्र से क्या सम्बन्ध, ऐसी किसी को शंका हो सकती है, तो,

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ;
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रतरिष्यति ।

'वेद का उपबृंहण, विस्तारण, व्याख्यान, संसार के इतिहास पुराण की सहायता से करना चाहिये । वेद का ठीक अर्थ करने को बहुत ज्ञान की आवश्यकता है । अल्प ज्ञान वाले से वेद बहुत डरता है, कि यह मेरे अर्थ का अनर्थ करैगा, मेरे सच्चे अर्थ को धोखे मे डालैगा, और झूठा अर्थ कर के लोक को ठगैगा ।'

इस न्याय का अनुकरण कर के, मनु के श्लोक का उपबृंहण, महाभारत के इतिहास के अन्तर्गत भगवद्गीता के उपाख्यान से कीजिये । पांडवों की सेना के मुख्य सेनापति अर्जुन नियुक्त किये गये थे, और वे ही, युद्धारम्भ के समय मे ही, सब सेना को छोड़ कर भाग जाना चाहते थे । अध्यात्मशास्त्र से जब उन की विषाद-ग्रस्त बुद्धि का उद्बोधन हुआ, तभी सेनापति के कार्य के योग्य हुए । नहीं तो यही न कहा जाता कि, कहाँ तो लाठी सोंटे की तयारी, कहाँ बेदान्त बूकना ?

इस वास्ते गीता मे कहा है,

अध्यात्मविद्या विद्यानां, वादः प्रवदतामहम् ।

तथा उपनिषदों मे,

स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह । (मुंडक)

'सब विद्याओं मे अध्यात्मविद्या 'मैं' (आत्मा, श्रेष्ठ) हूँ । सब विद्याओं की प्रतिष्ठा, नीव, मूल, ब्रह्मविद्या है । राजनीति शास्त्रों मे भी, जो प्रत्यक्ष ही व्यवहार के शास्त्र हैं, यही कहा है । राजा को, प्रबन्धकर्त्ता को, शास्ता को, चार विद्या जाननी चाहिये,

आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, दण्डनीतिश्च शाश्वती । (मनु)

आन्वीक्षिकी, दर्शनशास्त्र, जिस से आत्मा के स्वरूप का 'अनु-ईक्षण' हो; तथा त्रयी, वेद, जिस से धर्म अधर्म का ज्ञान हो; तथा वार्ता-शास्त्र जिस से अर्थ और अनर्थ, धन और दरिद्रता, के हेतुओं का, कृषि, गोरक्ष्य, वाणिज्य आदि के पोषण के और शोषण मोषण के भी, कारणो उपायों, प्रकारों का ज्ञान हो; तथा दंडनीति, जिस से दुष्टों का 'दण्ड' 'दमन' और शिष्टों का सत्पथ पर 'नीति' 'नयन' कैसे होना चाहिये, इस का ज्ञान हो; इन चार विद्याओं का ज्ञान शासक के लिये आवश्यक है ।

उरा मे आन्वीक्षिकी सब से पहिले है,

आश्रयः सर्वधर्माणामुपायः सर्वकर्मणाम् ,
प्रदीपः सर्वविद्यानां, विद्योद्देशे प्रकीर्तिता । (न्याय-भाष्य)

'यह विद्या सब धर्मों का आश्रय, सब कर्मों का उपाय, सब अन्य विद्याओं के लिए दीपक है,' क्यों कि,

आन्वीक्षिक्यात्मविद्या स्यादीक्षणात्सुखदुःखयोः;
ईक्षमाणस्तया तत्त्वं हर्षशोकौ व्युदस्यति ।

विना इस विद्या के, संसार का और संसार के व्यवहार का, तथा अन्य शास्त्रों के विरोध-परिहार के प्रकारों का, तथा उन की उपयोगिता के अवसरों का, उन के तारतम्य और बलाबल का, तत्व ठीक नहीं समझ मे आता। और उस व्यवहार को ठीक चलाते नहीं बनता। सुख दुःख ही सब व्यवहार के हेतु हैं। उन का सच्चा स्वरूप जानना परमावश्यक है ।' उस का अनु-ईक्षण निरीक्षण परीक्षण करती है,

और तत्त्व को, आत्मा के स्वरूप को, बता कर, जीव को सुख और दुःख, हर्ष और शोक, दोनो के पार तार देती है, और शांत और स्थिर चित्त से सब व्यवहार करने की शक्ति देती है, इसी से इस का नाम आन्वीक्षिकी है।' सुख और दुःख का स्वरूप, उन का तात्त्विक लक्षण, मनु ने संक्षेप से बताया है,

सर्वं परवशं दुःखं, सर्वं आत्मवशं सुखं ;
एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुख-दुःखयोः ।

परवशता, पराधीनता, पर-राज, परतंत्रता ही दुःख; स्वाधीनता, आत्मवशता स्वतंत्रता, स्व-राज ही सुख। परंतु 'स्व' क्या है, आत्मा क्या है, 'पर' कौन है? यह बिना आन्वीक्षिकी के, आत्मविद्या और अध्यात्मविद्या के अध्ययन के, नहीं विदित होता।

अकामस्य क्रिया काचित् दृश्यते नेह कर्हिचित् ;
काम्यो हि वेदाधिगमः, कर्मयोगश्च वैदिकः । (मनु)

'जो निष्काम है वह निष्क्रिय है; काम-रहित जीव की कोई क्रिया देखने मे नहीं आती। वेद का पढ़ना पढ़ाना और वैदिक कर्म—सब ही, इच्छा से, वासना से, काम से प्रेरित है।

ऋषीणां तप्यतां तेषां तपः परम-दुश्चरं,
प्रादुर्भवंति मंत्राणि पूर्व-मन्वन्तरस्य ह,
असंतोषाद्, भयाद्, दुःखात्, मोहात्,
क्रोधाच्, च, पंचधा। (मत्स्य पु०, अ० १४५)

काम क्रोध के ही भेद और विविध रूप, 'असंतोष, भय, दुःख, मोह, और क्रोध से प्रेरित हो कर, इस मन्वन्तर मे कठिन तपस्या करते हुए ऋषियों के चित्तों मे, पूर्व मन्वंतर मे अनुभूत और अभ्यस्त 'मंत्रों' का, 'मनन करने से त्राण करने वाले' उपायों का, प्रादुर्भाव हुआ।' इन मंत्रों के सं-हित, एकत्री-कृत, रूप का नाम मंत्र-संहिता, वेद, है। वेद की उत्पत्ति ही काम से है; तो वैदिक कर्मकांड, कर्मयोग, का 'काम्य' होना, स्पष्ट ही है।

सुख दुःख का साक्षात् सम्बन्ध काम क्रोध से है। "सुखानुशयी रागः, दुःखानुशयी द्वेषः" (योगसूत्र)। सुख के पीछे राग चलता है, दुःख के पीछे द्वेष।

इन राग द्वेष, काम क्रोध, के उचित प्रयोग से व्यवहार बनता है, अनुचित से बिगड़ता है,

धर्माविरुद्धो भूतानां कामोऽस्मि, भरतर्षभ !;
(धर्म्यः क्रोधोऽप्यहं रौद्रो) विनाशाय च दुष्कृताम् । (गीता)

'धर्म से अविरुद्ध काम भी 'मैं' ही हूँ; धर्म ही के लिये, पापियों का संहार करने वाला रौद्र क्रोध भी 'मैं' ही हूँ । और,

कामात्मता न प्रशस्ता, न चएवेहास्त्यकामता । (मनु)

'कामात्मा, काममय, काम के वशीभूत, हो जाना तो अच्छा नहीं; पर सर्वथा कामरहित होना भी इस लोक मे संभव नहीं ।' इस काम क्रोध का नियमन, नियंत्रण, आत्मदमन, आत्मनिग्रह, बिना आत्मज्ञान के ठीक बनता नहीं । ऐसे आत्मज्ञान और आत्मनिग्रह के बिना कलह अनन्त होते हैं । किसी बात पर निर्णय निश्चय नहीं होता । परस्पर विश्वास नहीं पैदा होता । पदे पदे विवाद होते हैं । आदमी आदमी का साथ नहीं निभता । कोई भी 'आर्गेनिज़ेशन', संग्रंथन, व्यूहन, नहीं होने पाता, अथवा यदि उस का आभास, मिथ्या कारणों से, हो भी जाता है, तो सच्ची सूत्रात्मा के अभाव से, थोड़े ही समय मे भंग हो जाता है ।

इन हेतुओं से भारतवर्ष मे इस अध्यात्मशास्त्र को प्रथम स्थान दिया है, और सांसारिक व्यवहार को परमोपकारी कहा है । दूसरे देशों मे इस को प्रायः ठाले समय का खेल समझा है; यद्यपि वहां भी विचारशील, शांतप्रकृति, लोकहितैषी, अक्षुद्र और अनुद्दंड वृद्ध, 'स्पिरिचुएलिटी' को ही, अध्यात्मभाव को ही, स्थिर सांसारिक अभ्युदय का हेतु समझते हैं । यह एक भारी विशेष, दूसरे देशों से, इस देश की प्राचीन सभ्यता का है । इसी विशेष के कारण इस प्राचीन शालीनता मे 'सामान्य' की, सर्वव्यापक परमात्मा की, सत्ता-सामान्य की, इतनी व्यापकता है, कि यह सर्वलोकसंग्राहक, सर्वविरोधपरिहारक, सर्वसमन्वयकारक रही; और फिर भी हो सकती है, यदि हम लोगों से इस आत्मज्ञान का और अध्यात्मभाव का समुचित पुनरुज्जीवन करते बन पड़े ।

छांदोग्य मे कहा है, श्वेतकेतु, बारह वर्ष की उमर से चौबीस वर्ष की उमर

तक गुरुकुल मे रह कर, बहुत-सी विद्या सीख कर, अपने पिता आरुणि उद्दालक के पास, अपने को बड़ा पंडित समझते हुए, वापस आये।

सर्वान् वेदान् अधीत्य महामनाः अनूचानमानी स्तब्धः एयाय।

आजकाल के पच्छिम के शब्द मे 'इलेटड्, स्वेल्ड्-हेडेड्, नो-ऑल, स्टिफ् विथ् प्राइड्' कहेंगे। यौवन मे, शरीर मे बल का, बुद्धि मे स्फूर्ति का, विकास होना, और इस हेतु से अहंकार की भी वृद्धि होना, स्वाभाविक ही है। श्वेतकेतु का कोई दोष नहीं। पर पिता का भी कर्तव्य था कि परमावश्यक परिशिष्ट शिक्षा दें। इस लिये उन्हों ने पुत्र से पूछा, सब तो आपने पढ़ा, पर वह जाना या नहीं जिस एक के जानने से और सब वस्तु जानी जाती है? पुत्र ने कहा नहीं। तब पिता ने उन को आत्मा का उपदेश किया, जिस से सच्चा स्वाराज्य सिद्ध होता है। अन्य सब कुछ जाना, पर जानने वाले ही को न जाना, अपने ही को न जाना, तो क्या जाना? ईसा मसीह ने भी कहा है, सब कुछ पावै और अपने को खो दे, तो क्या पाया?

ऐसे ही नारद सनत्कुमार के पास गये। सनत्कुमार ने पूछा क्या पढ़ा? कहा,

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि, यजुर्वेदं, सामवेदं, आथर्वणं
चतुर्थं, इतिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदं। इत्यादि, (छांदोग्य)

'चारो वेद और इतिहास पुराण रूपी पंचम वेद सब मै ने पढ़ा, पर मै ने आत्मा को नही जाना, केवल वाग्विलास को जाना; और आप ऐसे वृद्धों से सुना है कि 'तरति शोकम् आत्मवित्', जो आत्मा को जानता है वही शोक के पार तर जाता है; सो आत्मा को आप मुझे बताइये'। तब सनत्कुमार ने उपदेश किया।

इस प्रकार की कथा पुनः पुनः उपनिषदों और पुराणो मे कही है। मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य से, नचिकेता ने यम से, राम ने वसिष्ठ से, ऐसे ही प्रश्न किये। रानी मदालसा ने अपने पुत्र राजा अलर्क को, व्यास ने अपने पुत्र शुक को, यही समझाया। क्यों कि और सब ज्ञानो की भी प्रतिष्ठा नहीं होती, नीव नहीं बंधती, उन का परस्पर संबंध, उन का परस्पर बलाबल, उन का यथा-स्थान उपयोग, उन का हृदय, मूल तत्त्व, मर्म, समझ मे नहीं आता, जब तक

यह आत्मज्ञान नहीं होता। आत्मा के ही लिये तो, 'मेरे' ही लिये तो, सब शास्त्र हैं; 'मै' तो शास्त्रों के लिये नहीं। फिर जब 'मै' को न जाना तो शास्त्रों को जान के क्या होगा ?

जिस ने अपने को नहीं जाना कि मनुष्य क्या वस्तु है, जीना मरना, सुख दुःख, काम क्रोध, हर्ष शोक, क्या चीज़ है, जिस ने यह नहीं जाना कि हम क्या हैं, कहाँ से आये, किस लिये आये, कहाँ जायँगे, जीने का क्या फल है, मेरा और दूसरे जीवों का क्या सम्बन्ध है, परस्पर क्या कर्तव्य है, पुरुष क्या है, पुरुषार्थ क्या है - जिसने अपने को ही नहीं पहचाना वह दूसरों को क्या जानेगा? जिस ने अपना रास्ता ठीक नहीं समझा वह दूसरों को कैसे ठीक रास्ते पर चला सकता है ? जीवन का अर्थ ही जिस को नहीं मालूम वह दूसरों की ज़िंदगी को कैसे सुधार सकेगा ? वह क्या गृहराज्य का, क्या देशराज्य का, क्या परराज्य का, क्या स्वराज्य का प्रबन्ध करेगा ? मनुष्यों के काम-काज जीवन-मरण का प्रबन्ध करने के लिये तो मनुष्यों की प्रकृति और मनुष्यों के पुरुष अर्थात् अंतरात्मा का ज्ञान होना चाहिये न ? फिर जिस को यह ज्ञान नहीं, जिस को अध्यात्म-विद्या नहीं, वह कैसे एक छोटी गिरस्ती का अथवा एक बड़े राज का काज ठीक चला सकता है ? 'स्व' किस को कहते हैं यही जिस को मालूम नहीं, 'राज' का सच्चा अर्थ और स्वरूप क्या है इस का जिस को ज्ञान नहीं, वह 'स्वराज' 'स्वराज' पुकार कर काम बनावेगा नहीं; बिगाड़ेगा ही।

इस लिये इस देश की प्राचीन शिष्टता मे आत्मज्ञान का बहुत प्रचार रहा। और कुछ लोगों का यह विश्वास है कि इसी बचे खुचे आत्मज्ञान के बल से ही यह शिष्टता, एक ओर दम्भ और पाषंड और दूसरे ओर अंध-श्रद्धा और मूर्खता से नितांत जर्जर हो कर भी, अब तक यथा-कथंचित् जीवित है; क्योंकि इस मे उस अध्यात्मशास्त्र की, लोक-संग्रह करने वाली, सच्चे 'को-ऑपरेशन', संमर्श, सहयोग, सहकारिता, 'संभूयसमुत्थान' की, शक्ति का बीज रह गया है। जहाँ इस शास्त्र की छाया नहीं है वहाँ लोक-विग्रह की, अंध-श्रद्धा, अंध-गर्धा, अंध-विरोध, अन्धाधुंध 'काम्पिटिशन्', प्रतिद्वंद्विता, प्रतिस्पर्धा, परस्पर संमर्द संघर्ष, और द्रोह ही की शक्ति अधिक होती है।

शंका-समाधान ।

कुछ लोगो को ऐसी शंका यहाँ हो सकती है कि मनुष्य के चार पुरुषार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष । इन के साधन के चार शास्त्र हैं, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, और मोक्षशास्त्र । तीन अर्थ, और तीन शास्त्र सांसारिक व्यावहारिक अभ्युदय के सम्बन्धी हैं । चौथा अर्थ और शास्त्र तो संसारत्याग का सम्बन्धी है, इस का अनुशीलन चौथेपन मे, सन्यासावस्था मे, ही होना चाहिये । अध्यात्मविद्या, आत्मज्ञान, मोक्षशास्त्र का ब्रह्मचर्यावस्था मे कैसे सञ्चय हो सकता है ?

इस का समाधान यह है कि विदेह मोक्ष के साक्षात् साधन के उपाय, निरन्तर सूक्ष्म सूक्ष्म विचार से, ध्यान-धारणा-समाधि से, संन्यासावस्था मे भले ही बरतना चाहिये । पर मोक्षशास्त्र अर्थात् अध्यात्मशास्त्र वा ब्रह्मविद्या के मूलतत्व तो, अन्य शास्त्रों के अनंतर प्रथमावस्था में ही यथासम्भव स्थूल रूप से जान लेना चाहिये । अभी जो उपनिषदों और पुराणों की कथा कही, उन मे, इस ज्ञान के प्रष्टाओं और श्रोताओं का वयस् नवीन ही हैं, वृद्ध नहीं; उपदेष्टा अवश्य वृद्ध हैं ।

और भी; मन्वादि मे यह सूचना है कि यदि, इस ओर, प्रथम वयस् मे कुछ न कुछ यत्न न कर लिया जाय, तो पीछे इस ज्ञान का मिलना कठिन हो जाता है । इस प्रत्यक्चेतना के अधिगम को, अपने मन में जो विकार हो रहे हैं उन की जाँच करने की इस शक्ति के लाभ को, ही 'द्वितीय जन्म' कहते हैं । और यह गायत्री मंत्र के श्रवण, और उस के अर्थ का ध्यान, आवाहन, मनन, निदिध्यासन, करने से होता है । इसी से गायत्री को ही सावित्री अर्थात् जन्माने वाली, नया जन्म देने वाली, कहते हैं । और भी कारण इस नाम के हैं, पर यह मुख्य हेतु है।

आ षोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते ;
आ द्वाविंशात् क्षत्रबन्धोर्, आ चतुर्विंशतेर्विशः ।
तत्र यद् ब्रह्मजन्मअस्य मौञ्जीबंधनचिह्नितम्,
तत्रअस्य माता सावित्री, पिता तुआचार्य उच्यते । (मनु)

जैसे शरीर की व्यवस्था है वैसे ही बुद्धि की । जो फुर्ती के काम, घुड़सवारी,

तैरना, निशानाबाजी, मल्लविद्या, नट की कसरत, प्राणायाम, योगासन, योगमुद्रा, छोटी उमर में आरम्भ कर ली जाती हैं, वे ही पीछे अच्छी तरह मनुष्य को आती हैं। शरीर के लोच की अवस्था बीत जाने के बाद फिर उन का सीखना कठिन हो जाता है। वैसे ही अन्तर्मुख, प्रत्यक्चेतन, हो कर, विचार करने की शक्ति, यदि क्रमशः कोमल उपायों से बाल्यकाल और यौवनावस्था में न जगायी जाय, तो पीछे, उमर बढ़ जाने पर, और बहिर्मुख वृत्ति दृढ़ हो जाने पर, वह अन्तर्मुख वृत्ति मिलना, वह प्रत्यक्चेतना का अधिगम, दुष्कर हो जाता है। और जिस की ज्ञानग्राहिणी बुद्धि अधिक तीक्ष्ण होगी उस की यह शक्ति जल्दी लुप्त भी हो जायगी। प्रसिद्ध है कि तीव्र बुद्धि वाले बालकों और युवाओं के बिगड़ जाने का संभव भी अधिक होता है। शक्ति यदि अपने उचित काम में न लगायी जायगी, तो अकर्मकृत् और निश्चल तो रहेगी नहीं, किसी अनुचित ओर लग जायगी। इस लिये जिस ब्रह्मचारी में सत्त्व की मात्रा अधिक है, जो सत्त्वप्रधान ज्ञानशील जीव है, जो इस हेतु 'ब्राह्मण' कहलाने योग्य है, जिस का सम्बन्ध शब्द ब्रह्म से और पर ब्रह्म से अधिक निकट है, उस युवा का संस्कार देर से देर सोलहवें वर्ष के पहिले हो जाना चाहिये; नहीं तो बिगड़ कर 'ब्रह्मराक्षस', 'ब्रह्मपिशाच' आदि हो जाने का भय है। एवं, रजःप्रधान क्रियाशील क्षत्रियप्रकृति के युवा का बाईसवें वर्ष के पहिले; एवं जो तमःप्रधान द्रव्यसंग्रह-इच्छा शील ईहार्थी वैश्य-प्रकृतिक युवा है, उस का चौबीसवें वर्ष से पहिले। जो अनुद्बुद्धबुद्धि हैं, जिन में इन तीनों में से किसी एक गुण के विशेष अभिव्यञ्जन का सम्भव नहीं है, और इस कारण 'शुचा द्रवति इति' शूद्र कहलाने योग्य हैं, थोड़ी बात पर भी बहुत भय और शोक में, क्षोभ में, पड़ जाते हैं, तथा बड़ों की आज्ञा पा कर, 'आशु-द्रवति', जल्दी से दौड़ कर काम कर देने के ही योग्य हैं, स्वयं विचार नहीं कर सकते, उन के लिये यह संस्कार असम्भव है; और इसी वास्ते 'न शूद्रे पातकं किंचित्' कहा है, जैसे बालक बुद्धि-पूर्वक पाप नहीं करता!

शोकस्थानसहस्राणि, भयस्थानशतानि च,

दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति, न पण्डितम्।

जो मूढ़ हैं, मोहग्रस्त हैं, उन के मन में दिन दिन सहस्रों (हर्ष) शोक और

सैकड़ों भय पैठा करते हैं; वे ही शूद्र कहलाने के योग्य हैं; जो आत्मज्ञ हैं, आत्मवान् हैं, 'सद्सद्विवेकिनी बुद्धिः पंडा' वाले पंडित हैं, धीर हैं, गंभीर हैं, उन को ऐसे क्षोभ नहीं होते। पातक का अर्थ, वह काम जो करने वाले को मान-मर्यादा से नीचे पतन करावै, गिरावै। बालबुद्धि शूद्र को मान-मर्यादा नहीं, पातक नहीं; उस का दंड शिक्षारूप है।

ऐसे हेतुओं से आत्मविद्या का बीजारोपण प्रथमावस्था ही में कर देना आवश्यक समझा जाता था। और सारे देश मे सच्चे ब्रह्मवित् मनुष्यों की संख्या इतनी पर्याप्त रक्खी जाती थी कि उन के शान्तिसाधक विरोधबाधक प्रभाव से लोकसंग्रह का भाव सदा अधिक मात्रा से समाज मे बना रहता था।

यदि इस मे फिर भी सन्देह बाकी रहे, कि यह अध्यात्मज्ञान प्रथमावस्था के अनुरूप नहीं है, तो मनु के इस श्लोक पर ध्यान करना चाहिये।

उपनीय गुरुः शिष्यं, शिक्षयेत्शौचमआदितः,
आचारं, अग्निकार्यं च, सन्ध्योपासनमेव च। (मनु)

उपनयन के अनंतर गुरु का पहिला कर्तव्य यह है कि शिष्य को शौच सिखावै, तथा आचार, तथा अग्निकार्य, तथा सन्ध्योपासना।

अब आप विचारिये कि यह शौच, जो अक्षरारम्भ से भी पहिले बालक को सिखाया जाता है, उसी का पर्यवसान योग मे होता है। उस की परा काष्ठा है, 'शौचात्स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः', अर्थात् शौच की बुद्धि बढ़ने से क्रमशः हाड़-मांस मल मूत्र के बने अपने शरीर से ही घृणा होने लगती है, और दूसरों से भी बराव बढ़ता है।

सदाचार की ही परा काष्ठा योगोक्त यम नियम आदि हैं।

अग्निकार्य, सहज मे साधारण पार्थिव आग जलाने, आग बुझाने, की तर्कीब से ले कर वहाँ तक व्याप्त है, जब अन्त समय मे परलोकोन्मुख जीव दिव्य अग्नि से कहता है,

अग्ने ! नय सुपथा रायेऽस्मान्, विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्,
युयोध्यस्मज्जुहुराणमएनो, भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम। (ईश उप०)

हे अग्ने (अग्रे नयति), आगे ले चलने वाले !, सब उत्तम ज्ञानों के जानने वाले ! हमारे पापों को जला कर हम को अच्छे मार्ग से उत्तम लोक को ले चलिये, हम आप को नमस्कार करते हैं। और—

एहि एहीहति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति,
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्यः, एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः।

(मुंडक उप०)

वे चमकीली अग्नि की आहुतियाँ, परोपकारी कर्म, यजमान को, द्युस्थानी अग्नि अर्थात् सूर्य की किरणों के रास्ते से, उत्तम लोकों को ले जाती हैं, और मीठी बोली से उस से कहती हैं कि आइये, आइये, यह आप के पुण्य से प्राप्त पुण्यमय ब्रह्मलोक है। पुराण-श्लोक है,

यमस्य दूताश्च, तथैव पार्षदाः नारायणस्य, अथ गणाः शिवस्य,
सूर्यस्य रश्मीन् अवलम्ब्य सर्वे, जीवान्नियच्छन् (न्तः) विचरन्ति सर्वदा।

सूर्य की किरणों के द्वारा, सौर संसार के सब परमाश्चर्यमय कार्य होते रहते हैं; यम नामक शक्ति के कार्य, नारायण नामक तथा शिव नामक शक्ति के कार्य, सब जीवों के नियमन करने के कार्य, इन्हीं किरणों के द्वारा होते हैं। इस रहस्य का विस्तार बहुत है। वेद के मंत्र का आशय भी यही है,

आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानः, निवेशयन् अमृतं मर्त्यं च,
हिरण्ययेन, सविता, रथेन, देवो याति, भुवनानि पश्यन्।

सन्ध्योपासन का तो स्पष्ट ही पर्यवसान योगसमाधि में होता है। दिन और रात की 'संधियों' के समय सावित्री-मंत्र द्वारा, जगत्सविता प्रत्यक्ष-सूर्य के ध्यान से आरंभ कर के, सर्व-सविता, बुद्धि को प्रत्यक्ष दृश्यमान, अनुभूयमान, परमात्मा का 'सम्यग ध्यान', उस से जीवात्मा के ऐक्य का अनुभव, यही 'सन्ध्या' की सम्पन्नता है।

निष्कर्ष यह है कि जो कुछ आगे पूर्णरूप से साधना है उस का बीजारोपण प्रथमावस्था में उचित ही है।

समन्वयात्मक आध्यात्मिक मानवधर्म।

इस न्याय से अध्यात्मशास्त्र का प्रचार पुरा काल में बहुतायत से किया

गया, और सब आर्य शालीनता, आर्य सभ्यता, ब्राह्म शिष्टता, वैदिक समयाचार, बौद्ध बुद्धियुक्त पद्धति, शिष्ट सभ्य समुदाचार, 'आर्यन् सिविलिज़ेशन,' 'हिंद की तहज़ीब', इस की नीव पर खड़ी की गयी; और लोक का संग्रह, 'सोसाइटी' का 'आर्गेनिज़ेशन', ऐसा किया गया कि सब को, सब जीवों को, और सब आचारों और विचारों को, अपने अपने गुण कर्म अवस्था योग्यता उपयुक्तता के अनुसार, उस में स्थान मिल सकता है, और मिला है।

इस समय आप लोगों से इस विषय की चर्चा इस वास्ते की जाती है कि अब आप विद्यार्थी अवस्था को छोड़ कर गार्हस्थ्य करने जा रहे हो, और आप को इस लोकसंग्रह, समाजनिर्माण, ('सोशल रीकन्स्ट्रक्शन, सोशल रिफ़ार्म, पोलिटिकल रिफ़ार्म') आदि कार्य में अवश्य परिश्रम करना होगा। तो आप को यह विदित रहना चाहिये कि ज्ञान का, वेद का, जो अन्तिम चरम और परम भाग वेदान्त अर्थात् आत्मविद्या है, उस से कैसे लोकसंग्रह में सहायता मिलती है।

प्रायः सन् १९१०–११ में एक अखबार ने यह प्रश्न उठाया कि हिन्दू किस को कहते हैं, हिन्दुत्व का क्या विशेषक व्यावर्तक लक्षण है, किस आचार विचार वाले मनुष्य को हिन्दू कहना चाहिये; और इस प्रश्न को बहुत से जाने माने हिन्दुओं के पास भेज कर उत्तर मँगवाये और उन को छापा। कोई एक भी व्यभिचारी विशेषक व्यावर्तक व्यापक आचार या विचार नहीं ही स्थिर हुआ। जो अपने को 'हिन्दू' कहे वही 'हिन्दू', इतना ही सिद्ध हुआ।

याद रखना चाहिये कि 'हिन्दू' शब्द, वेद पुराण आदि प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में कहीं नहीं मिलता; प्रायः ढाई हज़ार वर्ष हुए, ईरान (आर्याना) और ग्रीस (आइयोनिया, यवन-देश) की पाश्चात्य जातियों ने, सिंधु नदी और सिंधु देश के नाम को बदल कर, हिंधु, हिन्दू, इंडिया, इंडस, बना दिया।

जो लोग इस दशा को, 'हिन्दू' की 'अनिर्वचनीयता' को, केवल दोषज्ञ दृष्टि से देखते हैं, वे तो इस को दुर्दशा समझते हैं। जो केवल गुणज्ञ दृष्टि से देखते हैं, वे इस को सुदशा जानते हैं। जो उभय दृष्टि से देखते हैं, वे विवेक करना चाहते हैं, कि इस में कितना अंश सुदशा का है और कितना अंश दुर्दशा का है।

निष्कर्ष यह है कि, जिसे अब, उस की विकृत अवस्था में, 'हिन्दू' धर्म

कहते हैं, उस का उचित नाम, संस्कृत परिष्कृत अवस्था मे, 'मानव'-धर्म था, और होना चाहिये। जैसे मनुष्य के शरीर मे बहुत विभिन्न कर्म, धर्म, रूप, आकार के अवयव, हैं; पर जब तक जीवात्मा सूत्र-आत्मा उन सब का संग्रह किये रहता है, तब तक वे सब अत्यंत भिन्न होते हुए भी मिल कर एक ही शरीर कहलाते हैं; पर जब वह सूत्रात्मा हट जाता है, तब उन के आपस मे तरह तरह के विकार और विरोध पैदा हो जाते हैं, शरीर मृत हो कर उस की एकता नष्ट हो जाती है, सब अवयव छिन्न भिन्न हो जाते हैं, और सड़-गल जाते हैं; जैसे माला के दाने सूत्र से बँधे रहते हैं, और शोभा देते हैं, पर उस के टूटने पर बिखर जाते हैं; वैसा ही आत्मसत्ता का, बुद्धिमत्ता का, आत्मज्ञ बुद्धि का, और विविध आचार विचारों का, हाल है। जब तक आत्मज्ञान और आत्मज्ञानी जन, विविध आचार विचारों को और विविध-आचार-विचारवानो को, अपने साथ, और एक दूसरे के साथ, बाँधे रहते हैं, तब तक वे सब, एक एक, अपनी-अपनी हद के अन्दर अपना-अपना कर्म धर्म करते रहते हैं, और समाज शरीर की शोभा सौंदर्य बल आदि की वृद्धि होती रहती है। जब ऐसा नहीं होता, तब वे एक दूसरे से कलह कर के मर मिटते हैं।

इसी लिये मनु ने कहा है,

सर्वेषाम् अपि च एतेषाम् आत्मज्ञानं परं स्मृतम्;
तद् हि अग्र्यं सर्वविद्यानां, प्राप्यते हि अमृतं ततः।

सब कर्मों, धर्मों, ज्ञानो से अधिक अत्यंत श्रेयस्कर आत्मज्ञान है, क्यों कि अमरत्व उसी से मिलता है।

आत्मा ही मे तो सब कुछ है, इस लिये आत्मज्ञान ही से, सब भिन्न अथवा विरुद्ध भी व्यक्तियों और धर्मों और वस्तुओं का, समन्वय हो सकता है। इसी आशय का अनुवाद याज्ञवल्क्य ने भी किया है,

इज्या-आचारदमा-अहिंसा-दान-स्वाध्याय-कर्मणाम्,
अयं तु परमो धर्मो यद् योगेन आत्मदर्शनम्।

यज्ञ, आचार, दम, अहिंसा, दान, स्वाध्याय आदि सब कर्मों का अन्तिम लक्ष्य, सब से बड़ा धर्म, यह है कि योग कर के आत्मा को देखै पहिचानै।

ऐसे आत्मज्ञानी मनुष्य को यह समझ हो जाती है कि कौन आदमी किस काम के योग्य है, और वह सब का यथा-स्थान प्रयोग कर के सब से यथोचित काम ले सकता है। जैसा मत्स्य पुराण मे कहा है,

नअमंत्रम्अक्षरं किंचित्, न च द्रव्यम्अनौषधम्,
नअयोग्यः पुरुषः कश्चित्, प्रयोक्ताएव तु दुर्लभः ।

कोई अक्षर नहीं जिस मे कोई विशेष मंत्रशक्ति नहीं, कोई द्रव्य नहीं जिस मे विशेष औषधशक्ति नहीं, कोई पुरुष नहीं जो सर्वथा अयोग्य ही हो; उस की विशेष शक्ति और योग्यता को पहिचान कर काम लेने वाला ही दुर्लभ है।

इस आत्मज्ञान पर प्रतिष्ठित, सनातन, बौद्ध, आर्य, वैदिक, मानव धर्म ने जो लोकसंग्रह किया है, उस के कुछ नमूने देखिये।

समन्वय का मुख्य उपाय।

विचार के विषय मे, यह प्रसिद्ध है कि, सब प्रकार के आस्तिक दर्शन और सब प्रकार के नास्तिक दर्शन इस वेदवेदांग वेदो-पांग-वेदांत-रूपी ज्ञानसागर मे मग्न हैं। जब यह सिद्धांत है कि सर्वव्यापक परमात्मा की, परमेश्वर की, चेतना मे, उसी की इच्छा से, सब कुछ है, तो इन विविध विचारों को भी उसी ने जगत् मे स्थान दिया है, यह भी निश्चयेन होगा।

ब्रह्म'''सर्वम्आवृत्य तिष्ठति ।
ब्रह्मैव सर्वाणि नामानि, सर्वाणि रूपाणि, सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति ।
सोऽयमात्मा सर्वानुभूः (उपनिषत्)

सब पदार्थों को घेर कर, लपेट कर, ब्रह्म बैठा है। सब नाम, सब काम, सब रूप, उसी एक ब्रह्म के, 'मै' ही के, हैं। वह यह आत्मा, 'मै', सब अनुभवों का अनुभव करने वाला है। मुसलमानो के कुरान मे भी ठीक यही बातें कही हैं, 'अल्लाहो बिकुल्ले शयीन् मुहीत्', 'लाहुल अस्मा उल् हसना', 'वसेआ रब्बोना कुल्ले शयीन् इल्मा।' अल्लाह कुल शयों को, सब चीजों को, अपने एहाते मे, अपने मे, घेरे है; सब इस्म, सब नाम, उसी के हसीन, सुन्दर, नाम हैं, रब्ब, ईश्वर, सब वस्तुओं का इल्म रखता है।

पुराणों में भी कहा है,

स सर्वधीवृत्त्नुभूतसर्वः ।
अद्रष्टस्व, अननुभूतोऽर्थो न मनः स्प्रष्टुमर्हति । (भागवत)
सोऽयमात्मा सर्वविरुद्धधर्माणामाश्रयः ।
द्वंद्वमयोऽयं संसारः । इत्यादि ।

सब धियों बुद्धियों की सभी वृत्तियां उसी 'मैं' की वृत्तियां हैं; सब अनुभव उसी के हैं; जो उस व्यापक अनुभव मे नहीं, वह किसी व्यक्तीय मन मे नहीं उदय हो सकता; सब विरुद्ध धर्म इसी मे हैं; इसी से संसार द्वंद्वमय है ।

तो इन विरुद्ध धर्मों और विचारों का समन्वय कैसे हो? इस समन्वय के मूल सूत्र ये हैं,

अधिकारिभेदाद् धर्मभेदः ।
देशकालनिमित्तानाम् भेदैर्धर्मो विभिद्यते ।
प्रस्थानभेदाद्दर्शनभेदः ।
स एव धर्मः सोऽधर्मः तं तं प्रति नरं भवेत ,
पात्रकर्मविशेषेण देशकालाववेक्ष्य च ।
(म० भा०, शांति, अ० ३१४)

न धर्मः परिपाठेन शक्यो, भारत !, वेदितुम् ;
अन्यो धर्मः समस्थस्य, विषमस्थस्य चापरः ।
(म० भा०, शां०, अ० १६६)

यस्मिन् देशे काले निमित्ते च यो धर्मोऽनुष्ठीयते,
स एव देशकालनिमित्तांतरेष्वधर्मो भवति ।
(शांकर-शारीरक भाष्य, ३. १. २५.)

अधिकारी के भेद से धर्म मे भेद होता है। देश, काल, निमित्त के भेद से धर्म मे भेद होता है । जिस स्थान पर खड़े होकर देखते हैं, उस स्थान के बदलने से, दर्शन, दृश्य का रूप, बदल जाता है । जो ही, एक देश काल पात्र निमित्त और कर्म के विशेष से, एक आदमी के लिये, धर्म है, वही दूसरे आदमी के लिये,

दूसरे देश काल पात्र निमित्त और कर्म के विशेष से, अधर्म होता है। केवल एक दो ग्रंथ पढ़ लेने से धर्म का पता नहीं लगता; न ही, हमेशा के लिये, कभी न बदलने वाले, धर्मों की फ़िहरिस्त, सूची, का परिपाठ कर दिया जा सकता है। अच्छी अवस्था का धर्म दूसरा और विषम अवस्था का धर्म दूसरा होता है।

उपासनाओं का समन्वय।

बच्चों को मिट्टी का खिलौना ही अच्छा लगेगा। उन को रेखागणित और बीजगणित पढ़ाने का यत्न करना व्यर्थ है।

यही दशा मतों की, सम्प्रदायों की, पन्थों की है। 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना।' 'भिन्नरुचिर्हि लोकः।' इत्यादि।

जब बचपन बीत जायगा तब मिट्टी के खिलौने आप ही छूट जायंगे, और दूसरे प्रकार के खिलौनो मे मन लग जायगा।

अप्सु देवा मनुष्याणां, दिवि देवा मनीषिणाम्,
बालानां काष्ठलोष्टेषु, बुधस्यआत्मनि देवता।
उत्तमा सहजाऽवस्था, द्वितीया ध्यानधारणा,
तृतीया प्रतिमापूजा, होमयात्रा चतुर्थिका। इत्यादि।

बालकों के देवता काठ पत्थर के खिलौनो मे, मूर्त्तियों मे; साधारण मनुष्यों के, तीर्थ माने हुए सरिता सरोवर के जल मे; मनीषी विद्वानो के, सूर्य चंद्र आदि आकाश मे हैं; बुध का, बोधवाले का, ज्ञानवान् का, देव, सर्वव्यापी अपना आत्मा ही है। सहज अवस्था, अर्थात् सब दृश्य संसार को ही परमात्मा का स्वरूप जानना, यह उत्तम कोटि है; विशेष विशेष ध्यान धारणा करना, यह उस से नीची दूसरी कोटि है; प्रतिमाओं की पूजा तीसरी कोटि है; होम और यात्रा चौथी है।

बालबुद्धि जीव, जिन की बुद्धि सर्वथा बहिर्मुख है, जो इन्द्रियग्राह्य आकार ही का ग्रहण कर सकते हैं, वे अपने मन का सन्तोष काष्ठ लोष्ठ की प्रतिमा से ही करें। यह बहिर्मुखता का मायारोग, मनुष्य का, ऐसा बढ़ा हुआ है कि, मुसलमान धर्म भी, यद्यपि वह अपने को बड़ा भारी बुत्-शिकन् यानी मूर्ति-भंजक कहता है, तथापि देवालयों को तोड़ कर मक़बरे, क़ब्र, तकिया, दरगाह, बनाता और

पूजता है। किसी उर्दू शायर ने ही कहा है 'ज़िंदगाहें तोड़ कर के मुर्दःगाहें भर दिया'। इसी बहिर्मुख माया का वर्णन उपनिषदों ने किया है।

परांचि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः, तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ;
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद्, आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।
(कठोपनिषत्)

स्वयंभू ने, ब्रह्मा (सृष्टि के लिये उन्मुख रजःप्रधान महत्तत्त्व, बुद्धितत्त्व) ने, सब इंद्रियों को, छिद्रों को, बाहर की ओर खोला, छेद कर के निकाला। इस लिये जीव बाहर की वस्तु देखता है; भीतर अपने को नहीं देखता। कोई कोई धीर विरक्त जीव, संसार की दौड़ धूप से, आवागमन और मृत्यु से, थक कर, विश्राम और अमरत्व को चाह कर, आंख भीतर फेरता है और प्रत्यगात्मा को देखता है।

पर, हां, उन बालकों के जो रखवारे वृद्ध बुज़ुर्ग हैं, उन को यह फ़िक्र रखनी चाहिये कि, बीच बीच मे, मिट्टी के खिलौनो के खेल के साथ साथ कुछ अक्षर-ज्ञान भी दिलाते जायँ, कुछ पुस्तकों का शौक़ पैदा कराने का यत्न भी करते रहें। यह न चाहें कि लड़के सदा खिलौनो मे ही खुश रहें, मूर्ख बने रहें, पोथी पत्रा कभी न छूएँ, और हम उन को हमेशा बेवक़ूफ़ रख कर अपना ग़ुलाम बनाये रहें।

और भी; यदि ये वृद्ध, सात्विक बुद्धिवाले और लोकहितैषी हों, तो इस खिलौनापूजा को भी बहुत शिक्षाप्रद, उत्तम सात्विकभाववर्द्धक, शिल्पवर्द्धक, शास्त्रप्रवर्त्तक बना सकते हैं। सुन्दर मन्दिरों से ग्राम की, नगर की, शोभा सौंदर्य बढ़ा सकते हैं, और उन से पाठशाला, चिकित्सालय, पुष्पवाटिका, उद्यान, चित्रशाला, संगीतादि विविधकलाओं के गृह, सार्वजनिक सभामंडप, सम्मेलनस्थान, व्याख्यानशाला, आदि का काम ले सकते हैं। योगसाधन आदि मे भी, ये मन्दिर, सीढ़ी का काम दे सकते हैं। क्योंकि,

सचक्षुषामनाधारा धारणा नउपपद्यते।

ध्यान धारणा प्रायः किसी मूर्त्त विषय के बिना नहीं सधती।

और भी तरह तरह के उत्तम वैज्ञानिक शास्त्रों के अनुकूल, आधिदैविक-शास्त्र-

सम्मत, आधिभौतिक-शास्त्र-सम्मत, कार्य मन्दिरों से लिये जा सकते हैं। पर जब उन के रखवारे अपने कर्तव्यपालन मे चूके; स्वयं शास्त्रों से विमुख, सच्ची विद्या से शून्य, दुष्ट वासनाओं मे मग्न, हो गये, और मन्दिरों को अपनी निजी जायदाद और दूकान बना डाला; तथा सरलहृदय उपासकों की बुद्धि को दिन दिन अधिकाधिक मूढ़ और कुण्ठित करने लगे, और झाड़ फूँक, टोना टोटका, जन्तर मन्तर 'भभूत' (विभूति-भस्म), फूँके थूंके पानी, आदि मे ही उन की बुद्धि अटका कर, और उन को हर तरह से बेवक़ूफ़ बना कर, उन से रुपया पैसा ठग कर, अपने ऐश आराम और बदमाशी पर खर्च करने लगे; तब आवश्यक हुआ कि इन का प्रतिरोध किया जाय। स्यात् इस दंडन और शिक्षण के लिये, ईश्वर को, भारत में, पहिले ईसाई, और फिर उग्र इस्लाम धर्म भेजना पड़ा। अन्यथा, 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे, मूर्तं चैव अमूर्तंच' (उपनिषत्), यह याद रखते हुए; और यह समझते हुए, कि सारा साकार जगत् ही उस निराकार जगदात्मा का रूप है; जनता को क्रमशः इस मूर्त रूप से अमूर्त रूप की ओर ले जाना उचित ही है, तथा मूर्तियों की और मूर्तिपूजा की आत्यंतिक निंदा करना अनुचित होगा।

दूसरे दर्जे की बुद्धि के लिये जलमय तीर्थ, सरिता, सरोवर आदि की अनुज्ञा दी गयी। अदृष्ट फल वे हैं जिन से सूक्ष्म शरीर, मनोमय अथवा विज्ञानमय कोश, अर्थात् अन्तःकरण, मन, बुद्धि, अहंकार, का संस्कार हो। दृष्ट फल वे हैं जिन का प्रभाव स्थूल शरीर पर पड़ता है। इन तीर्थों मे भ्रमण करने से, देशाटन के जो शिक्षाप्रद, बुद्धि की उदारता बढ़ाने वाले, संकोच हटाने वाले, फल हो सकते हैं, वे होने चाहियें; किंतु यह तभी हो सकता है, जब तीर्थरक्षक और पुजारी और भिखमंगे, कौआरोर कर के, यात्रियों की जान आपत्ति मे न डाल दें, और तीर्थों के जलों मे फल, फूल, पत्ता, कच्चा और पक्का अन्न डलवा कर पानी को सड़ा कर घिन्नाटा न कर डालें। एक सुन्दर पर सूने मंदिर में शिवपिंड पर कुत्ते को मूत्र करते मैंने आँखों देखा है। स्वयं पुराणों ने कहा है,

> अत्युग्रभूरिकर्माणो नास्तिका रौरवा जनाः,
> तेऽपि तिष्ठन्ति तीर्थेषु, तीर्थसारस्ततो गतः। भागवतमाहात्म्य

तीर्थ स्थानो का और यात्राओं का दृष्ट फल भी शरीर की स्वच्छता, दृढ़ता,

शीतोष्णसहिष्णुता, आदि होना चाहिये। पर जब तीर्थों का पानी इस तरह गन्दा किया जाय तो शरीर मे सफ़ाई की जगह बीमारी ही आवेगी। सन् १९२३ मे, काशी के चारो ओर की 'पंचक्रोशी' यात्रा करने, सकुटुम्ब, गया। एक पड़ाव पर, सुन्दर पुराना मन्दिर और सुहावना तालाब बना था। पर मन्दिर के पुराने अति सुन्दर नक़्क़ाशीदार पत्थर के छज्जे से, नये अति कुरूप बेमेल टीन के सायबान लटकाये थे; पुजारी लोगों ने, अपने रहने के सुबीते के लिये, मंदिर की दीवारों के सहारे मिट्टी की दीवारें और खपरैल डाल कर मंदिर को नितान्त नेत्रपीडक कर दिया था। तालाब की मछलियाँ, पंडे लोग बेंच कर रुपया अपने खर्च मे लाते थे; इस कारण से हरी काई की ऐसी मोटी तह सारे तालाब पर छाई थी कि पानी देख भी नहीं पड़ता था; और उस मे हर तरह की पानी को खराब करने वाली चीज़ें भी डाली जाती थीं; बदबू फैल रही थी। पंडे ज़ोर से रटने लगे, 'सर्धा हो तो आचौन करो, शङ्कलप करो।' मैं ने कहा 'मुझे श्रद्धा बहुत है, पर आप तो यहाँ के पंडा पुजारी ही हो, आप को जितनी श्रद्धा होगी उतनी मुझ को कहाँ हो सकती है, सो आप आगे रास्ता दिखाओ, एक लोटा भर आप आचमन कर के संकल्प करो, मै भी करूँगा।' फ़ौरन् राग बदल गयी, 'क्या कहें, तालाब की मछली लोग बेंच डालते हैं, इस से पानी गंदा रहता है' इति। प्रायः सभी पुराने सुन्दर मन्दिर और तड़ागों की यही दुर्दशा हो रही है। भोले अन्धश्रद्धालु 'आचौन' कर के बीमार पड़ते और मरते हैं।

सर्वोपरि यह सदा याद रखने और रखवाने की बात है कि,

> **न ह्यम्मयानि तीर्थानि, न देवा मृच्छिलामयाः;**
> **ते पुनंत्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः;**
> **तेषामेव निवासेन देशास्तीर्थीभवन्ति वै। (भागवत)**

जल से तीर्थ नहीं बनते, न देवता मिट्टी और पत्थर से बनते हैं; उन की उपासना करने से बहुत काल मे मन की शुद्धि होती है; पर सच्चे साधुओं के तो दर्शन और सत्संग से ही चित्त सद्यः शुद्ध हो जाता है। तीर्थ स्थानो मे जो सच्चे साधु, (साध्नोति शुभान् कामान् इति साधुः), तपस्वी विद्वान्, बसते हैं, वे ही तीर्थ के तीर्थङ्कर हैं, तीर्थों को तीर्थ बनाने वाले हैं। जो शोक के पार तारै वह

तीर्थ (तरति शोकं येन सहायेन सः तीर्थः गुरुः, तस्य निवासस्थानं च तीर्थं)। सप्त पवित्र पुरी आदि तीर्थ इसी हेतु से तीर्थ थीं, कि वे उत्तम विद्यापीठ का काम देती थीं। वहाँ की हवा मे भक्ति, विरक्ति, ज्ञान, भरा रहता था; क्योंकि इन के बताने और जगाने वाले, सच्चे साधु, तपस्वी विद्वान्, सच्चे पंडित, बहुतायत से वहाँ वास करते थे। जैसे आजकाल की यूनिवर्सिटीयों मे, किसी एक मे एक शास्त्र की, किसी दूसरी मे दूसरी विद्या की, पढ़ाई, चर्चा, हवा, अधिक रहती है; किसी शहर में किसी विशेष व्यापार की, किसी में कल कारखानो की, बहुतायत रहती है; और वहाँ जाने से उस के संबंध की विद्या सहज ही मे आ जाती है; इसी तरह, 'काश्यां मरणान् मुक्तिः', काशी में मरने से मुक्ति होती है, क्यों कि वहाँ आत्मज्ञान सहज मे साधुओं से मिलना चाहिये, चारो ओर उस की चर्चा होने से मानो हवा में भर रहा हो, और 'ऋते ज्ञानान् न मुक्तिः,' बिना ज्ञान के छुटकारा नहीं, किसी प्रकार की भी गुलामी और बंधन से, सामाजिक, वा राजनीतिक, वा सांसारिक बंधन से। इस रीति से इन दोनो विरुद्धवद् वाक्यों का विरोध-परिहार और समन्वय होता है। पर आजकाल इन पवित्र पुरियों की जो दुर्गति है वह प्रत्यक्ष है। जो मनुष्य 'काश्यां मरणान् मुक्तिः' के अक्षरों ही को पकड़े रहते हैं, और उस के हेतु को नहीं पकड़ते, और आत्मज्ञान का संचय नहीं करते, उन के लिये मुक्ति की आशा नहीं है; अपितु, काशी मे रह कर भी पाप करै तो ब्रह्म-राक्षस, ब्रह्म-पिशाच, हो जाता है; ऐसा पुराणो में कहा है। इन सब का तत्त्व, जिस से सब का समन्वय होता है, आध्यात्मिक ही है। उसी को सिखाने के लिये, जैसे बालक को खिलौनो के द्वारा शिक्षा दी जाती है, काशी नगरी, गंगा नदी, आदि के स्थूल रूपक वा प्रतीक, (अंग्रेज़ी 'सिम्बल', "आलेगरी', 'डायाग्राम') वृद्ध ऋषियों ने बनाये हैं; सहज स्थूल बहिर्मुख बातों से आरंभ कर के, क्रमशः सूक्ष्म अंतर्मुख बातों की ओर बुद्धि को ले जाने के लिये। यह सब लक्ष्य, सच्चे साधुओं के ठिकाने ठगों के भर जाने से, ध्वस्त हो गया।

असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समाचरेत्।

असत्य के द्वारा सत्य की ओर जाय। 'आत्मप्रकाशिका' बुद्धि ही सच्ची 'काशी' है; असी, वरुणा, गंगा, (प्रयाग मे, गंगा यमुना सरस्वती की त्रिवेणी),

इडा, पिंगला, सुषुम्ना नाडी हैं; 'ब्रह्मनाल' नाम की गली, 'ब्रह्म-नाडी', सुषुम्ना ही है; 'तयाऊर्ध्वं आयन् अमृतत्वन्एति', उस के द्वारा, शरीर को छोड़ कर, निकलने से, जीव अमृतत्व को, अमरता को, पाता है; 'मणिकर्णिका' भी मस्तिष्क के एक विशेष चक्र, कंद, पीठ का नाम है; इत्यादि योग मार्गों के स्थूल और सूक्ष्म शरीर सम्बन्धी रहस्यों की सूचना काशीखंड आदि ग्रन्थों मे की है। इन का यथातथ्य ज्ञान, बहुत परिश्रम से, सदाचार, यम, नियम आदि के अभ्यास से, और सच्चा ब्रह्मनिष्ठ गुरु मिलने से, ही, सिद्ध हो सकता है। एक एक साधारण शास्त्र सीखने मे सारा जीवन बीत जाता है, तो यह परम गहन शास्त्र और विद्या सहज मे कैसे आ जाय? पर साधारण ज्ञान, सामान्य-ज्ञान, हो सकता है, सहज मे भी।

तीसरे दर्जे की बुद्धि के लिये 'दिवि देवाः', सूर्य, चन्द्र, बुध, बृहस्पति आदि प्रत्यक्ष देवता हैं। इन की उपासना, गणित-फलित-आत्मक अद्भुत ज्योतिष शास्त्र की उपासना, 'मिटियोरोलोजी', 'आस्ट्रोनोमी' आदि, है। इन से जो कुछ काल-ज्ञान मे, कृषि में, समुद्रयात्रा आदि मे, सहायता मिल सके, वह सब इन की उपासना का इष्ट फल है। पर सहायता के स्थान मे जो विघ्न, ज्योतिषशास्त्र के कुप्रयोग से, हो रहे हैं, वह सब को विदित हैं! ज्योतिषियों के घरों मे विधवा हैं!

चौथी और अन्तिम कोटि, 'बुधस्य आत्मनि देवता।' जिस को यह विचार उत्पन्न हो गया है कि—यह देवता है या नहीं है, यह पुस्तक मानने योग्य है या नहीं है, यह ऋषिवत् या अवतारवत् या रसूल-पैगम्बरवत् या मसीह-वत् या गुरुवत् मानने योग्य है या नहीं है, यह धर्म मानने योग्य है या नहीं है, यह छोड़ने योग्य है या ओढ़ने योग्य है, यह शास्त्र है या अशास्त्र है, यह वेद है या अवेद है, इस का अर्थ यह है या दूसरा है, अन्ततो गत्वा कोई ईश्वर है या नहीं है, और है तो क्या है, उस का स्वरूप क्या है—इस सब का अन्तिम निर्णेता 'मै' ही हूँ, 'मै' ही है, आत्मा ही है—जिस को यह विचार दृढ़ हो जाता है, उस के लिये 'बुधस्य आत्मनि देवता', बुध का, बुद्धिमान् का, देव, स्वयं आत्मा ही है। परम ईश्वर, ईश्वरों का ईश्वर, 'मै' ही है। इस काष्ठा को जो पहुँचा है, उस के लिये सुरेश्वराचार्य ने, बृहदारण्यक वार्तिक मे, कहा है,

'एतां काष्ठामवष्टभ्य सर्वो ब्राह्मण उच्यते ।' जो ही जीव इस काष्ठा को पहुँचा है वह 'ब्राह्मण' है, और वही सच्चा ब्राह्मण है, ब्रह्मज्ञ है, ब्रह्मस्वरूप है ।

ऐसे के लिये 'काश्यां मरणान् मुक्तिः', स्थूल आधिभौतिक काशी की आवश्यकता नहीं; न ऐसी गंगा की जिस मे काशी का सब मल-मूत्र गिराया जाता हो ।

भावना यदि भवेत् फलदात्री, मामकं नगरमेव हि काशी;
व्यापकोऽपि यदि वा परमात्मा, तारकं किमिह नोपदिशेन् नः ।

भावना ही यदि फल देने वाली है, तो जिसी स्थान पर 'मै' हूँ, 'मै' है, वही काशी है; यदि परमात्मा व्यापक है, तो यहीं, कहीं, तारक मंत्र का उपदेश कर सकता है। सूफ़ियों का भी यही कहना है कि जो कोई हक़ीक़त (=हक़, तत्त्व, सत्य, परमार्थ)-इ-मुहम्मदी (=हम्द के, प्रशंसा के, योग्य, श्लाघनीय, प्रशंसनीय, स्तवनीय, महनीय), अर्थात् ब्रह्मज्ञान, को पहुँच गया है, वही मुहम्मद (=स्तुत्य, अर्हत्, पूज्य) है, रसीदा (पहुँचा हुआ) है; वही ऋच्छति, प्राप्नोति, (अंग्रेज़ी मे 'रीच,' पहुँचना) इति ऋषिः है, वही ब्राह्मण है, पैग़म्-बर (पैग़ाम, सन्देश, ईश्वर का संदेश, ले आने वाला), क्या पैग़म्-दिह (पैग़ाम देने वाला) भी, हो सकता है और है; नये वेद (जैसे याज्ञवल्क्य ने बनाया), नयी इंजील (जैसे ईसा ने), नये क़ुरान (जैसे मुहम्मद ने) बना सकता है। विशेष अवस्थाओं के लिये विशेष नवीन क़ायदे क़ानूनो धर्मों की तो बात ही क्या है; ऐसे ही मनुष्य के लिये याज्ञवल्क्य स्मृति मे कहा ही है कि वह स्वयं नयी आवश्यकता पड़ने पर नया धर्म बना सकता है ।

चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्षत् , त्रैविद्यमेव वा,
सा ब्रूते यं, स धर्मः स्याद्, एको वाऽध्यात्मवित्तमः ।

वेद पर, ज्ञानसमूह पर, प्रतिष्ठापित जो धर्म, उस के जानने वाले चार मनुष्यों की मंडली, अथवा अंगोपांग सहित तीन वेदों को अच्छी तरह जानने वालों की समिति, अथवा एक ही अध्यात्मवित्तम, ब्रह्मविद्वरिष्ठ, तत्त्वतः ब्रह्मज्ञान के हृदय मे प्रविष्ट, ज्ञानी मनुष्य, जो निर्णय कर दे, कि यह धर्म होना चाहिये, वही धर्म माना जाय ।

उपासनाओं का समन्वय, गीता मे, दूसरी रीति से किया है; पर आशय यही है।

यजंते सात्त्विकाः देवान्, यक्ष-रक्षांसि राजसाः,
भूत-प्रेत-पिशाचांश्च यजंते तामसाः जनाः;
देवान् देवयजो यान्ति, यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।

'मां', आत्मानं। गीता के १७ वें और, १८ वें अध्यायों मे, तथा मनु के १२ वें मे, बहुत बातों का समन्वय, सात्त्विक-राजस-तामस प्रकृतियों के अनुसार, कर दिया है; वह सब बहुत ध्यान से विचारने समझने योग्य है।

दर्शनों का समन्वय।

यह प्रायः उपासनात्मक विचार के भेदों की चर्चा हुई। दर्शनात्मक विचारों की भी यही दशा है। प्रसिद्ध है कि न्याय-वैशेषिक आरम्भवादी हैं, सांख्य-योग परिणामवादी हैं, पूर्वमीमांसा 'स्व'-कृत कर्म को ही प्रधान बताती हुई 'स्व' ही की प्रबलता दिखती है, और इस की पूर्ति उत्तर-मीमांसा 'स्व' को, 'आत्मा को, परम पदार्थ सिद्ध कर के करती है, और संसार को, दृश्य जगत् को, अन्-आत्मा को, उस आत्मा की लीला, उस का विवर्त्त, उलटा, बताती है, इस लिये विवर्त्त-वादी कहलाती है। संसार को, जगत् को, परमात्मा की चाहे सृष्टि (आरम्भ) कहिये, चाहे परमात्मा की प्रकृति का, स्वभाव का, परिणाम कहिये, चाहे परमात्मा की लीला, स्वप्न, मनोराज्य, अविद्या-विद्या, माया, विवर्त्त, आभास, अध्यास कहिये—सभी प्रकार अपने अनुभव के भीतर हैं, प्रतिदिन इन के उदाहरण देखने मे, अनुभव करने मे, आते हैं; एक ही 'वस्तु' के पक्ष, पहलू, अस्त्र हैं; एक परम दर्शन, आत्म-दर्शन, सम्यग्-दर्शन, के षड् दर्शन, षडस्त्र, हैं; किसी एक पर, केवल 'एम्फ़ासिस', अधिक अवधारण, प्रत्ययैकतानता, अतितानता, विशेष-तानन, से, वह अस्त्र वा पक्ष, अन्य से भिन्न और विरुद्ध भासने लगता है। 'ही' मत कहो, 'भी' कहो; 'यह ही' नहीं, 'यह भी', तो सब मे मेल ही मेल है।

अद्वैत वेदान्त को विवर्तवाद, आभासवाद, अध्यासवाद आदि भी कहते हैं।

जीव की बुद्धि मे इन तीन दृष्टियों के उदय होने का क्रम भी यही बताया

जाता है। पहिले, कुछ दिनो तक, उस को आरम्भवाद (और भक्ति) से सन्तोष होता है। फिर जब उस से असन्तोष होता है, तब परिणामवाद (और कर्म-प्राधान्य) मे प्रवेश करता है। अन्त मे विवर्त्तवाद (और ज्ञान) मे आता है।

जैसे बच्चा पहिले मा बाप का भरोसा करता है, सदा उन की गोद मे रहना चाहता है, अपने ऊपर भरोसा नहीं कर सकता; पर क्रमशः वयस् और शक्ति बढ़ने से कुछ कुछ अपने पैरों पर खड़ा होने लगता है, और माता पिता से भी सहारा सहायता लेता रहता है; और अन्त मे बालिग, प्रौढ़, हो कर बिलकुल अपने भरोसे खड़ा हो जाता है; वैसे ही जीव की, 'दर्शन' के विषय में भी, क्रमशः यात्रा होती है। और जैसे ही सब माता पिता, छोटे बालक के रूप, रंग, हंसने, बोलने, खेलने, और शक्तिहीन अधीनता पर नितांत मुग्ध, निहाल, दयामग्न, स्नेहमय, प्रसन्न होते हुए भी, भीतर से सदा यही मनाते रहते हैं, कि यह बालक शीघ्र ही पुष्ट हो जाय, बलवान्, बुद्धिमान्, विद्वान्, युवा, स्वाधीन, स्वाश्रित, हो कर स्वयं गृहपति गृहस्थ बन जाय; वा, यदि बालिका है, तो हृष्ट, पुष्ट, रूपवती, गुणवती, सुशिक्षिता, गृह के कार्यों मे दक्षा, और योग्य वर से विवाहिता हो कर गृहपत्नी हो जाय; वैसे ही, सच्चे आचार्य, गुरु, शिष्य के लिये, और संसार के संचालक 'अधिकारी' गण, ऋषि, महर्षि, देव, महादेव, सदा यही यत्न करते हैं कि सब जीव, क्रमशः, उत्कृष्ट और उत्कृष्टतर योनियों मे उठते हुए, उत्तम मानव हो कर, आत्मज्ञानी हो जायँ, और स्वयं 'अधिकारी' बन सकें, और जगद्-गृह के महा गार्हस्थ्य का बोझ उठाने मे सहायता दें। अस्तु। खोजी मानव जीव, पहिले तो अपने और समग्र संसार के कर्ता धर्ता धाता विधाता स्रष्टा पालयिता को, अपने से और संसार से अलग, एक ईश्वर मानता है; जैसे लड़की लड़के मिट्टी से खिलौने, चीथड़ों से गुड़िया, कुम्हार बर्त्तन, कारीगर मकान, बनाते हैं, वैसे परमेश्वर सब जगत् को; यह आत्यंतिक आरम्भवाद की अवस्था है। फिर इस दृष्टि में शंका उत्पन्न होती है; क्या ईश्वर विषम है, क्या निर्घृण है, क्या अल्पशक्ति अल्पज्ञ है, जो किसी को सुख किसी को दुःख देता है, और सभी को अधिकतर दुःख ही देता है, या उस को अपनी बनाई सृष्टि की भविष्य दुःखमयता का ज्ञान ही नहीं हुआ, और हुआ तो दुःख को और पाप को रोकने

मे, मूलतः नाश करने मे, असमर्थ है ? इस शंका मे पड़ कर आरंभवाद को छोड़ता है, और ऐसा समझने लगता है कि 'मैं', तथा 'मैं'-रूप अन्य 'पुरुष', और इन पुरुषों से अलग एक 'प्रकृति', यह सब अकस्मात्, अचानक, 'चान्स' से, मिल कर, पंगु-अन्ध न्याय से, संसार बनाते और चलाते हैं; जब प्रकृति, 'मैटर', को आंख नहीं, पैर ही है; चेतन पुरुष, 'स्पिरिट', 'सोल', को पैर नहीं, आंख ही है; एक मे क्रिया, एक मे ज्ञान; अंधे-लंगड़े मिल कर दुनिया मे व्यर्थ चक्कर लगा रहे हैं। इस दृष्टि मे भी शंका होती है, कि दो अपरिमित अनंत, अजर, अमर, विभु पदार्थ, बिना एक दूसरे को बाधा किये नहीं रह सकते, अवश्य ही एक दूसरे की व्यापकता, विभुता, सर्वशक्तिमत्ता, अ-विघ्नित-इच्छता, प्राकाम्य, यत्र-काम-अवसायिता आदि मे विघ्न डालेंगे, अड़चन पैदा करेंगे। 'द्वितीयाद् वै भयं भवति'। जब दूसरा जोड़ीदार सर्वशक्तिमान् मौजूद है, तो मुझे क्या भरोसा कि किसी दिन मेरी अमरता का अंत न कर देगा ? इत्यादि शंका परिणामवाद मे उत्पन्न होती है। न तो न्याय-युक्ति-अभिलाषिणी बुद्धि को ही संतोष होता है, न उस हृदय की तृप्ति होती है, जो उस 'स्वःपद', 'स्वाराज्य', 'आत्मवशता' को चाहता है, जिस का वर्णन पूर्वमीमांसा ने भी प्रायः वेदांत के पास ही के शब्दों मे किया है,

यन्न दुःखेन संभिन्नं, न च ग्रस्तम् अनन्तरम्,
अभिलाषोपनीतं च, तत्पदं स्वःपदऽास्पदम्।

जिस मे लेशमात्र भी दुःख न मिला हो, जो कभी नष्ट न होय, जो हार्दिक इच्छा के अनुकूल हो, अभिलाषा के अनुसार प्राप्त हो, वह पद, वह अवस्था, 'स्वः' पद का स्थान है, 'स्व'-शब्द का तात्त्विक अर्थ है। जब दो तुल्यों की यह दशा है, तो अनंत पुरुष और एक प्रकृति, सभी अजर अमर, कैसे कहाँ से माने जा सकते हैं ? ऐसी शंकाओं मे परिणामवाद डूब जाता है।

अन्त मे जिज्ञासु यह निश्चय करता है कि 'प्रकृति' अर्थात् 'स्व-भाव' किस का हो सकता है सिवा मेरे, सिवा 'स्व' के, सिवा 'मैं' के। जितने 'मैं' हैं, सब एक ही 'मैं' है, एक ही 'स्व' है। और उसी का स्व-भाव', 'स्व का भाव', प्रकृति है। प्रकृति, अर्थात् पुरुष की प्रकृति। लोकव्यवहार मे भी कहते ही हैं कि इस

पुरुष की प्रकृति अच्छी है, सात्विक है, साधु है, इस की प्रकृति दुष्ट है, राजस-तामस है। माया किस की? तो ब्रह्म की, मायावी की, मायी की, माया। 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्, मायिनं तु महेश्वरम्'। 'स्व'-भाव, माया, अविद्या-विद्या, प्रकृति, प्रधान, शक्ति आदि, सब इसी के पर्याय हैं। निष्क्रिय और सक्रिय का क्या संबंध और क्यों; निष्क्रिय मे, और निष्क्रिय से, सक्रिय की उत्पत्ति स्थिति लय कैसे; चेतन मे जड़ कहाँ से; 'यो, यं, येन च, यस्मै च, यस्माद्, यस्मिंश्च, यस्य च'—यह बारीक कथा यहाँ नहीं उठाई जा सकती। दर्शनशास्त्र का यह अन्तिम प्रश्न है। और इसी प्रश्न के उत्तर से सभी प्रश्न एक साथ उत्तीर्ण हो जाते हैं।*

प्रकृत मे इतना ही कहना है कि, आज कल जो प्रथा प्रचलित है उस के अनुसार, यथाकथंचित्, जैसे-तैसे, न्याय-वैशिषिक आरम्भवादी समझे जाते हैं, और इन मे ईश्वर और प्रकृति, दोनो 'स्व' (अर्थात् जीव) के बाहर, जीव से भिन्न, माने जाते हैं। योगदर्शन मे ईश्वर एक वैकल्पिक वस्तु, अन्यथासिद्ध, के ऐसा है; 'ईश्वर-प्रणिधानाद् वा'। सांख्य तो निरीश्वर प्रसिद्ध ही है। पर सांख्य और योग का साथ भी प्रसिद्ध है। इस लिये यह कह सकते हैं कि पुरुषत्वेन कथंचित् ईश्वर इन दो दर्शनो मे 'स्व' के भीतर आता है, और प्रकृति बाहर रह जाती है। पूर्व-मीमांसा मे प्रकृति भी 'स्व-कृत', 'स्व' की बनाई, जान पड़ने लगती है।

पूर्वजन्मजनितं पुराविदः कर्म दैवमिति संप्रचक्षते।
सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता; परो ददातीति कुबुद्धिर् एषा;
स्वयं कृतं स्वेन फलेन युज्यते; शरीर हे! निस्तर यत् त्वया कृतम्।
(गरुड़ पुराण)

कर्मणैव हि रुद्रत्वं विष्णुत्वं च लभेन्नरः। (देवी भागवत)
नमस्तत् कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति। (भर्तृहरि) इत्यादि।

ब्रह्मा भी जिस कर्म के अधीन है, उस कर्म ही को नमस्कार है; पहिले जन्मो मे किया हुआ, अपना ही 'कर्म', इस जन्म मे प्रबल 'दैव' बन जाता है और

* इस ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय, 'महा-समन्वय', मे, इस प्रश्न के उत्तरण का यत्न किया गया है।

कहलाता है; सुख दुःख देने वाला कोई दूसरा नहीं है; अपना किया कर्म ही अपने नैसर्गिक फल को पाता है; अपने कर्म से ही, जीव को रुद्रत्व, विष्णुत्व, आदि मिलता है। पूर्व जन्मो का 'कर्म' ही इस जन्म के लिये 'दैव' है।

स्पष्ट है कि ऐसी दृष्टि मे जीव से पृथक् ईश्वर की आवश्यकता कुछ कम ही सी है। यह पूर्व-मीमांसा भी निरीश्वर प्रसिद्ध है। इस मे ईश्वर तो 'स्व' के भीतर आ जाता है, पर प्रकृति जैसे कुछ उस से बाहर रह जाती है। उत्तर-मीमांसा अर्थात् वेदान्त मे दोनो, पुरुष और प्रकृति, पूर्ण रूप से 'स्व' के भीतर आ जाते हैं। प्रचलित पूर्व-मीमांसा मे कर्म और कर्मकाण्ड के छोटे छोटे विशेषों पर अधिक ज़ोर दिया जाता है; उस कर्म की 'स्व'-कृतता पर कम। इस लिये पूर्वमीमांसा का दर्शनत्व ही ठीक ठीक विदित नहीं होता, और पूर्व और उत्तर मीमांसा का मेल नहीं मिलता; प्रत्युत कर्म और ज्ञान का विरोध ही दिखाया जाता है। दोनो मे जो 'स्व' है, उस पर ज़ोर देने से, दोनो का समन्वय ठीक हो जाता है।

'प्रचलित' शब्द का प्रयोग ऊपर इस हेतु से किया गया है कि आर्ष सूत्रों और भाष्यों से छओ दर्शनो मे आत्मा और मोक्ष के स्वरूप के विषय मे वैसा भेद नहीं देख पड़ता, जैसा आज काल माना जाता है। अद्वैत वेदांत को विवर्त्त-वाद इस लिये कहते हैं कि जड़ दृश्य जगत् 'अनात्मा' है, नित्य, शुचि, सुखमय आत्मा का उल्टा विवर्त्त है अनित्य, अशुचि, दुःखमय है। तथा यह भी कारण हो सकता है कि, सांख्य मे पुरुष अनेक और प्रकृति एक मानी है उस को उलट कर अद्वैतवाद मे पुरुष, द्रष्टा, चितिशक्ति, चैतन्य, परमात्मा, एक, और प्रकृति अनेक, नाना, असंख्य अणु, भूत, ब्रह्मांडादि रूप की कही है। सांख्य दर्शन के सहगामी और परिपूरक योग दर्शन के उपलब्ध सूत्रों मे, 'अविद्या' का लक्षण ठीक वही किया है जो अद्वैत वेदान्त मे। न्याय सूत्रों मे आत्मा के जो लक्षण कहे हैं, वे अद्वैत से विरुद्ध नहीं हैं। इत्यादि।

सब विद्याओं, शास्त्रों, ज्ञानो का समन्वय।

तत्त्वतः स्वयं चेतनरूप हो कर भी, शरीरधारी, शरीर मे प्रविष्ट, होने से,

मनुष्य बहिर्मुख अधिक, और अन्तर्मुख कम, हो रहा है; स्थूल भावों से, बाह्य पदार्थों से, अधिक परिचित है; उन्ही के द्वारा, सूक्ष्म भावों, आन्तर मानस पदार्थों को समझता है; बहिःकरणों, इन्द्रियों, के सम्बन्धी शब्दों से, अन्तःकरण की बातों का 'ग्रहण' करता है, उन को जानता पहिचानता है। 'अक्ष' शब्द के कई अर्थ हैं; एक अर्थ, 'इन्द्रिय' है; उसी से 'प्रति-अक्ष' बनता है; अक्षों मे भी 'अक्षि', आँख, इस वर्त्तमान मन्वन्तर मे, श्रेष्ठ इन्द्रिय हो रही है; निकटतम, निश्चिततम, समुझने बूझने जानने (सम्बोधन, बोधन, ज्ञान) को, 'देखना' कहते हैं; नयन, नेत्र, (नेता, नायक), लोचन, रास्ता दिखा कर आगे ले चलने वाला, 'सम्-आलोचना' करने वाला, आगा-पीछा ऊँच-नीच गुण-दोष का आलोचन करने वाला, सुफल-दुष्फल को, कार्य-कारण को, अच्छी बुरी चाल को, देख भाल कर, अच्छा 'मार्ग' दिखाने वाला, दर्शक, चक्षु, 'दर्शन' है। 'दर्शन' शब्द, संस्कृत मे, चक्षु का भी पर्याय है। सब शास्त्रों के सार तत्त्व मर्म को जो दिखा दे, वह 'दर्शन' वा 'दर्शन शास्त्र'। 'दर्शन' पाया तो नई आँख पाया, जिस से सारी दुनिया का एक नया ही रूप देख पड़ने लगा; 'सर्वं प्रणवी-भवति'।

ऊपर कहा कि जिस ने अपने को, (आपा, आपणा, आत्तणा, आत्ता) आत्मा को, नहीं देखा, नहीं जाना, उस ने कुछ नहीं जाना; जिस ने आत्मा के सच्चे स्वरूप को ठीक ठीक 'पहिचाना' ('प्रत्यभिज्ञान' किया) उस ने सब कुछ देख लिया; 'एकेन विज्ञातेन सर्वं विज्ञातं भवति'; सब शास्त्र, 'मैं' के लिये बने; 'मैं' किसी शास्त्र के लिये नहीं बना; 'मैं' ही ने तो सब शास्त्रों को बनाया है; शास्त्रों ने 'मैं' को नहीं बनाया है; 'मैं' ही सब शास्त्रों का सार है; उस 'मैं' को जो शास्त्र 'दिखावै', वही उत्तमोत्तम शास्त्र, गीता का 'गुह्यतमं शास्त्रं', है; अथवा, 'मैं' का बनाया शास्त्र 'मैं' को क्या दिखा सकता है? तो यों कहो कि, जिस शास्त्र को 'मैं' ने, अपना मुख स्वयं देखने के लिये बनाया है, जैसे मुकुर, दर्पण, (दर्पण का पर्याय 'आ-दर्श' भी है), बनाया जाता है, वही सर्व-श्रेष्ठ सर्वाधिष्ठाता शास्त्र 'दर्शन' है; सब का मर्म, हृदय, रहस्य, दिखाने वाला वही है।

आत्मा ही, शरीर मे प्रविष्ट हो कर, अपने को शरीर मान कर, उस के द्वारा समस्त 'दृश्य' मे, जगत् संसार मे, प्रविष्ट, बद्ध, होता है। आत्मा ही, उस दृश्य

से, अपने को, द्रष्टा को, अलग, अन्य, पहिचान कर, मुक्त होता है। इन दोनो अवस्थाओं मे वह, जीवद्-बद्ध और जीवन्-मुक्त, क्रमशः, होता है; और जीव, जीवात्मा, कहलाता है। इन दोनो को, अविद्या-विद्या को, अपने भीतर रखने वाली अवस्था (दशा, धाम, भाव, पद, पदार्थ, तत्त्व) को, परमात्मा, ब्रह्म, परब्रह्म, सच्चिदानन्द-घन आदि शब्दों से सूचित करते हैं। जीवन्मुक्त अवस्था मे, जीव को, 'ईश्वर' भी कहते हैं; अपने शरीर पर, बहिष्करण अन्तःकरण पर, उस को कुछ कुछ ईशिता वशिता हो जाती है, और क्रमशः आसपास के 'दृश्य' पर भी; 'बद्धता' के भी, और 'मुक्तता' 'ईश्वरता' के भी, नीचे ऊँचे स्तर, (पाट, घाट, भूमि, काष्ठा, दर्जे, मंज़िल), होते हैं; बन्ध मे, मनुष्य-पशु-मणि-पाषाण, अधः-अधर-अधम, और मुक्तता मे, ऋषि-महर्षि-देवर्षि-दिक्पाल-लोकपाल-महाभूताधिकारी-देव -त्रिमूर्त्ति, (उपरि) उत्-उत्तर-उत्तम।

समग्र सम्पूर्ण दर्शन वही है जो, बन्धनावस्था का, प्रवृत्ति दशा का, भी वर्णन करै और उस को सम्हालने के प्रकार का ज्ञान दे, और उस मे से निकलने के, निवृत्ति के, उपाय का भी वर्णन करै और ज्ञान दे।, आयुर्वेद, वैद्यक, चिकित्सा-शास्त्र को चतुर्व्यूह कहा है; रोग का रूप बतावै, रोग का हेतु भी कहै, रोग की निवृत्ति के उपाय भी, और आरोग्य अर्थात् सच्ची स्वस्थता के रूप को भी जनावै। बुद्ध देव ने, इसी आशय से, अपने उपदेश के सार को भी चतुः-आर्य-सत्यऽात्मक कहा, दुःख, दुःख-हेतु, दुःख-हान-उपाय, निर्वाण। यह सब वेदान्त-दर्शन के भावों का ही अनुवाद है, बंध, अविद्या, विद्या, मोक्ष।*

इस दृष्टि से देखने से स्पष्ट हो जाता है कि दर्शन शास्त्र के क्रोड मे अँकवार मे, सभी शास्त्र आ जाते हैं; 'अपरा' विद्या वा विज्ञान ('सायंस') भी, और 'परा' विद्या वा प्रज्ञान ('मेटा-फ़िज़िक्स', 'सायंस आफ़ दी इन्-फ़िनिट') भी; अविद्यावस्था को सम्भालने, माजने, (मार्जन करने वाले), सुसंस्कृत परिष्कृत करने वाले, त्रिवर्गात्मक अभ्युदय अर्थात् धर्म-अर्थ-काम के साधने वाले, तीनो

---

* इस विषय का विस्तार करने का यत्न, मै ने, 'दर्शन का प्रयोजन' नामक ग्रन्थ मे किया है।

शास्त्र, (जिन के अन्तःपतित अन्य सब 'अपरा'-शास्त्र, 'सायंसेज़ आफ़ दी फ़ाइनाइट' हैं), तथा चतुर्थ वर्ग वा पुरुषार्थ निःश्रेयस का साधने वाला मोक्ष-शास्त्र, 'परा'-शास्त्र, भी। वर्णाश्रम धर्म द्वारा, स्वार्थ-परार्थात्मक सांसारिक सुख भी, और पारमार्थिक सुख भी, प्राप्त करने का उपाय, दर्शन ही दिखाता है। इसी लिये, ब्रह्मविद्या, आत्मदर्शन, अध्यात्मविद्या की इतनी महिमा कहा है; 'ब्रह्मविद्या सर्व-विद्या-प्रतिष्ठा', 'अध्यात्मविद्या विद्यानां', 'एकेन विज्ञातेन सर्वं विज्ञातं भवति'।

ज्ञान के दो मुख्य विभाग ऊपर कहे; वि-शेषों का, 'विकृतियों' का, व्यष्टियों का, अधिभूत-अधिदेव-ज्ञान, 'वि-ज्ञान'; 'प्रकृति' का, सत्ता-सामान्य का, सर्व-संग्राहक सामान्य नियमो का, समष्टियों का, समवायकारक, सब समवेत पदार्थ का, ज्ञान, 'प्र-ज्ञान'। सब ज्ञानो, विद्याओं, शास्त्रों, दर्शन-भेदों का समन्वय, एक हिन्दी दोहे मे, किसी मार्मिक धार्मिक जानकार ने बहुत अच्छा किया है; 'विद्या' के पर्याय रूप से 'कला' शब्द का प्रयोग कवि ने किया है,

कला बहत्तर पुरुष की ; वा मे दो सर्दार ;
एक जीव की जीविका, एक जीव उद्धार।

मार्गों का समन्वय।

कर्ममार्ग, भक्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग का भी ऐसा ही समन्वय होता है, जैसा तीन वादों का, अर्थात् जीव की अवस्था के भेद से; और प्रकृति अर्थात् स्वभाव के भेद से भी। यथा इच्छाप्रधान जीव को भक्ति और आरंभवाद; क्रियाप्रधान को कर्म और परिणामवाद; और ज्ञानप्रधान को ज्ञान और विवर्त्तवाद; अधिक प्रिय भी और उपयोगी भी है।

याद रहे कि यह सब कथन, 'वैशेष्यात्', 'प्राधान्यात्', के ही भाव से है; 'अत्यन्ततः', 'एकान्ततः' के भाव से नहीं; क्योंकि तीनो, (सत्त्वं, रजः, तमः, ज्ञान, क्रिया, इच्छा), सदा मिश्रित हैं; और मिश्रण मे, प्रत्येक की मात्राओं की कमी बेशी से, अनगिनत, अगणनीय, असंख्य भेद उत्पन्न होते हैं; पर सब भेद, उसी वैशेष्यात् की दृष्टि से, तीन राशियों मे विभजनीय हैं। यथा, यद्यपि

भागवत भक्तिग्रन्थ कर के प्रसिद्ध है, पर उस की भी मार्मिक अंतिम शिक्षा ज्ञान ही की है।

> वदन्ति तत्तत्त्वविदः तत्त्वं, यज्ज्ञानम् अद्वयं,
> ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।
> सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावम् आत्मनः,
> भूतानि भगवति आत्मनि, असौ भागवतोत्तमः। (भागवत)

अर्थात्,

> 'मैं ही एक, नहीं दूजो, सब जग मेरो सपना रे'—
> याही कौ तो तत्त्व कहतु हैं सत के जाननवारे।
> यह दुजागरी रहित, शून्य दुबिधा सों, अद्वयज्ञाना,
> यही ब्रह्म, याही परमातम, याही है भगवाना।
> जे भगवानहि कौ सब भूतन की सत्ता मे भावत,
> और सब कौ भगवानहि मे, ते ही भागवत कहावत।

टीकाकारों ने लिखा है कि, उस परम तत्त्व को भक्त लोग 'भगवान्' शब्द से, योग-साधक जन 'परमात्मा' नाम से, और योग-सिद्ध पुरुष 'ब्रह्म' पद से कहते हैं।

जैनो का जो सूत्र है, "सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः", (उमास्वामिकृत तत्त्वार्थाधिगमसूत्र), इस मे भी सम्यग्दर्शन का अर्थ शुभवासनात्मक भक्तिमार्ग, सम्यग्ज्ञान का अर्थ विशुद्धज्ञानात्मक ज्ञानमार्ग, और सम्यक्चारित्र का अर्थ सत्कर्मात्मक कर्ममार्ग ही है।

> योगाःत्रयो मया प्रोक्ताः नृणां श्रेयो-विधित्सया;
> ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च; न उपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्।
> निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनाम् इह कर्मसु;
> तेषु अनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्;
> यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्,
> न निर्विण्णो नातिसक्तो, भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः। (भागवत)

अग्नौ क्रियावतो देवो, हृदि देवो मनीषिणाम्,
प्रतिमासुअल्पबुद्धीनां, ज्ञानिनां सर्वतः शिवः ।
शिवम्आत्मनि पश्यन्ति, प्रतिमासु न योगिनः;
आत्मस्थं ये न पश्यन्ति, तीर्थे मार्गन्ति ते शिवम् ।

(शिव पुराण)

अवतारों मे, महात्माओं मे, विशेष कला से प्रादुर्भूत 'मै' ने, परमात्मा ने, मनुष्यों की भलाई के लिये, तीन प्रकार के योग, उपाय, बताये हैं । जिन जीवों को संसार से निर्वेद, वैराग्य, हो गया है, जो प्रवृत्तिमार्गीय गार्हस्थ्य के कर्मों का न्यास, सन्यास, करने के लिये तयार, परिपक्व, हैं, उन के लिये ज्ञान-योग । जो सांसारिक कामनाओं व्यवहारों और कर्मों से विरक्त नहीं, उन के लिये कर्म-योग। जो न तो अति सक्त हैं, न अति विरक्त हैं, जिन्हों ने मेरी, 'मै' की, कथा इधर उधर कुछ सुनी है, और जिन के मन मे 'मै' की ओर कुछ श्रद्धा उत्पन्न हो गयी है, उन के लिये भक्तियोग ।

सांसारिक कर्मों मे रक्त के लिये देव 'अग्नि' है, (यथा, प्रत्यक्ष ही, अंग्रेज़ आदि पश्चिमी जातियों का) । मनीषी हृदयालु रसिक भावुक भक्त जीव, 'इष्ट देव' का 'हृदय' मे कल्पन भावन करते हैं । अल्पबुद्धि बालक का देव 'प्रतिमा' मे है । ज्ञानियों के लिये 'शिव' अर्थात् 'सर्वशुभमय परमात्मा' सर्वत्र व्याप्त है । योगी जन, आत्मा मे, अपने मे, ही, शिव को देखते हैं, प्रतिमाओं मे नहीं । जो बालबुद्धि जन अभी इस काष्ठा को नहीं पहुँचे हैं, वे तीर्थों मे शिव को ढूँढते फिरते हैं ।

ऊपर कहा कि सभी दर्शनो के ऋषि-कृत ग्रन्थों ने आत्मा और मोक्ष का स्वरूप प्रायः एक सा कहा है । थोड़े विस्तार से यह एक बात इस स्थान पर कह देना चाहिये । जीव और जगत् से भिन्न सर्वजगत्स्रष्टा ईश्वर है, यह वाद आधुनिक न्यायवैशेषिक मे प्रसिद्ध है । तिस मे भी, जीव और मूल परमाणु अनादि ही हैं, ईश्वर के बनाये नहीं हैं । पर आर्ष सूत्र भाष्य आदि मे ऐसा नहीं देख पड़ता । न्याय सूत्र मे जहाँ प्रमेय गिनाये हैं वहाँ आत्मा ही कहा है, आत्मा से पृथक् ईश्वर की चर्चा नहीं की है । चतुर्थ अध्याय मे, जहाँ 'अपर आह' कर के

प्रावादुकों के प्रवादों की चर्चा की है, वहाँ, ईश्वर के कारणत्व का भी एक वाद है, ऐसा कह दिया है। निष्कर्ष यह कि प्राचीन सूत्रों और भाष्यों मे, सभी दर्शनो मे 'आत्मा' ही प्राधान्येन आता है, और उन ग्रंथों मे विरोध प्रायः नहीं देख पड़ता हैं। प्रत्युत, क्रमशः विचार की और ज्ञान की सूक्ष्मता की वृद्धि, सोपान-आरोह-क्रमेण, देख पड़ती है। अर्थात् सर्वव्यापिनी चेतना ही सब संसार की अधिष्ठानकारण भी, उपादानकारण भी, निमित्तकारण भी, सहकारिकारण भी, सभी कुछ है, यही 'वेद के अन्त' मे 'वेदान्त' का, निर्णय है। आधुनिको ने जो परस्पर खण्डन पर ही ध्यान दिया है, मण्डन पर नहीं, इस का हेतु, कलियुगोचित कलहप्रकृति ही समझना चाहिये। अंततः आत्मा में सब का पर्यवसान हो जाता है।

यथा, आज काल, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा का, कर्मकांड और ज्ञानकांड का, घोर विरोध ही विरोध पुकारा जाता है। पर पूर्वमीमांसा के मूल ग्रन्थ जैमिनिसूत्र और शाबर भाष्य मे, पहिला ही सूत्र और भाष्य यह है, 'अथातो धर्म-जिज्ञासा। धर्मो हि निःश्रेयसेन पुरुषं सयुनक्तीति प्रतिजानीमहे।' 'अब धर्म की जिज्ञासा की जाती है, जिस धर्म के विषय में हमारी यह प्रतिज्ञा है कि वह पुरुष को निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष देता है।' जो ही पदार्थ, विविध दर्शनो मे, अपुनरावृत्ति, निःश्रेयस्, अपवर्ग, कैवल्य, निर्वाण, आत्यंतिक दुःखनिवृत्ति, स्वरूपप्रतिष्ठा, स्वःपद, इत्यादि विविध नामो से कहा है।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थम् अनुपश्यति,
तत एव च विस्तारं, ब्रह्म सम्पद्यते तदा।
यस्मिन् सर्वं, यतः सर्वं, यः सर्वं, सर्वतश्च यः,
यश्च सर्वमयो नित्यं, तस्मै सर्वात्मने नमः।

महाभूतों के असंख्य रूपों को, सब को, जब एक आत्मा के भीतर प्रवेश करते हुए, वा प्रविष्ट, देखता है; और उसी एक आत्मा से सब असंख्य अनेकों का विस्तार होते हुए, वा हुआ, देखता है, तब जीव का ब्रह्म अर्थात् ज्ञान सम्पन्न सम्पूर्ण हो जाता है, और वह जीव स्वयं ब्रह्म रूप सम्पन्न हो जाता है। पहिला अंश, देखने का, विज्ञान है; दूसरा, प्रज्ञान। सब संसार उसी मे, उसी से, वहीं, है। उसी को नमस्कार हैं।

सर्वेषु वेदेषु अहमृएव वेद्यः, वेदान्तकृद् वेदविद्‌एव चाहं ।
ॐ अहम् ब्रह्मास्मि । सर्वं खलु इदं ब्रह्म । ॐ ।

सब वेदों द्वारा, 'अहं', 'मै' ही वेदनीय है; 'मै' ही वेद वेदान्त का बनाने वाला भी जानने वाला भी है; 'मै' ही ब्रह्म है, मै ही यह सब है ।

इन मार्गों, वादों, दर्शनो, उपासनाओं के अन्तर्गत अनन्त भेद हैं, किन्तु 'सब' के उपास्यों मे तत्त्वतः एक ही परमात्मा अनुस्यूत है, इस बात की याद बनाये रक्खे, तो सभों से आत्मा का उत्कर्ष क्रमशः प्राप्त हो सकता है । यही सब का समन्वय है ।

आत्मैव देवताः सर्वाः, सर्वमृआत्मनिअवस्थितम् । (मनु)

यस्मिन्‌इदं, यतश्चइदं, येनइदं, य इदं स्वयम्,
योऽस्मात्‌परस्मात् च परः, तं प्रपद्ये स्वयंभुवम् । (भागवत)

आत्मा ही सब देवता है; सब कुछ आत्मा मे, 'मै' मे, है; प्रत्यक्ष ही, यदि 'मै' नहीं, तो कुछ भी नहीं ।

ईरान देश के वेदान्ती सूफी हाफ़िज़ ने भी यह पहिचाना है ।

सालहा दिल् तलबे जामि-जम् अज़् मा मी कर्द;
उन्चे ख़ुद दाश्त, ज़ि बेगाना तमन्ना मी कर्द । (हाफ़िज़)
हमा अन्दर ऊस्त, हमा अज़ानि ऊस्त,
हमा बराए ऊस्त, हमा अज़् ऊस्त,
हमा ब ऊस्त, हमा ऊस्त । (सूफ़ी)

बरसों तक मेरा दिल, दूसरों से उस चीज़ को माँगता रहा, जो ख़ुद उस के पास हमेशा मौजूद थी । सभी तो उस के भीतर है, उस के लिये है, उसी से है, उसी मे से है, वही है, और वह 'इस' 'उस' सब से परे भी है ।

मनुष्य-भेदों का समन्वय ।

सनातन-वैदिक-आर्य-बौद्ध-मानव धर्म मे अध्यात्मशास्त्र के बल से, चार विशेष प्रकृतियों, स्वभावों, के अनुसार, मनुष्यों का, चार वर्णों मे वर्गीकरण कर के, सब आचार विचारों का भी समन्वय किया है । इस विषय मे कहने को

तो बहुत है, पर शक्ति मेरे पास कम है, इस लिये, तथा स्थान और समय के विचार से भी, दिग्दर्शन रूप से कुछ उद्देश-मात्र कहूँगा ।

वर्ण शब्द का अर्थ यदि रंग समझा जाय (आवृणोति, जो छाये रहता है, वह वर्ण) तो पृथ्वी पर इस समय प्रत्यक्ष चार रंग की चार मुख्य जातियाँ मनुष्यों की मिलती हैं । अफ़ग़ानिस्तान, ईरान, सरकाशिया, जार्जिया, यूरोप, उत्तर जापान, अमेरिका आदि मे श्वेत । अमेरिका के कुछ भागों मे लुप्तप्राय रक्त अथवा ताम्र वर्ण । चीन, जापान, बर्मा, स्याम, तिब्बत आदि मे पीत । आफ्रिका मे कृष्ण । भारतवर्ष मे काश्मीर मे श्वेत, राजस्थान मे कुछ कुछ ताम्रवर्ण, बहुतेरे प्रान्तों मे भूरे, गोहूं के रंग के, अथवा पीले, तथा काले । चातुर्वर्ण्य की दृष्टि से इन का समन्वय पुराण के श्लोक में किया है,

ब्राह्मणानां सितो वर्णः, क्षत्रियाणां तु लोहितः,
वैश्यानां पीतकश्चैव, शूद्राणामसितस्तथा ।

(म० भा० शान्ति० अ० १८६)

ब्राह्मणों का रङ्ग सफेद, क्षत्रियों का लाल, वैश्यों का पीला, शूद्रों का काला।

पच्छिम देशों के शिष्टतमम्मन्य सभ्यतमम्मन्य लोग, भ्रातृभाव और लोकतन्त्रवाद और समाजवाद-साम्यवाद ('ह्यूमन ब्रदरहुड' और 'डिमाक्रेसी' और 'सोशलिज़्म-कम्यूनिज़्म') का डिंडिम करते हुए भी, अपने देशों मे, तथा दूसरों से छीन कर अपनाये और बसाये हुए देशों मे, यथा यूरोप, अमेरिका, आस्ट्रेलिया, साउथ आफ्रिका, आदि मे, पीले, भूरे, और काले आदमियों को रहने देना ही नहीं चाहते । ताम्र वा रक्त मनुष्यों के वंश का तो इन पश्चिमी श्वेतों ने, अमेरिका मे, हत्या से प्रायः उच्छेद ही कर दिया है । भारतवर्ष के हिन्दू आदमी, छूआछूत की 'अति' की दुर्बुद्धि से ग्रस्त हो कर भी, यह नहीं कहते कि दूसरी जाति या दूसरे वर्ण के आदमी इस देश से निकाल दिये जायँ । आपस मे लड़ते झगड़ते हुए भी किसी तरह परस्पर निर्वाह कर ही रहे हैं ।

गुण-कर्म की दृष्टि से, सांख्य के शब्दों मे, मनुष्यभेदों का समन्वय यह है,

सत्त्वगुणो ब्राह्मणो वर्णः, क्षत्रियस्तु रजोगुणः,
तमोगुणस्तथा वैश्यः, गुणसाम्यात्तु शूद्रता । (भविष्य पुराण ३-४-२३)

ब्राह्मणो का गुण सत्त्व, क्षत्रियों का रजस्, वैश्यों का तमस्; तीनो गुणो की मात्रा समान-प्राय, तुल्य-प्राय, होने से शूद्र। 'प्राय' इस लिये, कि नितान्त साम्य से तो प्रलयावस्था, निद्रावस्था, ही, हो जाय ।

इस जगह यह याद रखना चाहिये कि, इस श्लोक का यह अर्थ नहीं है कि कोई एक वर्ण केवल एक ही गुण का बना है और उस मे दूसरे गुण हैं ही नहीं; ऐसा नहीं; किंतु केवल प्राधान्य उस एक गुण का उस मे है; इतना ही अर्थ है । ब्रह्मसूत्र ही है,

वैशेष्यात् तु तद्वादस्तद्वादः

जो लक्षण जिस मे विशेष रूप से देख पड़े, उसी के अनुसार उस का नाम पुकारा जाता है । यथा शिव-पार्वती तमोमय, विष्णु-सरस्वती सत्वमय, ब्रह्मा-लक्ष्मी रजोमय हैं, ऐसा पुराणो का संकेत है । अन्यथा 'सर्वं सर्वत्र सर्वदा ।'

और

न तद् अस्ति पृथिव्यां वा, दिवि देवेषु वा पुनः,
सत्त्वं प्रकृति-जैर् मुक्तं यत् स्याद् एभिस्त्रिभिर्गुणैः । (गीता)

तथा सांख्यकारिका भी,

अन्योऽन्य-अभिभव-ऽाश्रय-मिथुन-जनन-वृत्तयश्च गुणाः ।

तीनो गुण सर्वथा सर्वदा सर्वत्र एक दूसरे से मिले ही रहते हैं, अलग हो ही नहीं सकते । पर हाँ, एक समय एक स्थान मे एक प्रबल होता है, दूसरे दो दबे रहते हैं । और इसी आध्यात्मिक हेतु से 'कर्मणा वर्णः' और वर्ण-परिवर्त्तन सिद्ध होता है । वायु पुराण, पूर्वार्ध, अ० ८, मे स्पष्ट कहा है कि पूर्वकाल में,

अप्रवृत्तिः कृतयुगे कर्मणोः पुण्य-पापयोः,
वर्णाश्रमव्यवस्थाश्च न तदाऽऽसन् न संकरः ।

कृतयुग सत्ययुग मे न पुण्य था न पाप था, न वर्ण और आश्रम की व्यवस्था थी, न संकर जातियाँ थीं । तथा महाभारत मे,

न विशेषोऽस्ति वर्णानां, सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्,
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि, कर्मभिर्वर्णतां गतम् ।

सभी ब्रह्मा का बनाया हुआ है, इस लिये सभी जगत् ब्राह्म है; वर्णों मे कोई आत्यंतिक विशेष अर्थात् भेद नहीं है; ब्रह्मा ने सब मनुष्यो को आदि मे ब्राह्म वा ब्राह्मण ही बनाया, पर क्रमशः कर्मभेद से वर्ण-भेद हुआ ।

यही कथा दूसरे प्रकार से यों कही है कि,

जन्मना जायते शूद्रः, संस्काराद् द्विज उच्यते ।

सभी मनुष्य पैदा होते हैं शूद्र, पर भिन्न भिन्न संस्कार से भिन्न भिन्न प्रकार के द्विज, ब्राह्मण, वा क्षत्रिय, वा वैश्य, हो जाते हैं । मतलब यह कि पैदाइश से सब एक से होते हैं, चाहे सब को ब्राह्म अथवा ब्राह्मण कहो, चाहे सब को शूद्र कहो । कर्म से, संस्कार से, पृथक् पृथक् नाम पीछे से पड़ते हैं ।

मनुष्यों के भेदों का, वर्णों वर्गो दलों राशियो पेशों रोज़गारों का, सर्वोत्तम समन्वय, एक रूपक के द्वारा, ऋग्वेद मे, प्राचीन ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्मदर्शी, प्रजावत्सल, ऋषियो ने किया है । सब मानवों, मनुष्यो, मनुजो के हित के लिये, धर्म-कर्म के विभाग द्वारा, अधिकार-कर्त्तव्य के बंटवारे से, काम-दाम को बांट कर, सब सामाजिक और वैयक्तिक जीवन के व्यवहार को सरल सुकर बनाने के लिये, ईर्ष्या-मत्सर-लोभ आदि से उत्पन्न द्वेष-द्रोह-संघर्ष-युद्ध को कम करने और परस्पर संतोष और प्रीति को बढ़ाने की दृष्टि से, इन का समन्वय ऐसा घनिष्ठ किया है कि इन को, मुख, बाहु, ऊरु-उदर, पाद की उपमा से, अंगांगी बताया है; एक ही समाज-शरीर के चार अविच्छेद्य अवयव कहा है । जिस के स्थान मे आजकाल 'छूओ मत' 'छूओ मत' की मारमार मची है । इस आफ़त का मूल कारण अहंकार से जनित दंभ है । कृष्ण मिश्र ने प्रबोध चंद्रोदय नाटक में इन्हीं नाम के पात्रों के, अर्थात् अहंकार और उस के पौत्र दंभ के, परस्पर वार्तालाप में, इस का चित्र खींच कर दिखाया है । नाटक को लिखे प्रायः नौ सौ वर्ष हो गये । दंभ कहता है अहंकार से,

सदनमुपगतोऽहं पूर्वमम्भोजयोनेः; सपदि मुनिभिरुच्चैरासनेषूज्झितेषु,
सशपथमनुनीय ब्रह्मणा, गोमय-अम्भः-परिमृजित-निज-ऊरौ आशु संवेशितोऽस्मि ।

'कुछ दिन हुए, मै अपना दर्शन, ब्रह्मा को देने के लिये, उन के घर पर गया । वहां जो मुनि लोग बैठे थे, वे मुझे देखते ही घबरा कर सहसा अपने ऊँचे

आसन छोड़ कर उठ खड़े हुए, और मुझे उन पर बैठने को कहने लगे। पर मै ने उन के छूए हुए, अपवित्र, आसनो पर बैठने से नाक सिकोड़ा। तब ब्रह्मा ने जल्दी से, अपनी एक जाँघ को गोबर से लीप कर पवित्र किया, और, शपथ के साथ 'मेरी क़सम आप को, आप इसी जाँघ पर ज़रूर बैठिये', ऐसा मेरा अनुनय विनय कर के, मुझ को मनाय के, अपनी जाँघ पर बिठाया'। हिन्दू समाज की बुद्धि की आज काल यह दुर्दशा हो रही है कि, जो मनुष्य चाहता है कि यह बौद्ध-सनातन-आर्य-मानव-वैदिक धर्म फूले फले और फैले, और समस्त पृथ्वी तल के सब मनुष्य इस की छाया के नीचे आवें और विश्राम पावें, वह नास्तिक, अश्रद्धालु, सभा-बाह्य, असभ्य, धर्मद्रोही समझा जाता है; और जो चाहता है कि यह समस्त-मानवधर्म, पिंडीभूत हो कर, एक उसी के शरीर मे घुसा रहे और जीर्ण शीर्ण हो जाय, और वही, अथवा उस का कुल ही, अथवा बहुत उदारभाव उमड़ा तो उस की अवान्तर जाति के लोग ही, एतद्धर्मयुक्त धार्मिक अथवा हिन्दू समझे जायँ—ऐसा मनुष्य श्रद्धालु, आस्तिक, धर्मनेता, धर्मधुरंधर, धर्मालंकार, धर्मध्वज, धर्मोद्धारक, धर्ममार्तंड , धर्मावतार समझा जाता है।

यहाँ तक दुर्बुद्धि बढ़ी है कि कविता के रूपक और उपमा को रूपक और उपमा नहीं समझते, किंतु अक्षरशः ठीक मानने लगे हैं। वेद मे सुन्दर, ओजस्वी, गुर्वर्थ, सारगर्भ शब्दों मे मनुष्यसमाज का रूपक बाँधा है। इस समाज के शरीर मे सत्त्वप्रधान मनुष्य मुखस्थानीय है—ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्। तथा रजःप्रधान क्रियाप्रधान जीव बाहुस्थानीय है—बाहू राजन्यः कृतः। तथा तमःप्रधान इच्छाप्रधान जीव ऊरुस्थानीय है—ऊरू तदस्य यद् वैश्यः। और अनभिव्यक्त बुद्धि वाले जीव, जिन्हीं मे से अन्य सब जीव क्रमशः विकसित होते हैं, पादस्थानीय हैं—पद्भ्यां शूद्रोऽजायत; प्रत्यक्ष ही सब शरीर का बोझ पैरों के ऊपर रहता है। यही अर्थ महाभारत मे भीष्मस्तवराज के एक श्लोक में कहा है,

ब्रह्म वक्त्रं, भुजौ क्षत्रं, कृत्स्नमूरूदरं विशः,
पादौ यस्याऽश्रिताः शूद्राः, तस्मै वर्णात्मने नमः।

वर्णात्मक समाज विष्णुरूप है, उस के ये चार पेशे वाले वर्ण, शिर, भुजा, धड़,

और पैर हैं—यह सीधा सादा रूपक है। ध्यान देने की बात है कि वेद की ऋचा मे भी, और महाभारत के श्लोक मे भी, यह नहीं कहा है कि ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य, मुख-बाहु-ऊरूदर से उत्पन्न हुए, किन्तु यह कहा है कि मुख-बाहु-ऊरूदर थे, अर्थात् तद्वत्, तत्स्थानीय, थे। ऐसे ही पुरुषसूक्त के दूसरे श्लोकों का भी अर्थ सीधा सीधा है; यथा,

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।

इस महासभा मे, इस समय, बहुसंख्यक स्त्री पुरुष एकत्र हैं। प्रत्यक्ष ही यह जनसमुदाय सहस्रशीर्षा है, सहस्राक्ष है, सहस्रपात् है। अध्यात्मदृष्टि से समस्त जगत् परमात्मा का शरीर है, और सब जीव उस एक महाविराट् शरीर के अंग-रूप हैं ही। पर नहीं, सीधे सादे अर्थ मे रस नहीं; इस लिये तरह तरह के अनर्थ किये गये। ब्रह्मदेव बड़े बूढे लम्बे बाल और दाढ़ी वाले चार मुँह के पितामह हैं, और उन के मुँह से (किस मुँह से यह ठीक पता नहीं लगता) ब्राह्मण कूदे, बाँह से क्षत्रिय निकल पड़े, जाँघ से वैश्य पैदा हो गये, पैर से शूद्र। इस वास्ते ये चार अलग अलग जाति के जन्तु हैं, जैसे बैल, घोड़े, हाथी, और ऊँट।

पुराणों मे, महाभारत मे, दूसरे ग्रन्थों मे, बहुशः लिखा है कि 'ब्रह्मा' शब्द से वही पदार्थ लिया जाता है जिस को सांख्य मे 'महत्', 'बुद्धि', 'महान्-आत्मा' आदि शब्दों से कहते हैं। वासुदेव, प्रद्युम्न, संकर्षण, अनिरुद्ध, इस चतुर्व्यूह का भी अर्थ वही सांख्य वेदान्त का अन्तःकरण-चतुष्टय है, अर्थात् चित्त, (अथवा जीव), बुद्धि, अहंकार, मन। एवं शैवतंत्र मे जो सद्योजात, अघोर, वामदेव, तत्पुरुष, ईशान, पंच ब्रह्म कहे हैं, वह भी यही चार और परमात्मा हैं। कहीं पञ्च ब्रह्म को पंच महाभूत-स्वरूप भी बताया है। रूपकों मे लिखने कहने समझाने का हेतु यह है कि, जिन की बुद्धि अन्तर्मुख नहीं है, बहिर्मुख ही है, उन को तरह तरह के आकारों से समुझा बुझा कर धीरे धीरे अन्तर्मुख किया जाय, साकार उपासना से क्रमशः निराकार दर्शन की ओर फेरा जाय। यह तो था प्राचीन आर्ष ग्रंथकारों और सम्प्रदायों के प्रवर्त्तकों का उद्देश्य। सांख्य योग दर्शन के ही शब्दों का अनुवाद, सब शैव, शाक्त, वैष्णव आदि तंत्रों, सम्प्रदायों, पंथों ने, उपासकों की प्रकृति के अनुसार, (उत्तम नहीं) मध्यम

सात्विक, वा राजस, वा तामस रूपों से किया है। पर अक्षर को पकड़ने से, और तात्त्विक अर्थ को भुला देने से, भारी दोष पैदा हो गये हैं। उन प्राचीन अर्थों को ठीक ठीक पहिचानने से ही विरोध-परिहार हो कर सब बातों का उचित रूप से समन्वय हो सकता है। और यह संशोधन और सुधार, विना अध्यात्मशास्त्र के नहीं हो सकता, क्योंकि उसी की नीव पर यह समग्र मानवधर्म और वर्णाश्रमात्मक समाज-निर्माण प्रतिष्ठित है। यदि, वेद पुराण आदि मे कहे रूपकों को रूपक न मान कर, अक्षरशः ठीक वस्तु-निर्देश ही मानना चाहिये, तो उपरि उक्त कृष्ण मिश्र के श्लोक को भी 'दम्भ' के चित्रण का रूपक न मान कर, अक्षरशः सत्य तथ्य क्यों न माना जाय? तथा सभी कवियों की सभी उत्प्रेक्षाएँ? वेद, पुराण, इतिहास आदि मे कहे रूपकों के तात्त्विक मार्मिक अर्थ को 'दर्शन' के, आत्मविद्या के, सिद्धान्त ही 'दिखाते' हैं।

अध्यात्म शास्त्र की आधुनिक दुर्गति।

बड़े खेद का स्थान है कि, इस अध्यात्मविद्या की ओर, ठीक ठीक ध्यान आजकाल बहुत कम दिया जाता है। काशी मे बड़ा सम्मेलन, हिन्दू महासभा का, (संवत् १९८० में), हुआ था। सभापति की आज्ञानुसार, मुझ को इस विषय पर कुछ कहना पड़ा, कि मानवधर्म और हिंदू समाज का जो संकोच और ह्रास हो रहा है, उस को किस प्रकार से रोकना चाहिये। मै ने यही कहने का यत्न किया कि, जिस अध्यात्मशास्त्र और आत्मज्ञान के बल से प्राचीन ऋषियों ने धर्मशास्त्र के आदिम ग्रंथ, सूत्र, स्मृति आदि, रचे, उसी बल से अब उन ग्रन्थों मे विद्वानों को, देश-काल-निमित्त-के अनुसार, घटाव बढ़ाव करना चाहिये; क्योंकि बिना ऐसा किये, हिंदूसमाज का अधःपात नहीं रुकैगा, और उस की उन्नति नहीं होगी। एक अच्छे वृद्ध विद्वान् पंडित ने, सच्चे हृदय से, उठ कर कहा कि 'आप उचित कहते होंगे, पर हम तो ठीक नहीं जानते कि आत्मा किस को कहते हैं, हमारा हृदय दुर्बल है, और इस से हम तो उन पुराने लिखे हुए अक्षरों ही को देखते हैं, और उन्हीं का अर्थ लगाते हैं, और उन्हीं के अनुसार चलना चाहते हैं।' मुझे भारी दुःख हुआ; मै ने समझाने का बहुत यत्न किया, कि 'आप जो प्राचीन

अक्षरों का अर्थ करते हो यह भी तो आत्मबल ही से। "व्याख्या बुद्धिबलापेक्षा"; बिना अपने ऊपर विश्वास किये, कि मैं जो अर्थ कर रहा हूँ वह ठीक है, आप अर्थ भी तो नहीं कर सकते; आप का यह कहना कि मुझ को तो ज्ञान नहीं, शक्ति नहीं, मै अपनी बुद्धि पर भरोसा नहीं करूँगा, दूसरे की बुद्धि अधिक श्रद्धेय है—यह भी तो आप ही की बुद्धि निर्णय करती है।

न बुद्धिरस्तीत्यपि बुद्धिसाध्यं;
बुद्धेः प्रभुत्वं न कदाऽपि बाध्यं।
खंडनं च विचारस्य विचारेणैव साध्यते।

बुद्धि का काम नहीं, बुद्धि नहीं चलती—यह निर्णय भी बुद्धि ही करती है। विचार व्यर्थ है, अशुद्ध है, निष्प्रयोजन है, अनुपयोगी है—यह भी विचार ही है। याज्ञवल्क्य के उसी एक श्लोक का अर्थ, मिताक्षराकार ने कुछ किया है, और जीमूतवाहन ने कुछ और ही किया है, जिस से उत्तर भारत में दायभाग का प्रकार दूसरा है, और बङ्गाल में बिलकुल दूसरा हो गया। तो व्याख्या करना भी बिना आत्मबल के नहीं हो सकता। जिस बल से व्याख्या की जाती है, उसी बल से नया धर्म बनाया जा सकता है; बल्कि यह कहना चाहिये कि, समय समय पर, अपने प्रयोजन के अनुसार, नयी व्याख्या के व्याज से, लोग धर्म को बदलते ही रहे हैं। अपनी बुद्धि के, अपने आत्मा के, पार, तो किसी प्रकार से मनुष्य जा ही नहीं सकता। बीस, या दस, या पांच हज़ार बरस पहिले, वसिष्ठ, पराशर, वेदव्यास, याज्ञवल्क्य के समय में, परमात्मा था, अब मर गया, यह तो आप भी नहीं कहोगे; अथवा, तब भारतवर्ष में आ गया था और अब दूर चला गया, यह भी आप स्यात् कहने का उत्साह न करोगे। फिर अपने ऊपर क्यों इतनी अश्रद्धा? और, यदि आप को अपने ऊपर इतनी अनास्था है कि हम तो आत्मा को नहीं ही जानते और न जान सकते हैं, तो फिर किस बल से आप धर्मव्यवस्थापक बन सकते हो? पदे पदे तो इन प्राचीन ग्रंथों में कहा है कि, जो अध्यात्मज्ञान रखता है, वही धर्म के विषय में बोलने का अधिकारी है। "एको वाऽध्यात्मवित्तमः" इत्यादि मनु याज्ञवल्क्य प्रभृति के वचन प्रसिद्ध हैं। हिम्मत बांधिये, अपने ऊपर विश्वास कीजिये,

आप के भीतर आत्मा बैठा है, इस पर निश्चय लाइये, उस आत्मा का सच्चे मन से आवाहन कीजिये; उस का बल आप को अवश्य मिलेगा, और सच्चा ज्ञान, सर्व लोक-हित-बुद्धि-मय, आप के हृदय मे उदय होगा। तभी आप अपना भी और दूसरों का भी कल्याण कर सकोगे। जब आप ही को अपने आत्मा पर सच्ची श्रद्धा नहीं है, तो दूसरे आप पर कैसे श्रद्धा करेंगे? और कुछ न बने तो, ख़ैर, व्याख्या ही कर के समयोपयोगी नये रास्ते चलाइये।'

यह सब कहने सुनने का यत्न मै ने किया, पर पंडित-समाज पर इस सब का कुछ असर हुआ या नहीं, इस मे बहुत सन्देह ही मेरे मन मे रह गया। मै तो समझता हूँ कि कुछ नहीं हुआ; पर एक बात से मुझे आशा हुई कि स्यात् कुछ हुआ; सभा-विसर्जन के पीछे एक सज्जन मेरे घर पर आये, और उन्हों ने मुझ से कहा कि 'तुम्हारे विषय मे लोगों के ना-समझी बातें कहने से, मुझ को, भूल हो गई थी; मै समझने लगा था कि तुम इस प्राचीन धर्म मे श्रद्धा नहीं रखते हो; सो अब मुझे निश्चय हुआ कि ऐसा नहीं है, तुम ही सच्ची श्रद्धा करते हो, और ये लोग जो तुम्हारी निंदा करते हैं वे ही उस धर्म मे सच्ची श्रद्धा नहीं करते और उसका ह्रास कर रहे हैं।' मुझे यह सुन कर बड़ा भारी संतोष हुआ; वे सज्जन और मै गले गले मिले; और मै उन का सदा के लिये कृतज्ञ रहूँगा। विशेष कारण यह है कि उन सज्जन ने, सभा मे, पहिले, मेरा व्यक्तिगत विरोध बहुत किया था। पर उन के चित्त की सात्विकता देख कर मुझे भारी आशा हुई है कि और लोग भी चेतेंगे; निष्पक्ष विचार कर के, गुण दोष की समीक्षा परीक्षा कर के, यदि अपना मत भ्रान्त अपने को जान पड़े, तो अपनी भूल को स्वीकार कर लेना—यह सरल-हृदयता, सात्त्विकता, निरहंकारिता, भविष्णुता, श्रद्धेयता का प्रथम लक्षण है। 'स्वार्थेषु को मत्सरः'। मै तो उन्हीं के सच्चे हित की बात कहता हूँ।

यह भी एक उत्तम प्रकार है कि, प्राचीन लेख को यह न कहना कि अब यह बेकाम है, इस को हटा दो, इस के स्थान पर यह दूसरा नियम बना दो—जैसा पाश्चात्य देशों का आधुनिक प्रकार क़ानून बनाने का है। बल्कि यह कहना कि इस श्लोक का, इस सूत्र का, इस नयी अवस्था मे, इस इस हेतु से, यह नया

अर्थ करना ही ठीक है। इस प्रकार से प्राचीन वृद्धों का आदर भी सूचित होता है, समाज-परंपरा का उच्छेद भी नहीं होता है, और व्यवहार भी सधता है।

'कृणुध्वं विश्वमार्यम्'—यह वेद की आज्ञा है; सारे मनुष्य संसार को, विश्वमात्र को, आर्य बनाओ। इस के अनुसार, पुराकाल मे कितनी ही व्रात्य जातियाँ, आर्यशालीनता के भीतर ला कर, चातुर्वर्ण्यात्मक समाजव्यूह मे यथास्थान रख दी गईं। व्रात्यस्तोम आदि संस्कार इसी काम के लिये बनाये गये थे। 'व्रातैः गच्छन्ति, व्रातेन (दैनंदिनेन लाभेन) जीवन्ति, शुद्धयर्थं व्रतमर्हन्ति, इति व्रात्याः'; जो झुंड के झुंड फिरते ही रहें, कहीं स्थिर रूप से टिकें नहीं, जैसे आजकाल भी कंजर आदि, और रोज़ रोज़ की कमाई से, जंगली शिकार आदि से, वा मिहनत मज़दूरी के दाम से, जीवन का निर्वाह करें, और जो इस योग्य हैं कि इन को व्रत कराये जायँ, नियम पालन के व्रत बताये जायँ और मनवाये जायँ, और इस प्रकार से उन का आचरण, आर्य और शुद्ध कराया जाय, वे 'व्रात्य'; आजकाल की अंग्रेज़ी भाषा मे 'नोमाड्ज़्', 'डे-लेबरर्स', 'वेज-वर्कर्स'। कोई लोग ऐसी भी व्युत्पत्ति निकालते हैं कि, 'व्रातात्, समूहात्, शिष्टसमाजात् च्युताः इति'। दूसरी ओर, 'शालासु वसंति, शालिभिर्जीवन्ति, सदाचारैः शालंते, इति शालीनाः'; स्थिर रूप से, शालाओं मे, मकानों मे, बस्ती मे, बसें, खेती के अन्न से, शालि चावल से, जीवन का निर्वाह करें, सदाचार से, शिक्षितता से, शिष्टता से, सभायोग्यता से, सभ्यता से, विराजें, वे लोग 'शालीन', 'आर्य'। व्रात्य लोग शालीन आर्य किये जाते थे, शिक्षा के द्वारा, क्रमशः। यह 'क्रमशः' शब्द याद रखने का है। 'अर्यः स्वामिवैश्ययोः' (पाणिनि); 'अर्य' शब्द का अर्थ स्वामी और वैश्य; उसी का रूपान्तर 'आर्य'; 'विशन्ति भूमौ इति विशः'; जो भूमि पर, शाला बना कर, शालि रोप कर, बैठ जायँ, प्रतिष्ठित स्थिर हो जायँ, वे 'विशः'; उसी का रूपान्तर 'वैश्य'। "द्वौ विशौ, वैश्य-मनुजौ" ऐसा अमर कोष मे कहा है। वेदों मे, पुराणो मे, (विट् विश्) विशः, मनुष्य मात्र के अर्थ मे कहा है; 'विशांपतिः'; आदि काल मे, यथा अब भी ग्रामो मे, सब मनुष्य सब काम कर लिया करते थे, और वर्णों, रोज़गारों, का पार्थक्य अस्पष्ट था, तब सभी मनुष्य, एक ही नाम से, विशः, कहे जाते थे। गाँव मे, प्रत्येक कुटुम्ब, अपना अन्न, दूध, दही, भी पैदा कर लेता है; भेड़ बकरी के ऊन से और कपास से अपने

कपड़े भी, कात, बीन, सी कर, बना लेता है; कच्चे मकान, ओसारा, झोपड़ी, मड़ैया, कोठा भी तयार कर लेता है; लकड़ी लोहा का भी छोटा मोटा काम, हल, जूआ, हंसुआ आदि भी, बना लेता है। शहर में बसने वाला कुटुम्ब ऐसा नहीं कर सकता; पेशे बँट जाते हैं; निर्मित वस्तुओं की अधिक-मात्रा के और परिष्कार के लिये। ऐसे ही, प्राचीन काल में, जब जीविका के कर्मों का, कुटुम्बों में अधिक विशेष रूप से बंटवारा होने लगा; क्योंकि एक प्रकार के ही काम में अधिक मन लगाया जाय, अधिक अभ्यास किया जाय, तो वह अधिक अच्छा सुपरिष्कृत बनता है; तब, 'कर्मणा वर्णः' के स्वाभाविक सरल सहज नियम के अनुसार, नामों का भेद भी, आप से आप, निसर्गतः, होने लगा। जो लोग भूमिकर्षण गोवर्धन और अन्न वस्त्र के उत्पादन और वितरण प्रसारण में लगे रहे वे वैश्य, कृषक, कर्षक, कृषाण, गोपाल, वणिक्, नामों से कहलाते रहे; उन्हीं के पास, अधिक धनधान्य का संचय, प्रकृत्या, होने से, साधारणतः 'सम्पत्ति' का वाचक भी 'विशः' हो गया।

वर्ण-परिवर्तन के विषय में बहुत से प्रश्न, 'क्रमशः' शब्द के बल से उत्तीर्ण हो सकते हैं। बाह्य धर्म-परिवर्तन, 'औटर कन्वर्शन्', तो एक क्षण में हो सकता है। बतिस्मा हुआ, ईसाई हो गया। कलमा पढ़ा, मुसलमान हो गया। कोई भी अपने को कह दे कि मैं हिन्दू हूँ, अवश्यमेव हिंदू हो गया; किस को अधिकार है कि कहे कि वह हिन्दू नहीं है? यह तो नाम रखने की बात है। अपने को 'हिन्दू' कहने वाले दूसरे कुछ लोग, उस के साथ खान-पान ब्याह-शादी का व्यवहार न करें, इस से क्या होता है? हिन्दू तो सभी अपनी नासमझी से, अपने को परस्पर अछूत बनाये हुए हैं पर सच्चा वर्णपरिवर्तन तो एक क्षण में नहीं हो सकता। 'व्रियते, स्वीक्रियते, उद्यम्यते, वृत्त्यर्थं, जीविकार्थं, इति वर्णः; वा वर्णयति वृत्तिं, वर्त्तन-प्रकारं, जीविका-कर्म, इति वर्णः'। जिस आदमी ने दस वर्ष अध्यापन का काम किया, और उस को मालूम हो गया कि मैं इस काम के योग्य नहीं हूँ, इस में मेरा मन नहीं लगता, मेरा मन शस्त्रास्त्र के प्रयोग की ओर अधिक है, अथवा दूकानदारी की ओर, वह कितना भी चाहे तो भी एक दिन में नये काम को, क्षत्रिय अथवा वैश्य के व्यवहार व्यापार को,

नहीं ही सीख पावेगा; कुछ दिन मे, अभ्यास से, नया काम अच्छी तरह कर सकेगा। वर्णपरिवर्तन का यह अर्थ है। इस वास्ते मनु आदि मे 'शनकैः' 'आसप्तमाद् युगात्' इत्यादि शब्द ('अन्यस्मिन् जन्मनि' नहीं) प्रयोग किये हैं।

यथा—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः,
वृषलत्वं गताः लोके, ब्राह्मणादर्शनेन च। (मनु)

'ज्ञान देने वालों से, विद्या सिखाने वालों से, जब कुछ जातियां अलग पड़ गयीं, और उन की बुद्धि और शरीर का यथोचित संस्कार नहीं हुआ, तो 'धीरे धीरे,' उन की शिष्टता सभ्यता सुशिक्षितता नष्ट हो गई, आचार-विचार रहन-सहन बिगड़ गया, और वह जातियाँ वृषल, शूद्र, हो गयीं; वह क्षत्रिय जातियां जो, दूसरे और दूर के देशों को, विजय के लिये, वा अन्यथा जीविका-वृत्ति प्राप्त करने के लिये, अपने मूल स्थान से चली गईं।' जैसे द्विज से अद्विज हो सकता है, वैसे ही, इस के विपरीत क्रम से, संस्कार पाने से, सभ्यता शिष्टता सदाचार की शिक्षा पाने और ग्रहण करने से, अ-द्विज प्राणी द्वि-ज बन सकता है। यह आर्य बुद्धि, ऋजु बुद्धि, की बात है।

अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्याससमाद्युगात्।
शूद्रो ब्राह्मणतामेति, ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्,
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्, वैश्यात्तथैव च।
(मनु, अ० १०, श्लो० ६५)

इस का अर्थ प्रचलित टीकाओं मे तो दूसरी प्रकार से किया है; पर उस प्रकार मे 'हठाद् आकृष्टता' देख पड़ती है और वाद विवाद का ठिकाना है। एक सीधा अर्थ पाँच वर्ष के युग का ले कर होता है कि पैंतीस वर्ष तक जिस वर्ण की वृत्ति से, धर्म कर्म से, जीविका से, रहे, उस वर्ण का हो जाता है। दूसरे स्थान पर कहा है कि जिस वर्णवाले का अन्न बारह वर्ष तक खाय उस वर्ण का हो जाता है, इत्यादि।

यह बात तो, थोड़ा सा, भारतवर्ष का इतिहास देखने से सिद्ध हो जाती है,

कि पुराकाल मे, पौराणिक काल मे जिस की चर्चा भागवतादि पुराणो में, शतपथब्राह्मण मे (१०, ४, १, १०), ऐतरेय ब्राह्मण मे, (७, २९), आपस्तम्ब सूत्र आदि मे की है, ऐसा वर्णपरिवर्त्तन होता था।

धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ।

अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णोऽधन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ।

(आपस्तम्ब २, ५, १०, ११)

'जातिपरिवृत्तौ' कहा है, 'अन्यस्मिन् जन्मनि' नहीं। और भी, वेदों मे ऐसी ऋचा हैं जिन से जान पड़ता है, कि उस काल मे, एक ही कुल मे, माता का एक वर्ण अर्थात् जीविका का उपाय, पिता का दूसरा, पुत्र का तीसरा।

यह वर्णपरिवर्त्तन, तथा बाहरी जातियों का, आर्य समाज मे कहिये, सनातन समाज मे कहिये, मानव समाज मे कहिये, (क्योंकि 'हिन्दू' शब्द उस समय पैदा नहीं हुआ था), सम्मेलन और व्यवस्थापन, बौद्ध और जैन कल मे भी बहुत होता था; यह इतिहास से जान पड़ता है। और आज कल भी हमारे आँख के सामने हो रहा है। मेरे एक सहपाठी सज्जन, जो स्कूल के दिनो में अपने को कलवार कहा करते थे, कई वर्ष बाद, वैश्यों की एक अवान्तर जाति का, 'गुरेर बनिया', अपने को बताने लगे; कुछ और वर्षों बाद, गवर्मेण्ट की नौकरी मे पड़ कर अपने को क्षत्रिय कहने लगे, और क्षत्रिय कुलों से उन का विवाहादि संबंध भी हो गया। कितनी जातियाँ जो पहिले अन्य वर्ण की, शूद्र अथवा वैश्य, समझी जाती थीं, अब अपने को क्षत्रिय या ब्राह्मण कहने लगी हैं। कई वर्ष हुए काशी मे 'स्वार्थांध-प्रकाशिका' नाम की एक छोटी पुस्तक ('तारा प्रिंटिङ्ग वर्क्स' मे) छपी थी। उस छापाखाने के उस समय के मनेजर ने मुझ से कहा था, कि अवध प्रान्त के एक राजा ने, जो अपना नाम प्रकट करना नहीं चाहते थे, अपने पुरोहितों से बहुत पीड़ित हो कर, उस को लिखा या लिखवाया और दूसरे के नाम से छपवाया। उस मे कितनी ही ऐसी उपजातियों का हाल लिखा था जो पहिले अपने को किसी दूसरे वर्ण की कहती थीं, अब ब्राह्मण कहने लगी हैं। 'भार्गव' नाम की एक उपजाति वाले पहिले अपने को वैश्य कहते थे, अब ब्राह्मण कहते हैं। कूर्मी लोग अब कूर्मांचली या कूर्मवंशी क्षत्रिय हो गये हैं। एक उपजाति कूर्मांचली ब्राह्मणों की

भी है। कायस्थ लोग अपने को अब क्षत्रिय कहते हैं। ठीक ही है। जो कोई, आत्मश्रद्धापूर्वक, अपना उत्कर्ष करेगा, उस को दूसरे भी मानेंगे ही। जो अपने ही मे श्रद्धा नहीं करैगा, स्वयं नीचा बनैगा, उस को क्यों न दूसरे नीचा कहेंगे? पर यह हवा जो अब बह रही है, कि सब जाति की जाति का नाम, झुंड के झुंड का नाम, बदल दिया जाय, और या 'ठाकुर' बन जायं, या 'ब्राह्मण' बन जायँ, (क्योंकि इन्हीं दो जातियों मे बड़प्पन की ऐंठन अधिक है), इस से काम बनता नहीं, प्रत्युत बिगड़ता है; मिथ्या अहंकार और संघर्ष और प्रतिस्पर्धा बढ़ती है, और सामाजिक कार्य और परस्पर सहायता मे विघ्न पड़ता है। इस औपजातिक नाम के परिवर्त्तन मात्र के द्वारा, मिथ्या उत्कर्ष-बुद्धि से, वर्ण-व्यवस्था का मूल सिद्धान्त, 'कर्मणा वर्णः', चरितार्थ नहीं होता, प्रत्युत और भी मर्दित खंडित होता है। इस सिद्धांत पर चल कर तो प्रत्येक व्यक्ति के गुण-कर्म के अनुसार उस का वर्ण-नाम पड़ना चाहिए। जो डाक्टरी का, वैद्य का, काम करता हो, वही तो डाक्टर कहलावेगा; उस का सारा कुनबा तो नहीं। जो फ़ौज मे सूबादारी रिसालदारी करता होगा वही तो उस नाम से पुकारा जायगा, उस के सब भाई बधु तो नहीं। भेड़ीधसान के प्रकार से, दल के दल और झुंड के झुंड का सच्चा वर्ण-परिवर्त्तन नहीं हो सकता है।

गवर्मेन्ट की सेंसस (मनुष्य-गणना) की रिपोर्टों से 'हिन्दू' समाज की सहस्रों परस्पर अस्पृश्य, अपहसित, बलहीन, और तिरस्कृत, तथा अद्भुत भी, उपजातियों का बहुत हाल मालूम होता है। आग्रा-अवध संयुक्त-प्रान्त मे एक जाति 'शाकद्वीपी ब्राह्मण' है। उस जाति के लोग अपनी उत्पत्ति यह कहते हैं कि 'शाकद्वीप' से आये। शाकद्वीप कहाँ है? तो पुराणों के पत्रों मे गुप्त लुप्त है। इतिहास से विदित होता है कि, दो सहस्र वर्ष से पूर्व, शक जाति के लोग, भारतवर्ष मे, हिमालय के पार उत्तर से बहुत आये; उन्हों ने यहाँ राज भी बनाये; उन्हीं मे से अधिकांश अस्त्रशस्त्र के शौक़ीन क्षत्रिय हो गये, कुछ थोड़े से पोथी पत्रा के शौक़ीन ब्राह्मण हो गये। इतिहास की विस्मृति इस काष्ठा को पहुँची है कि व्याकरण के ग्रंथों मे 'शाकपार्थिवः' का अर्थ 'शाक-प्रियः पार्थिवः,' शाक खाने वाला राजा, किया जाता है; सीधा सीधा अर्थ, 'शक-जातीयः पार्थिवः',

लुप्त हो गया है; वा जान बूझ कर लुप्त कर दिया गया है, 'जन्मना वर्णः' के पोषण के लिये।

इन सब बातों को देखते हुए, अपने समाज के सुधार के लिये, आप लोगों को, जो इस देश के भविष्णु गृहस्थ और कार्यकर्ता हैं, वर्ण के तत्व क विचार करना परम आवश्यक है। इस पर आप सब को बहुत ध्यान देना चाहिये। इस के संशोधन पर ही इस देश का भी, तथा दूसरे सब देशों का भी, कल्याण आश्रित है। यह वर्णधर्मतत्व किसी विशेष स्थानिक वा कालिक धर्म की बात नहीं है; किन्तु समस्त मानव-समूह संबन्धी 'समाजशास्त्र' की, और उस के शाखा-प्रशाखा-पुष्प-फल-भूत 'राजनीति-शास्त्र', 'राज-शास्त्र,' 'जीविका-शास्त्र', 'अर्थ-शास्त्र', आदि सब शास्त्र उपशास्त्र की, तथा सब के मूलभूत 'अध्यात्मशास्त्र' की बात है।

इस तत्व के भूल जाने से ही, उस पदार्थ के लिये, जिस को अब 'हिन्दू'-धर्म के नाम से कहते हैं, पर जिस का ठीक नाम सनातन-वैदिक-आर्य-बौद्ध-मानव धर्म है, तथा उस वस्तु के लिये जिस को आजकाल 'हिन्दू' समाज कहते हैं, पर जिस का ठीक नाम 'मानव समाज' है, 'महद्भयमुपस्थितम्', भारी भय उपस्थित हुआ है। दोनो ही, दिन दिन, अधिकाधिक भ्रष्ट, धर्माभासग्रस्त, दीन, क्षीण, अपने भीतर भी परस्पर कलहायमान, तथा अन्य धर्मों और समाजों से भी विवदमान, ईर्ष्यमाण-तिरस्कुर्वाण, जंघन्यमान, दंद्रम्यमाण, म्रियमाण ही देख पड़ते हैं। चौदह सौ वर्ष पहिले, हिन्दु-स्तान मे 'हिन्दू' सौ फ़ी सदी थे; आज पैंसठ फ़ी सदी से कम हो गये हैं; और दूसरे लोग पैंतीस फ़ी सदी हो गये हैं, और रोज़ स्वयं बढ़ते और इन 'हिंदू' नाम वालों को दबाते चले जा रहे हैं। इस का कारण क्या विचारणीय नहीं है? क्या, 'मुनिहि हरियरै सूझ', इसी न्याय का अवलंबन करना चाहिये? हम को अपनी ही, अथवा अपने कुल कुटुंब की, अथवा बहुत दिल बढ़ाया तो अवांतर जाति, गौड़ या कनौजिया या काश्मीरी या महाराष्ट्र या यदुवंशी या सोमवंशी या श्रीवास्तव या माथुर या अग्रवाल या माहेश्वरी या अहीर या जाट इत्यादि, की ही फ़िक्र बहुत पर्याप्त है, सारे हिन्दू समाज से हम को क्या मतलब? शेख़ सादी ने कहानी लिखी है, एक शहर के

एक बाज़ार में आग लगी, बहुत सी दूकान बहुत से मकान जल गये; एक दूकान क़िस्मत से बच गई; और सब तो सिर पीट पीट कर रो रहे थे, इस का मालिक, बेहया, बग़लैं बजा बजा कर हँस रहा था 'कि दुकानि मा रा गज़ंदे न बूद', पड़ोसी के मकान जल गये तो बला से, हमारी दूकान की तो हानि नहीं हुई। क्या यही नीति ठीक है? आज तो आप की दूकान बच गई, पर कल जब आप की दूकान में आग लगेगी, तब पड़ोसी भी बचाने नहीं आवेगा, बल्कि ख़ुश होगा, या जान बूझ कर, ग़ुस्से के मारे, आप के घर में आग लगावेगा, और लगवावेगा, जैसा हिंदुओं ने, मध्यकालीन इतिहास में, और आज भी अपनी बिरादरी वालों से तिरस्कृत हो कर, धर्म बदल कर, दूसरे मज़हब में जा कर, पुनः पुनः किया, और कर रहे हैं।

यदि हम लोग इस अल्पदृष्टि ह्रस्वदृष्टि वाले स्वार्थ से अन्धे बने रहेंगे, दूर दृष्टि, स्थूल दृष्टि, दीर्घ दृष्टि, सर्व संग्राहक दृष्टि वाले परार्थ से भी काम न लेंगे, तो उस स्वार्थ को भी नसावेंगे, परार्थ तो नष्ट हुआ ही।

भारत का प्राचीन शास्त्र, भारत की सभ्यता, तो ऐसी है, कि यदि इस का अर्थ, यदि इस के मूल सिद्धान्त, ठीक ठीक समझे और काम में लाये जायँ, तो यह न केवल अपनी सत्ता का आत्मधारण कर सकती है, अपितु अन्य सब का भी उद्धारण कर सकती है, सब पतितों का उद्धार कर सकती है। आज काल्ह जो अन्य धर्म चल रहे हैं वे तो किसी मनुष्य को अपने संप्रदाय और समाज के अन्तर्गत तब करते हैं जब वह दूसरे धर्म का नाम भी छोड़ दे। यह मानव धर्म ऐसा है कि, किसी को अपने विशेष धर्म और नाम को छोड़ देने को न कह कर, सब को अपने सभामण्डप में बैठने को स्थान दे सकता है। बल्कि यह कहना चाहिये कि देता है और अपनाता है। बात सीधी है, प्रत्यक्ष है।

राजविद्या, राजगुह्यं, पवित्रम् इदम् उत्तमम्,
प्रत्यक्षावगमं, धर्म्यं, सुसुखं कर्तुम्, अव्ययम्। (गीता)

राजाओं की विद्या, विद्याओं का राजा, राजों का रहस्य, रहस्यों का राजा, होते हुए भी, यह अध्यात्मशास्त्र, और उस के ऊपर प्रतिष्ठित, उस की नींवी पर उठाया हुआ, धर्म, प्रत्यक्षावगम है, चमड़े की आँख से देखा जा सकता है; इस के

आचरण मे सर्वथा सुख है, और सार सत्त्व का व्यय और हानि कभी नहीं है।' प्रत्यक्ष है कि 'मानव धर्म' तो मानव मात्र के लिये है, किसी एक देश या काल या जाति के लिये नहीं है।

ब्राह्मणः, क्षत्रियो, वैश्यः, त्रयो वर्णाः द्विजातयः,
चतुर्थः एकजातिस्तु शूद्रो; नास्ति तु पंचमः।
एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः;
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः। (मनु)

'जितने मनुष्य पृथिवी मंडल पर हैं, सब ही, सब भी, सभी चार वर्णों मे विभजनीय अथवा विभक्त हैं; तीन द्वि-जाति, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, चौथा एक-जाति शूद्र; पांचवें प्रकार का मनुष्य संसार मे है ही नहीं; और, इस देश मे, भारतवर्ष मे, आर्यावर्त्त मे, अध्यात्म-शास्त्र की चर्चा अन्य स्थानो से अधिक, प्राचीन काल से, और बड़ी मात्रा मे रही है, इस लिये उचित है कि इस देश मे जनमे 'अग्रजन्मा' से, जेठी बुद्धि वाले, जेठी विद्या वाले, जेठे चरित्र वाले मनुष्य से, समग्र पृथ्वी के समग्र मनुष्य अपने अपने लिये उचित और उपयुक्त वृत्ति, जीविका, 'धर्म-कर्म', चरित्र की शिक्षा लें।' यह मनुस्मृति की प्रचलित पुस्तकों मे लिखा है। जिस समय श्लोक लिखे गये थे उस समय अवश्य ही ऐसा लिखना उचित रहा होगा। पर अब तो, इस देश मे, इस काष्ठा के, सच्चे 'अग्रजन्मा', जो दूसरे देशवालों को उचित चरित्र-विषयक शिक्षा दे सकें, प्रायः नहीं ही देख पड़ते। दूसरे देश वाला इन को पूछता ही कौन है? इन का तिरस्कार और अपहास ही प्रायः करता है। पवित्रम्मन्यता का, आभिजात्य का, 'हम ऊँची जात वाले हैं,' मिथ्या अहंकार ही इन मे रह गया है। 'रस्सी जल गई, ऐंठन बच गई'। यदि सच्चे अग्रजन्मा इस देश मे पर्याप्त मात्रा मे होते, तो मानव धर्म की और मानव समाज की यह दुर्दशा न होती; इस देश को, विदेशी जातियां, पराजित और पददलित न कर सकतीं।

यह वर्ण-आश्रम-व्यवस्था, अध्यात्म विद्या के, मानव-प्रकृति-ज्ञापक विद्या के, अनुसार बनाया हुआ, एक ऐसा सांचा ढांचा, (आधार, संचिका, कोष, व्यूह, 'खाका', मोल्ड', 'फ्रेम-वर्क'), है, कि इस मे, सब जातियों, सब देशों, के सब

मानव, अपनी अपनी प्रकृति, अवस्था, वयस्, के अनुसार, परस्पर सम्वाद-सहित, विवाद-रहित, बिना नाम-रूप के विशेष परिवर्त्तन के, समाविष्ट किये जा सकते हैं। तथा, 'पुराण-इतिहास' से भी, और नवीन इतिहास से भी, यह सिद्ध है कि, इस मानवधर्म ने, अपने हज़ारों वर्ष के जीवन मे कितनी ही जातियों और उपजातियों और विशेष विशेष धर्मों को, अपनी समन्वयशक्ति से, वर्णाश्रम के सांचे मे ढाल कर उन का प्रणवीकरण, नवी-करण, कर दिया। प्रणव, अर्थात् ॐकार, ध्वन्यात्मक शब्द, परमात्मा का निकटतर वाचक है, और इस के तीन अक्षरों मे, संकेत से, सब अध्यात्मशास्त्र भरा है। जो इस गूढ़ अर्थ को जान लेता है, उस का जीवन, नवीन, नव, प्रणव, हो जाता है, उस का द्वितीय जन्म हो जाता है। इसी से इस को प्रणव कहते हैं। इस के गर्भ मे स्थित आत्मविद्या के, दर्शन-शास्त्र के, बल से, नयी नयी जातियों को आर्य-मानव-समाज के भीतर ला कर उन का नवीकरण, प्रणवीकरण, पुराकाल मे, सच्चे अग्रजन्मा करते रहे। सात्विक राजस तामस के भेद से सैकड़ों प्रकार के उपासक, और उन की सैकड़ों प्रकार की उपासना और उपास्य देवता, सब इस के भीतर यथा स्थान रख लिये गये, और 'बुधस्य आत्मनि देवता' यह तारक-मंत्र सब को सुनाया गया।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं, श्रीमदूर्जितमेव वा,
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्। (गीता)

यह विरोधपरिहार का एक मूलमन्त्र सब के सामने रखा हुआ है, छिपा नहीं है। हां, हमारी मोहांध आंखों ने अपने को ही सूर्य से छिपा लिया है, और हम को गहिरे गर्त में खींचे लिये जा रही हैं। नहीं तो आज हिन्दू समाज की यह दशा न होती। प्रत्युत, हम लोग जानते और कहते होते कि 'ईरान' देश और शब्द, 'आर्य' देश और शब्द ही का भाषांतर और रूपांतर है, तथा 'ऐरिन' (आयरलैंड) देश और शब्द, तथैव 'अर्ब' देश और शब्द, तथैव स्यात्, 'यूरोप' 'आर्य-प' देश और शब्द; यूरोपीय विद्वानों ही ने इन विचारों का उद्भावन किया है, और कतिपय को सिद्ध भी माना है; यूरोपीय जातियों को वे 'इंडो-आर्यन्', 'इंडो-यूरोपीयन्', भी कहते हैं। और जैसे शैव, शाक्त, वैष्णव, सिख, जैन, बौद्ध आदि अपने अपने आचार्यों और तीर्थों सहित मानवधर्म के

अवान्तर संप्रदाय बन गये हैं, वैसे ही इस्लाम और क्रिश्चन आदि सम्प्रदाय भी इस के अन्तर्गत किये जा सकते हैं, और तत्त्वतः हैं। जैसे 'हिन्दू' समाज में बर्मी, आसामी, बंगाली, बिहारी, उड़िया, मद्रासी, महाराष्ट्र, गुजराती, राजपूत, सिंधी, पंजाबी, काश्मीरी, नैपाली, भोटानी आदि अंतर्गत हैं, वैसे ही चीनी, जापानी, अफ़गानी, ईरानी, अरबी, तुर्की, यूरोपी, आदि भी सब अंतर्गत किये जा सकते हैं, और हैं, यदि हम 'हिन्दू' का नवीन नाम छोड़ कर प्राचीन गभीर नाम 'मानव' फिर से धारण करें। 'हिन्दू' शब्द, 'सिंध' नदी, 'सिंधुदेश' के नाम का रूपान्तर है; देशवाचक, देशीय, है; धर्मवाचक, धर्मीय, नहीं।

जब तक हमारे हृदय में इतना विस्तार और औदार्य नहीं होता कि हम उन को अपनावें, बल्कि उन से छूओ मत, छूओ मत, का परहेज़ करते हैं, तब तक वे भी हम से द्रोह करते रहेंगे।

जब हमारे हृदय में, परमात्मा की सर्व-समन्वय-कारिणी शक्ति के सद्भाव का पुनर्वार उदय होगा, और जब यह पुनर्वार ठीक पहिचान लिया जायगा कि वर्णव्यवस्था में, समाज-निर्माण में, ('समं अजंति जनाः यस्मिन् स समाजः', जिस में सब मनुष्य, साथ-साथ, एक दूसरे की सहायता करते हुए, चलते हैं), तपः और श्रुतं का कितना बल है, और योनिः का कितना, 'तपः श्रुतं च योनिश्च द्विजत्वे कारणं स्मृतं' (मनु); कर्मणा का कितना, जन्मना का कितना; शीलं का कितना, कुलं का कितना; वृत्तं का कितना, जाति का कितना; जब यह लोग समझ लेंगे कि जन्म भी कर्म से होता है; 'विष्णुत्वं च शिवत्वं च कर्मणैव हि लभ्यते' (देवी भागवत); कर्म मुख्य है और जन्म गौण है; 'वृत्तमेव तु कारणम्'— यह युधिष्ठिर ने सर्प (नाग-जातीय मनुष्य ?) से निश्चय कर के कहा है, क्योंकि तीनो गुण प्रत्येक मनुष्य मे वर्तमान है); तब ही यह वर्णव्यवस्था ठीक होगी, और इस में मानव मात्र का समन्वय, समावेश, संचय, लोक-संग्रह, हो सकेगा।

लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि। (गीता)

वर्णविभाग की व्यवस्था के साथ साथ, कर्मविभाग और वृत्ति अर्थात् जीविका का विभाग, अर्थात् किस प्रकृति का, किस विशेष स्वभाव-गुण-कर्म का, किस वर्ण का, मनुष्य, किस किस वृत्ति से जीविका करे और दूसरी वृत्तियों को न छूए;

तथा शुल्क का विभाग, अर्थात् किस वर्ण को अधिक सम्मान आदर, किस को अधिक आज्ञाशक्ति, ईश्वरभाव, अधिकार, किस को अधिक धन, किस को अधिक क्रीड़ा विनोद आदि मिले; इस की भी परमावश्यक व्यवस्था होगी। क्यो कि बिना इन सब बातों की व्यवस्था किये, केवल वर्ण की व्यवस्था, मनुष्य की शारीर मानस आदि प्रकृति को देख भाल कर भी, करना व्यर्थ है। इन दूसरी बातों की भी व्यवस्था साथ ही साथ होने से वर्णव्यवस्था सार्थक होती है, और शिक्षा-सम्बन्धी ('एज्यूकेशनल'), व्यवसाय-व्यापार-सम्बन्धी ('ईकोनामिकल'), सामाजिक आदर सत्कार और उच्चावचता सम्बन्धी ('सोशल'), राजनीतिक ('पोलिटिकल') आदि सभी जटिल प्रश्नो का उत्तर ठीक ठीक मिल सकता है। बात तो यह है कि, वर्ण-व्यवस्थात्मक समाज-व्यवस्था मे, वृत्ति अर्थात् जीविका के प्रकारों का चार वर्णों में उचित बंटवारा, प्रधान अंग है। पर इसी को भुला दिया है; सब प्रकार के अधिकारों को कुछ थोड़े से बुद्धि-बल वाले मनुष्य अपने हाथ मे खींच लाये हैं, सब कर्त्तव्यों का बोझ बलहीनो पर डाल दिया है; चारो प्रकार के 'राधस्', आराधन, तोषण, हृदयऽाप्यायन, अर्थात सब मान, सब ऐश्वर्य, सब सम्पत्ति, सब आमोद-प्रमोद, मूठी भर आदमियों ने अपनी मूठी में कर लिया है; उसी से चारो ओर महा उपद्रव मचा है।

इस विषय पर मै ने दूसरे स्थानो मे चर्चा की है। यहाँ अधिक विस्तार करना ठीक नहीं। विषय के गौरव के कारण इतना भी कहा। क्यों कि जो विद्या स्नातकों ने पढ़ी, उस की सफलता, उस की चरितार्थता, सामाजिक जीवन मे ही होगी, और जिस समाज में स्नातकों को रहना है, उस को सुव्यवस्थित करने और रखने मे सहायता करना, यह एक परम कर्तव्य होगा, और इस कर्तव्य का, बिना आत्मज्ञान के, पालन नहीं हो सकेगा।

प्रकृति की संस्कृति।

इस आत्मज्ञान और तदाश्रित मानवधर्म का मुख्य काम और मूलमंत्र इतना ही है कि, जो कुछ प्रकृति मे है, (और सभी परस्पर विरुद्ध बातें इस द्वंद्वमय, दो दो विरोधी जोड़ा जोड़ा वाली, प्रकृति के संसार मे हैं), उस सब का यथा-

काल, यथा-स्थान, यथा-प्रयोजन, मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन के सुख और उत्कर्ष के लिये, संस्कार, परिष्कार, और नियमन कर के उपयोग किया जाय। किसी वस्तु को भी नितान्त बुरा कह कर संसार के बाहर निकाल देने का निष्फल और मिथ्या प्रयत्न न किया जाय। मैला भी 'खाद' के काम मे आता है, उचित समय मे उचित स्थान पर रखने से खेती के लिये, फूल फल के पौधे पेड़ों के लिए, 'खाद्य',' उत्तम पोषक भोजन हो जाता है। अति सत्य भी अति रुखाई से, अति खरे-पन से कहने से, अप्रिय हो कर लोक का अहित-कर हो सकता है। यथा गर्मी के दिन मे भी अपने शरीर को कपड़े से ढांकना, यह 'मिथ्या आचरण' कहा जा सकता है, क्यों कि वस्तुस्थिति को छिपाना है; पर नहीं, यह 'मिथ्या आचरण' ही, यह 'कृत्रिम सामाजिक संकेत' ही, मानव समाज की वर्त्तमान अवस्था मे, विविध हेतुओं से, शिष्ट-सम्मत सदाचार है। इस लिये,

आश्रयेत् मध्यमां वृत्तिं, अति सर्वत्र वर्जयेत्।
यल्लोकहितम्अत्यन्तं तत्सत्यम्इति नः श्रुतम्। (म० भा०)

बीच का रास्ता पकड़िये, किसी भी बात की 'अति' न कीजिये। जिस बात से, जिस उपाय से, अधिकांश लोक का अधिकतम हित हो वही सत्य है। महाभारत के शांति पर्व के इस श्लोक ही की व्याख्या, पाश्चात्य 'यूटिलिटेरियन'-वाद, 'दी ग्रेटेस्ट हैपिनेस आफ़ दी ग्रेटेस्ट नम्बर', है।

यही, इस प्रकृति की संस्कृति का, इस के संस्कार परिष्कार का, और विकृतियों विकारों 'बिगड़नो' से बचने का, बीजमन्त्र है।

नअमंत्रम्अक्षरं किंचित्, न च द्रव्यम्अनौषधम्,
नअयोग्यः पुरुषः कश्चित्, प्रयोक्ता एव तु दुर्लभः।

यह भी उसी बीज मन्त्र का साथी और पूरक है।

कोई अक्षर नहीं जिस मे मंत्रशक्ति नहीं, कोई द्रव्य नहीं जिस मे औषध-शक्ति नहीं, कोई मनुष्य नहीं जिस मे कोई भी योग्यता नहीं; पर उस शक्ति, उस योग्यता को पहिचान कर, उस से उचित काम लेने वाला प्रयोक्ता ही दुर्लभ है।

आश्रम समन्वय।

ब्रह्मचर्य आश्रम।

जैसे मनुष्यों के भेदों, कर्मों, वृत्तियों, जीविकाओं, शुल्कों, (राधसों, तोषणों, अभीष्टों, प्रेरक प्रयोजक एषणाओं) का समन्वय, 'वर्ण' के नाम से, मानव धर्म में किया है, वैसे ही मनुष्य के जीवन के प्रकारों के भेदों का भी समन्वय 'आश्रम' के नाम से किया है। सहस्रों प्रकार से मनुष्य अपना जीवन बिता रहे हैं; कोई कुछ कर रहा है, कोई कुछ; तौ भी, विचार से देखिये तो आप इन अनंत प्रकारों को चार मुख्य राशियों में बाँट सकेंगे; (१) जीवनोपयोगी, जीविकोपयोगी, पुरुषार्थचतुष्टय-साधनोपयोगी ज्ञानसंग्रह कर्म, (२) जीविकासाधन, धनोपार्जन, विवाह, संतानन, कुटुम्बपोषण कर्म, (३) परार्थ कर्म, (४) परलोक वा मुक्ति की चिन्ता, और उस के लिये सज्जता, तयारी। याद रखना चाहिये कि 'वैशेष्यात् तु तद्वादस्तद्वादः' का नियम, जिसे पहिले कह आये हैं, यहाँ भी, जैसे अन्य सभी स्थानों में, अनुस्यूत है। चारों प्रकार के काम जीवन में मिश्रित मिलते हैं, पर एक समय में एक प्रकार का विशेष व्यंजन होता है। पहिले दो आश्रमों में 'स्वार्थ' को 'प्रधान' अर्थात् कुछ अधिक, और 'परार्थ' को कुछ कम और 'गौण', तथा दूसरे दो में 'परार्थ' को 'प्रधान' और 'स्वार्थ' को 'गौण', होना चाहिये।

आदौ वयसि नाधीतं, द्वितीये नार्जितं धनम्,
तृतीये न तपस्तप्तं, चतुर्थे किं करिष्यसि ?

पहिली उमर में पढ़ा नहीं; दूसरी में कमाया नहीं; तीसरी में तप नहीं किया; तो चौथी में संन्यास कैसे सधै ?

बाल्यावस्था और यौवनारम्भ में अधिकांश मनुष्य, क्या सभी मनुष्य, किसी न किसी रीति से, ज्ञानसंग्रह में, विद्योपार्जन में, लगे रहते हैं। खली, पटिया, कलम, कागज, रौशनाई, पुस्तक आदि से ही विद्या नहीं आती। किसी भी प्रकार से ज्ञानसंग्रह होना चाहिये। पशु-पक्षी भी अपनी सन्तान को आहार खोजने की, और आत्मरक्षा करने के उपायों की, शिक्षा देते हैं। मानव-शिक्षा का उद्देश्य यही

है कि उस ज्ञान की सहायता से अपना, अपने कुल कुटुम्ब का, अपने समाज का, भला कर सके। इहलोक और परलोक सम्बन्धी भला भी, और परमार्थ निश्रेयस संबंधी भला भी—जहाँ तक जिस के ज्ञान की गति हो वहाँ तक।

ब्रह्मचर्य की अवधि।

जितना ही अधिक ज्ञान का सञ्चय इस पहिली अवस्था में मनुष्य कर लेगा, उतनी ही उस की स्वोपकार और परोपकार की शक्ति अधिक होगी। पर सब की शक्ति, सब की सामग्री, सब की अवस्था, एक सी नहीं होती। इस लिये, इस विषय में, समन्वय, मनु ने यों किया है,

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्;
तदर्धिकं, पादिकं वा, ग्रहणांतिकमेव वा। (मनु)

गुरुकुल में छत्तीस वर्ष रह कर 'त्रिवेद' शब्द से सूचित समग्र ज्ञानसमूह प्राप्त करे। इतना न बने तो इस का आधा। नहीं, तो चौथाई। अथवा अपने कुल की परम्परा के अनुसार, अथवा जो जीविका, वृत्ति, व्यवसाय, व्यापार, आगे करना इष्ट हो उस के उपयोगी, जिस विशेष ज्ञान की इच्छा हो, उस के शास्त्र का ग्रहण जब तक सम्पन्न न हो जाय, तभी तक। जिस से जितना बन पड़े उतना ही सही। पर कुछ न कुछ विद्यासंग्रह करना।

ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ।

इस अवस्था का नाम ब्रह्मचर्य रखा है। 'सम्यक्कृत' 'संस्कृत' भाषा के मुख्य मुख्य प्राचीन शब्दों में बहुत अर्थ रक्खा है।

बृहत्त्वाद् बृंहणत्वाद् वा,ऽत्मैव ब्रह्मइति गीयते।

आत्मा ही का नाम ब्रह्म भी है। क्यों कि बृहत् है, परम महान्, 'महतो महीयान्' है; ब्रह्मा के रूप से समस्त संसार का बृंहण प्रसारण करता है; और यद्यपि छोटे से शरीर में बँध गया है, तौ भी जितना चाहता है उतना अपनी मानस कल्पना के बल से, बढ़ जाता है। 'हम गुरुकुल निवासी' कहने से गुरुकुल संस्था से सम्बन्ध रखने वाले जितने भी सैकड़ों मनुष्य हैं उन सब में 'हम' रूपी आत्मा व्याप्त हो गया। 'हम काशीवासी' कहते ही दो वा ढाई

लाख आदमी के बराबर हो गया, और इस की सत्ता केवल दो ढाई लाख मनुष्यों ही में नहीं, किंतु उन की जायदाद मिल्कीयत मकान असबाब सब मे, अहंता-ममता-रूप से, व्याप्त हो गई। 'हम भारतवासी' कहते ही यह पैंतीस चालीस करोड़ मानवों के तुल्य हो गया। 'हम मनुष्य' कहा, तो दो सौ करोड़ मनुष्य इस के विराट् बौद्ध शरीर मे आ गये। 'हम चेतन जीव' कहते ही अनन्त हो गया, "अचैतन्यं न विद्यते", ऐसा कोई परमाणु नहीं जो चैतन्य से रहित हो। यह हुआ बौद्ध बृंहण।

शरीर के बृंहण की शक्ति भी इस मे है। "एकोऽहम् बहु स्याम्"। अपने सदृश सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति प्रत्येक परमाणु मे है, क्यों कि चैतन्य-ब्रह्म से आविष्ट प्रविष्ट है। मनुष्य समाज के अनंत, संख्यातीत, माता पिता, मातामह मातामही, पितामह पितामही, हो गये, और उस के आगे भी अनंत पुत्र पुत्री, पौत्र पौत्री, नप्ता नप्त्री, की परम्परा प्रलयकाल तक चली जायगी। इस अनंतसन्तानोत्पादक शक्ति का स्वरूप कहिये, इस का बीज कहिये, ब्रह्म ही है।

इन सब ब्रह्मों का, ज्ञानरूपी, वेदरूपी, शास्त्ररूपी, बुद्धिरूपी, ब्रह्म का, तथा अन्नरूपी, बीजरूपी, शुक्ररूपी, ब्रह्म का, मूल रूप वही चेतनामय चिद्रूपी ब्रह्म आत्मा है। आत्मा शब्द का भी अर्थ वही होता है।

अत्ति सर्वांश्च विषयान्, अतिएति अपि च तांस्तथा,
सर्वत्रअतति सर्वेषु देहेष्वपि च सर्वथा,
(मा इति) मेति सर्वान् मितान् भावान् स्वतोऽन्यांश्च निषेधति,
यस्माच्चअस्यआततो भावः, तस्मादाऽऽत्मेति कथ्यते।

'सब विषयों का विषयी है, स्वाद लेने वाला है, सब भोगों को भोगता है, सब अन्नो का 'अत्ता' है, तो भी सब से 'अतीत' है, (अति-इत, दूर-गत) सब से परे है; सब स्थानो मे, सब देशों में, सब देहों मे, सब प्रकारों से भ्रमण (अतन, अटन) भी सदा करता रहता है; स्वयं अपरिमित हो कर, अपने से 'अन्य' सब परिमित पदार्थों भावों का, 'मा' अर्थात् 'नहीं', निषेध, करता है; और सब मे एक साथ ही 'आतत' और व्याप्त भी है—इस लिये इस को 'आत्मा' कहते हैं।*

* 'अहं—अन्यत् (एतत्)—न', 'अपने से अन्य के निषेध', का विवरण, इस ग्रन्थ के, 'महा समन्वय' नामक, अंतिम अध्याय मे मिलैगा।

ज्ञानब्रह्म और शुक्रब्रह्म का घनिष्ठ सम्बन्ध है। वैद्यक शास्त्र का सिद्धांत है कि, आहार के परिपाक से, क्रमशः सात धातु स्थूल शरीर के बनते हैं—रस, रक्त, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा, शुक्र; 'दधाति देहं, इति धातुः'। आहार का सातवां परिपाक अथवा परिणाम, सप्तम और सर्वोत्तम धातु, शुक्र है, जिस मे नवीन प्राणिशरीर का आरम्भ करने की शक्ति है; ईश्वर के सदृश सृष्टि की शक्ति है। उस का निरोध, संचय, और अधिक परिपाक होने से, अष्टम परिणाम, सूक्ष्मशरीरांतर्गत ओजस्, रंहस्, महस्, सहस्, तेजस्, तरस्, वर्चस् आदि, अर्थात्, क्रमशः, शरीर की मांसपेशियों का, इन्द्रियों का, हृदय का, तथा अन्य अवयवों का बल, वीर्य, शक्ति रूप होता है। देहधारी जीव, या जीवाधिष्ठित देह, के इन सब, शुक्र पर्यन्त, शक्ति पर्यंत, धातुओं की उत्पत्ति, अन्न ही से होती है, इस लिये "अन्नं ब्रह्म" भी कहा है।

ब्रह्मचर्यावस्था मे इन दोनो ब्रह्मो का, ज्ञानब्रह्म और शुक्रब्रह्म का, जितना सञ्चय करते बने उतना ही पीछे काम देगा, उतना ही अधिक बुद्धि का बल और शरीर का बल, अपने लिये, अपने कुल कुटुम्ब के लिये, अपने समाज के लिये सुख साधने के वास्ते पास रहेगा। इसी से इस अवस्था का नाम 'ब्रह्मचर्य' है, अर्थात् 'ब्रह्मसञ्चयानुकूल चर्या', आचरण।

जो मनुष्य, जो जाति, जो धर्म, ऐसे ब्रह्मचर्य का आदर नहीं करते, वे शीघ्र ही बल वीर्य बुद्धि से हीन हो जाते हैं, और संसार मे उन का अनादर होने लगता है। अन्नब्रह्म से शुक्रब्रह्म, शुक्रब्रह्म से ज्ञानब्रह्म, मनुष्य के स्थूल और सूक्ष्म शरीर मे व्यक्त होता है, इस से इन तीनो का समान आदर करना उचित है। एक ही ब्रह्मशक्ति के अनन्तरूप हैं, स्थूल भी, सूक्ष्म भी; शारीर भी, मानस भी; भौतिक भी, दैविक भी; बाह्य भी, आन्तर भी। महत् बुद्धि की परिणति, विकृति, सांख्योक्त महाभूतादि हैं, और इन का प्रतिप्रसव, पुनः बुद्धि मे और मूल प्रकृति मे होता है। इसी लिये मनु ने कहा है,

पूजयेद् अशनं नित्यं अद्यात् चएतद् अकुत्सयन्;
पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति।

तथा अन्य ऋषि ने,

पाके रसस्तु द्विविधः प्रोच्यतेऽन्नरसात्मकः ;
रससारमयो भागः शुक्रं ब्रह्म सनातनम् ।

भोजन को पूजाबुद्धि से, आदरदृष्टि से, देखै । तब उस से शरीर में बल और ऊर्ज (फुर्तीलापन, अँग्रेज़ी में 'एन्अर्जी') उत्पन्न होते हैं । अन्न के रस का जो सारतम अंश है, वह शुक्ररूप सनातन ब्रह्म है । सात्विक भोजन, शुद्धभाव से, इस प्रार्थना से, इस भावना से, इस धारणा से, ब्रह्मचारी को करना चाहिए, कि यह भोजन मेरे शरीर मे सात्विक बल-वीर्य-ज्ञान उत्पन्न करे । सात्विक, राजस, तामस, भोजनो के भेद, गीता (अ. १७, श्लो. ७-१०) मे, तथा वैद्यक के ग्रन्थो मे, बताए हैं । अन्न के रस के परिपाक का जो सार है, वह साक्षात् सनातन ब्रह्म-स्वरूप शुक्र है, उस का व्यर्थ क्षय नहीं करना चाहिये ।

आहारस्य परं धाम शुक्रं, तद्रक्ष्यं आत्मनः ;
क्षयो हि अस्य बहून् रोगान्, मरणं च, प्रयच्छति । (चरक)
ज्ञानं, शौर्यं, महः, सर्वं ब्रह्मचर्ये प्रतिष्ठितं ।

आहार की, भुक्त अन्न की, उत्तम परिणति शुक्र, वीर्य, है ; स्त्रियों के लिये, कुमारी कन्याओं के लिये, भी, शुद्ध ब्रह्मचर्य के पालन की विधि वैसी ही है, जैसी कुमार बालकों और युवाओं के लिये; स्त्रीवीर्य को 'रेतस्', 'रजस्', कहते हैं, यह संस्कृतभाषा का संकेत है । इस लिये अपने वीर्य शुक्र रेतस् की रक्षा करनी चाहिये; इस के व्यर्थ क्षय से, बहुत रोग, मरण तक, उत्पन्न होते हैं; ब्रह्मचर्य से ज्ञान, शौर्य, महस्, शोभा, शरीर पर चमक, सब मिलते हैं । वीर्य शब्द की व्युत्पत्ति ही है, 'वीराय हितं, वीर्यं', जो 'वीर' के लिये हित हो, वीरता उत्पन्न करै; और 'वीन्, अश्वान्, ईरयति, इति वीरः,' जो घोड़ों को चला सकै, हाँक सकै, शह-सवार हो ।

अन्न-शुद्धि, वीर्य-शुद्धि, भोजन-शुद्धि, विवाह-शुद्धि, पर, मानव-सनातन-वैदिकधर्म मे, बहुत जोर दिया है । हेतु स्पष्ट है । शरीर का स्वास्थ्य, बुद्धि का प्रसाद, सन्तान का उत्कर्ष, इन्ही दो शुद्धियों पर आश्रित है । पर दोनों का अर्थ, आजकाल, 'हिन्दू' कहलाने वालों मे, विपरीत ही किया जाता है । क्योंकि वर्ण-व्यवस्था के

मूल सिद्धान्त, 'कर्मणा वर्णः' का ही विपर्यय, 'जन्मना वर्णः' रूपी अप-सिद्धान्त, कर दिया गया है।

खान पान के बारे मे 'छूओ मत' की जो अन्धाधुन्ध आफ़त आजकाल इस अभागे देश मे मची है, उस के असद् अंश को छोड़ कर, जो सद् अंश बचता है उस का तात्विक हेतु, असल मतलब, यही है कि, भोजन शुद्ध और सात्विक होना चाहिये; स्वच्छ शुचि आदमियों के हाथ का बना और परोसा होना चाहिये; स्वच्छ शुचि आदमियों के साथ बैठ के खाया जाना चाहिये। सो तो होता नहीं; स्वच्छता सात्विकता, भोज्य पदार्थ की अथवा बनाने वाले अथवा खाने वाले की, तो देखी नहीं जाती; जाति का नाम ही देखा जाता है; "छूओ मत", "छूओ मत", यही पुकार पुकार कर, पवित्रंमन्यता और दम्भ और अहंकार का सन्तोषण पोषण किया जाता है, तथा इस परस्पर असूपृश्यता से परस्पर स्नेह और तज्जनित संघ-शक्ति की हत्या की जाती है; और दूसरों को निमन्त्रण दिया जाता है कि ऐसे छिन्न भिन्न हिन्दुओं को रोज़ जूतियाँ लगावें। कबीर ने यही देख कर गाया और रोया था,

चौका भीतर मुर्दा पाकै, न्हाय धोय कै जेवैं।

पशु का मुर्दा तो पेट के भीतर डालेंगे, इस मे अपनी परम अशुचिता नहीं देखेंगे। पर यदि उसी मुर्दे को पकाते समय दूसरी अवान्तर जाति का जीवन्मनुष्य, अपने से रूप, रंग, वस्त्र मे अधिक स्वच्छ भी, छू दे, तो 'छू गया' 'छू गया' का हौरा मचावेंगे। इस दम्भ का फल, सिवा विनाश के और क्या हो सकता है ? कुछ लोगों ने, जो 'जन्मना वर्णः' और 'जन्मना अस्पृश्यता' के समर्थक हैं, अंग्रेजी का 'माग्नेटिज़म' शब्द सुन लिया है; ये लोग तर्क करते हैं कि, 'नीच-जाति' का स्थूल शरीर चाहे देखने मे स्वच्छ भी हो, पर उन के सूक्ष्म-शरीर का 'मैग्नेटिज्म' अपवित्र ही होगा। इस का प्रति-तर्क और क्या किया जाय सिवा इस के कि "ज्ञान-लव-दुर्विदग्धं ब्रह्माऽपि तं नरं न रंजयति" ? 'अधकचरे पंडित को ब्रह्मा भी खुश नहीं कर सकते'। 'उच्चजातिम्मन्य' लोगों मे से कितने कह सकते हैं कि हम शुद्ध सदाचारी हैं, निष्पाप हैं, हमारे सूक्ष्म-शरीर की 'हवा' दूसरों के सूक्ष्म शरीर को पवित्र करती है ? लशुन-पलाँडु-मांस-मत्स्य-मदिरा आदि अभक्ष्य का

भक्षण, अपेय का पान, अगम्या का गमन आदि करते हुए लोग, यदि इन के वर्जन करने वालों को भी 'नीचजाति' कह कर अस्पृश्य बतावैं, और परस्पर दुराव बराव के घोर दुष्फल 'प्रत्यक्ष' देखते हुए भी, अप्रत्यक्ष 'मैग्नेटिज्म' की दलील करैं, तो उन के उत्तर मे सिवा इस के क्या कहा जाय, कि मच्छड़ से बचने के लिये व्याघ्र के मुह मे शरण लेना चाहते हैं।[1]

शिव-शक्ति की पूजा की भी ऐसी दुर्दशा हो रही है, और ऐसे ही उस का भी असल मतलब भूला हुआ है। असल मतलब यह था कि परमात्मा की, अनन्त रूपों को धारण करने की, शक्ति, बहुत्व-शक्ति, प्रजनन-शक्ति, पितृत्व-मातृत्व-शक्ति का परम आदर किया जाय, और कभी दुष्प्रयोग न किया जाय। उत्तम विवाह, उत्तम दाम्पत्य, उत्तम गार्हस्थ्य मे उस का सत्प्रयोग और सदुदाहरण हो। हो क्या रहा है ? शिव-पूजा के नाम से केवल पिंडिका पर कुछ दाने अक्षत, दो चार पत्ते फूल, एक लोटा जल फेंकना, पुजारियों की पुकार पर पैसे भी फेंक देना, मन्दिरों के भीतर धक्कमधुक्का करना। और शक्ति-पूजा के नाम से वाम-मार्ग के भी पंच-मकार (मत्स्य, मांस, मद्य, मैथुन , मुद्रा) के निषिद्ध और अति घृणित बीभत्स प्रकारों के भी दुराचार कर डालना।

गार्हस्थ्य के सम्बन्ध में विवाह के विषय पर आगे और कहा जायगा।

ब्रह्मचर्य के विषय को समाप्त करते हुए, यहां इतना और वक्तव्य है कि,

---

१ Magnet-ism का अर्थ है, magnet, 'चुम्बक', की शक्ति, जिस से चुम्बकी लोहा, साधारण लोहे को अपनी तरफ़ खींचता है, या यदि वह अधिक भारी हुआ, तो उस की ओर स्वयं खिंच जाता है। विशिष्ट स्त्री-पुरुषों मे भी विशिष्ट आकर्षण-शक्ति होती है, तथा अप-कर्षण-शक्ति, क्षेपक-शक्ति भी। रोगों की संक्रामकता भी एक ऐसी ही सूक्ष्म शक्ति है। जिस शक्ति की प्रबलता प्रत्यक्ष हो, स्पष्ट अनुभूत हो, उसी के विचार से कार्य करना उचित है। अप्रत्यक्ष, दूर-स्थित, सम्भावनाओं की कल्पना पर आचरण करना, बुद्धिमानी नहीं है। असल मे 'इच्छा', 'कामना', 'काम' ही मुख्य मूल-शक्ति है; इसी के अवान्तर भेद, सब ही शक्तियाँ हैं। 'पुरुषार्थ' ग्रन्थ के 'कामाध्यात्म' नामक चतुर्थ अध्याय मे इस विषय का विस्तार किया गया है।

कहावत ही है कि, पहिले कमा लो तब खर्च करो। जितनी कमाई पहिले अधिक कर ली जायगी, उतना ही ऐश्वर्य पीछे निबाहते बनेगा। पर यहां भी 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' का सिद्धान्त याद रखना चाहिये। बहुकाल पर्यन्त, अथवा नैष्ठिक, ब्रह्मचर्य, इने गिने ही, जीव कर सकते हैं। ठीक ठीक नैष्ठिक ब्रह्मचारी, पुराणेतिहास मे, चार सनत्कुमारादि ऋषि, हनूमान्, और भीष्म, और संशयित रूप में नारद, सरस्वती, आदि, ऐसे बहुत थोड़े ही दिखाये हैं। सब शरीर ऐसे नहीं होते कि चिर काल तक ब्रह्मचर्य के तपस् को कर सकें, सच्चे उर्ध्वरेतस् हो जायं, और आहार से जनित समस्त शुक्र का परिणमन उन सूक्ष्मतर रसों मे कर डालें, जिन से मस्तिष्क के तथा शरीर के नाड़ीव्यूह के सुप्तप्राय चक्रों का तर्पण पोषण और जागरण होता है, और सूक्ष्म शरीर की इन्द्रियों का विकास हो कर योगसिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। साधारण शरीरों मे, अतिकाल और अतिमात्र ब्रह्मचर्य करने से बीमारी, और तरह तरह के विकार, शारीर और मानस, पैदा हो जाते हैं। जैसे कृपण सूम के घर मे धन का अति सञ्चय हो कर, समाज मे सञ्चार न होने से, तरह तरह के चोर उस के घर मे घुसते हैं, और सामाजिक उपद्रव भी पैदा हो जाते हैं। काम को अतिमात्र रोकने से काम का सगा छोटा भाई क्रोध प्रबल हो जाता हैं। 'बालब्रह्मचारी अति कोही', इस वाक्य मे तुलसीदास ने आध्यात्मिक वैद्यक की बात दिखाई है। सच्चे तपस्वी 'स्वयंदासास्तपस्विनः', अक्सर चिड़चिड़े होते हैं। पुराण की कथा भी है कि, विष्णु की डेवढ़ी पर, जय और विजय ने, सनत्कुमार आदि कुमार ऋषियों को ज़रा सा कहा कि, 'आप यहाँ थोड़ा आराम कर लें, कुर्सियों पर बैठ जायँ, सरकार अभी प्रातःकृत्य से निवृत्त नहीं हुए, ज्यों ही मिलने के कमरे मे आवेंगे आप को ले चलेंगे'; पर इतने ही से, "कामानुजेन सहसा त उपाप्लुताक्षाः", काम के अनुज क्रोध से उन कुमारों की आँखें लाल हो गईं; शापाशापी की नौबत आ गई; जय विजय को भी तीन जन्म लेने पड़े; सनत्कुमारादि के कितने ही भाई भतीजे ऋषियों को, दैत्य और राक्षस रूप धारण कर के, वे भोजन कर गये; कुमारों को भी नरदेहों मे जनमना पड़ा; विष्णु जी महाराज को भी, एक ओर भक्त ऋषियों, और एक ओर मुँहलगुए नौकरों, के बीच मे निपटारा करते करते, तीन अवतारों की दुर्दशा भोगनी पड़ गई।

इस लिये साधारण जीव को, ब्रह्मचर्य मे भी 'अति' बचाने की आवश्यकता है, कि वातव्याधि, उन्माद, अपस्मार, अतिक्रोध, अतिक्षोभ, प्रमेह, क्षय, आदि न उत्पन्न हो जायँ।

गार्हस्थ्याश्रम।

ब्रह्मचर्य को यथा-शक्ति उत्तम प्रकार से निबाह कर, विवाह करना उचित है।

अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्। (मनु)
ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिं।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येण अश्वो घासं जिगीर्षति। (वेद)

इस आश्रम की महिमा पहिले कह चुका हूँ।

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा,
एते गृहस्थप्रभवाः चत्वारः पृथगाश्रमाः।
सर्वेषामपि चैतेषां, वेदश्रुतिविधानतः,
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः, स त्रीनेतान् बिभर्ति हि। (मनु)

चारो आश्रम गृहस्थ ही से उत्पन्न होते हैं। वेद का निर्णय है कि सब आश्रमो मे श्रेष्ठ गृहस्थ ही है। यही, अपना भी, अन्य तीनो का भी, भरण पोषण करता है। आदि जाया-पती प्रकृति-पुरुष हैं; अन्तिम भी; और सार्वकालिक, शाश्वत, दम्पती भी ये ही हैं। पुरुष-प्रकृति को, स्व और स्व-भाव को, ब्रह्म-माया को, शिव-शक्ति को, जीव-देह को, आत्मा-बुद्धि को, चाहे एक कहिये, चाहे दो अर्धाङ्ग, दो दक्षिण-वाम अर्द्ध, कहिये, चाहे दो कहिये, जाया-पती, जोड़ा कहिये, चाहे अनन्तानन्त अनेक कहिये, बात प्रत्यक्ष है। फ़ारसी की प्रसिद्ध गीत है।

मन् तू शुदम्, तू मन् शुदी; मन् जाँ शुदम्, तू तन् शुदी;
ता कस् न गोयद् बाद् अज़् ईं, मन् दीगरम्, तू दीगरी।
मै तू हुआ, तू मै हुई, मै जान् हुआ, तू तन हुई;
अब तो न कोई फिर कहे—मै दूसरा, तू दूसरी।

वेदोपनिषत् के सारमय शब्दों मे सृष्टि का मूल कारण ही यही कहा है कि, अकेले परमात्मा का मन नहीं लगा। "एकाकी न अरमत, आत्मानं द्वेधा व्यभजत

पतिश्च पत्नी च अभवत् ।" मनु ने पूर्ण मनुष्य का स्वरूप ही त्रिमूर्त्ति-आत्मक कहा है ।

एतावानेव पुरुषो, यत्जाया आत्मा प्रजाइति ह ।
विप्राः प्राहुस्तथा चएतद्, यो भर्त्ता सा स्मृताङ्गना ।

पति, पत्नी, सन्तान, तीनो मिल कर पूर्ण पुरुष होता है । पौराणिक त्रिमूर्ति, ईसाई मत की 'ट्रिनिटी', मनुष्य के तथा सूर्य के तीन शरीर, स्थूल-सूक्ष्म-कारण—इस सब त्रिकों के मूल मे समानता है । पर इस के विशेष विवरण मे पड़ने का यह अवसर नहीं है[१] ।

व्यक्ति-कुल-जाति आदि समस्त मानववंश का समन्वय ।

इस श्लोक के आशय की एक बात ध्यान मे रखने की है । पश्चिम के समाजशास्त्रियों और राजशास्त्रियों ने व्यक्तिरूप मनुष्य को, 'इंडिविज्युअल' को, समाज का आरम्भक अवयव अथवा 'अणु', 'यूनिट्', केंद्र, माना है । भारतवर्ष के ऋषियों ने त्रिमूर्त्यात्मक कुल को, 'फ़ैमिली' को, ऐसा आरम्भक अवयव माना है । इसी कारण से, जैसा केन्द्र मे भेद है वैसा परिधि मे भी भेद है; जैसा व्यष्टि में वैसा समष्टि मे । पश्चिम की सामाजिक परिधि 'जाति', 'नेशन्', 'राष्ट्रीयता', 'नैशनलिज्म', इत्यादि है । भारतवर्ष के लिये यह परिधि 'मनुष्य जाति', 'ह्यूमन् रेस्', 'विश्वजनीनता', 'ह्यूमनिज्म' है । और इसी विश्वजनीन भाव को लेकर वर्णव्यवस्था, एक ऐसा साँचा, आध्यात्मिक सिद्धान्त के अनुसार, बनाया गया है, कि इस मे मनुष्य मात्र की अनन्त जात्युपजातियाँ, समग्र पृथिवीमण्डल के सब देशों की, अपनी अपनी गुण-कर्म-योग्यता के अनुसार, यथास्थान समाविष्ट की जा सकती हैं; और उन के परस्पर विवादों को मिटा कर, सब को मिला कर, एक चातुर्वर्ण्यात्मक मानव महासमाज बनाया जा सकता है । ऐसा कोई देश नहीं और

१—अंग्रेज़ी ग्रन्थ, The Essential Unity of all Religions, मे इस विषय पर विस्तार किया है ।

कोई काल नहीं जिस मे बीसियों, सैकड़ों, अथवा हजारों, छोटी बड़ी जातियाँ, विविध नामो से पुकारी जाती हुई, न पाई जायँ। पर, अध्यात्म-विज्ञान के सिद्धांतों के बल से,सब को एक समाज मे गूँथने का उपाय और प्रयत्न, विशेषतः मनुजी के'मानव' धर्म ही ने प्राचीन काल मे किया, पर आज उस धर्म की और आध्यात्मिक सिद्धांतों की ऐसी दुर्दशा है कि, अन्य देशों से अत्यधिक, इस देश मे जात्युपजातियों मे परस्पर विश्लेष और विद्वेष है। 'जाति' शब्द का अर्थ दूसरा है, 'वर्ण'का अर्थ दूसरा। इन दोनो अर्थों और शब्दों का सङ्कर कर देने से वर्तमान अव्यवस्था और निर्मर्यादता उत्पन्न हुई है। 'जन्मना जातिः'; स्वभाव-गुण-कर्मानुसार, आजीविकार्थ, 'वृत्त्युपायः व्रियते, इति, कर्मणा वरणाद्, वर्णः'। जाति का अर्थ जात; वर्ण का अर्थ जीविकोपाय, पेशा, रोज़गार, जो अपने अपने स्वभाव-गुण-कर्म के अनुसार 'वरण' किया जाय, चुन लिया जाय। सिंह जाति की सन्तान सिंह जाति। बकरी जाति की सन्तान बकरी जाति। हाथी जाति की सन्तान हाथी जाति। पर अध्यापक (ब्राह्मण) वर्ण की सन्तान तो सिपाही (क्षत्रिय) वर्ण, अथवा दूकानदार (वैश्य) वर्ण, अथवा बोझा ढोने वाले, मिहनत मजदूरी करने वाले, (शूद्र) वर्ण के, तथा इस के विलोम विपर्यास, भी, प्रत्यक्ष, लक्षशः देख पड़ते हैं। वैयाकरण का बेटा वैयाकरण ही, ज्योतिषी का ज्योतिषी ही, सूबेदार रिसाल्दार का सूबेदार रिसाल्दार ही, प्रायः नहीं देख पड़ता। खेतिहर का बेटा योद्धा, और योद्धा का खेतिहर, अक्सर देख पड़ता है।

स्त्री-पुरुष-समता-विषमता-समन्वय।

अस्तु, पूर्वोक्त श्लोक से यह तो स्पष्ट ही है, कि स्त्री और पुरुष की आदरणीयता, भगवान् मनु ने, तुल्य मानी है। 'यो भर्त्ता सा स्मृता अंगना', जो पति वही पत्नी ; बल्कि स्त्री का आदर, ऋषियों ने, अधिक किया है।

जीर्णे भोजनम्आत्रेयः; गौतमः प्राणिनां दया ;
बृहस्पतिर्अविश्वासः; भार्गवः स्त्रीषु मार्दवम्।

चार ऋषियों के चार मुख्य उपदेश हैं। एक बार भोजन किया हुआ अन्न जब जीर्ण हो जाय, अच्छी तरह पच जाय, तब ही दूसरी बार भोजन करना।

प्राणिमात्र पर दया करना। विश्वास करते हुए भी अत्यन्त अन्ध विश्वास नहीं करना; श्रद्धान्ध और परप्रश्न न हो जाना; विश्वासपात्र जाँच करके, उस पर विश्वास करते हुए भी स्वयम्प्रश्न बने रहना। और स्त्रीमात्र से मृदुता, नम्रता, प्रश्रय का व्यवहार करना; रुखाई, तिरस्कार, क्रूरता का व्यवहार नहीं करना। शिष्टों का आचार भी यही है। नामोच्चारण में पहिला स्थान पत्नी को, दूसरा पति को, देना। यथा सीता राम, शारदा चतुर्मुख, लक्ष्मी नारायण, गौरी शंकर, इत्यादि। परमात्मा की प्रकृति के, ये तीन जोड़, आद्य आविष्कार हैं। लक्ष्मी और ब्रह्मा, रजःप्रधान; सरस्वती और विष्णु, सत्वप्रधान; उमा और महेश्वर, तमःप्रधान। रजः-कर्म का विवाह, सत्व-ज्ञान से किया जाता है; बिना कर्म के ज्ञान निष्फल, बिना ज्ञान के कर्म व्यर्थ और अनर्थ। तमस्-इच्छा तो ज्ञान और कर्म दोनो की प्रेरक शिव-शक्ति ('शेते सर्वेषु इति शिवः; शक्नोति सर्वं कार्यं कर्त्तुं इति शक्तिः'), रात-दिन, निद्रा-जागरण, शिव-रुद्र, भव-हर, गौरी-काली, राग-द्वेषात्मक, काम-क्रोधात्मक, सदा-सम्बद्ध, अङ्ग के अर्धद्वय रूपी हैं। ये ही आद्य तीन जोड़े, महागृहस्थ, संसार के सब कार्य चलाते हैं, और सब महर्षि परमर्षि यति सन्यासी आदि के परम पितामह हैं।

गिराम् आहुर्देवीं द्रुहिणगृहिणीं आगमविदो,
हरेः पत्नीं पद्मां, हरसहचरीम् अद्रितनयां;
तुरीया कापि त्वं, दुरधिगमनिस्सीममहिमे!,
महामाये!, विश्वं भ्रमयसि, परब्रह्ममहिषि! (आनन्दलहरिः)

आगम पुराण के जानने वाले, गिरा-देवी, वाग्देवी, सरस्वती को, द्रुहिण, ब्रह्मा, की गृहिणी कहते हैं; पद्मा, लक्ष्मी, को, हरि, विष्णु, की; अद्रितनया, पर्वत की पुत्री, को, हर, महेश, की। परन्तु, हे महामाये!, आप की महिमा निस्सीम, अनन्त है, आप स्वयं परब्रह्म की महिषी, देवी, परमा शक्ति हो, और समस्त विश्व को भ्रमा, चक्रवत् घुमा, रही हो!

मानवधर्म में स्त्रियों का आदर इतना है कि, पुरुष से तुलना की कथा दूर, स्त्री-पुरुष परस्पर अर्धांग माने हैं; दोनो मिल के ही शरीर पूर्ण होता है। पत्नी का पर्याय 'अर्धाङ्गिनी' है।

स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ;
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः ;
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते, सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः । (मनु)

स्त्री और श्री में कोई भेद नहीं; स्त्री का नाम ही गृहलक्ष्मी, गृह की अन्नपूर्णा, है। जहाँ स्त्रियों का आदर होता है वहाँ देवता प्रसन्न रहते हैं। जहाँ स्त्रियों का आदर नहीं वहाँ सब क्रिया कर्म, सब यत्न परिश्रम, निष्फल और व्यर्थ हो जाते हैं। मातृत्वेन तो स्त्री का स्थान उपाध्याय, आचार्य, पिता आदि सब से सहस्र गुण ऊँचा है, यह पहिले कह आये हैं। उस को यहाँ दोहराना उचित ही है।

उपाध्यायान् दश, आचार्यः; शतआचार्यान् तथा, पिता ;
सहस्रं तु पितॄन्, माता, गौरवेण अतिरिच्यते।

वस्तुस्थिति यही है।

मातृवात्सल्यपूर्णाभिः सतीभिर्धार्यते जगत्।

बच्चों के लिये माता का जो स्नेह है, वही जगत् को धारे है। माता का स्नेह और प्राण ही, दूध के रूप से मूर्तिमान् हो कर, नयी नयी पुश्त का पालन पोषण करता है; नहीं तो मनुष्य जाति उच्छिन्न हो जाय।

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते संभवे नृणां,
न तस्य अपचितिः शक्या कर्तुं, वर्षशतैरपि।

बच्चे के पालने में जो क्लेश माता पिता उठाते हैं उस की अपचिति, उस का प्रत्युपकार, उस का ऋण-निर्मोचन, सैकड़ों वर्ष के परिश्रम से भी पुत्र नहीं कर सकता है। उस ऋणनिर्मोचन का अकेला उपाय यही है कि, स्त्री-पुरुष अपनी संतान के लिये वैसा ही क्लेश उठावैं, जैसा उन के माता पिता ने उन के लिये उठाया।

जैसे बहुतेरे पुराने श्लोकों के अर्थ का अनर्थ किया जाता है, वैसे इस सम्बन्ध में भी मनु के एक श्लोक की दुर्दशा हुई है। "व्याख्या बुद्धिबलापेक्षा", यदि सात्त्विक बुद्धि से अर्थ किया जाय तो सात्त्विक अर्थ निकलेगा; यदि राजस-तामस बुद्धि से, तो राजस तामस; जैसा रंग चश्मे का, वैसा दृश्य का।

पिता रक्षति कौमारे, भर्त्ता रक्षति यौवने,
पुत्रो रक्षति वार्धक्ये, न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति ।

इस का स्पष्ट अर्थ यह है कि, जैसे किसी बहुमूल्य वस्तु की रक्षा करनी चाहिये वैसी, पिता कुमारी अवस्था मे, भर्त्ता यौवन मे, पुत्र वृद्धावस्था मे, स्त्री की रक्षा करै; क्लेश और दुःख से उन को बचाता रहै; इस लापरवाई से छोड़ न देना चाहिये कि अपनी फ़िक्र आप कर लेंगी, अपनी मुसीबतें आप झेल लेंगी। "न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति" का यह अर्थ नहीं है कि स्त्री को ग़ुलाम बना लेना चाहिये, पिंजरे में बंद कर देना चाहिये। यदि बांधना ही है, तो परस्पर प्रेम की रस्सी से बाँधो, लोहे की सिकड़ी से नहीं।

पश्चिम के शिष्टतम और स्वच्छन्दतम समाज मे भी यही प्रथा है कि, जहाँ कहीं जाने आने मे किसी प्रकार के तिरस्कार, अपमान, या शारीर क्लेश का भय हो, वहाँ स्त्रियों के साथ, उन की रक्षा करने के लिये, रिश्तेदार या जाने पहिचाने विश्वास-पात्र पुरुष, साथ जाते हैं। हाँ, सब उत्सर्गों के लिये अपवाद होते हैं। जो विशेष स्त्रियाँ ऐसी हों कि अपनी रक्षा स्वयं कर सकती हों, उन के लिये यह श्लोक नहीं है। पश्चिम मे यदि कोई कोई स्त्रियां, सिंह का शिकार, उत्तम बन्दूक आदि की सामग्री के बल से, कर लेती हैं, तो भारतवर्ष मे भी, प्रायः जंगलों मे अथवा जंगलों के आस पास रहने वाली जातियों मे, ऐसी स्त्रियां भी अक्सर पाई जाती हैं, जो वन्य पशुओं का मुकाबला, और उन से अपनी और अपने बालकों की रक्षा, बहुत साधारण हथियारों के बल से कर लेती हैं। ऐसी स्वयंरक्षित स्वतन्त्र स्त्रियों के भाव का अभाव, भारतवर्ष के साहित्य और इतिहास मे नहीं है; इस का प्रत्यक्ष प्रमाण, पुराणों की सिंहवाहना दुर्गा के रूपक से, तथा राजपूताने के इतिहास से, सिद्ध है। कितने ही अवसरों पर, राजपूत वीराङ्गनाओं ने सेनानी का कार्य किया है; इन्दौर की महारानी अहल्या बाई के रामराज्य की अंग्रेज़ इतिहास-लेखकों ने, मुक्तकंठ प्रशंसा की है; सन् १८५७ के सिपाही युद्ध मे, झांसी की रानी, महारानी लक्ष्मी देवी ने, स्वयं घोड़े पर सवार हो कर, तलवार और भाला ले कर, अंग्रेजी फ़ौज से युद्ध किया, और वीरगति पाई। स्वयंरक्षितता का तो कहना ही क्या है, जगद्रक्षकता का काम दुर्गा देवी के

सुपुर्द है। महिषासुर और शुंभ निशुंभादि के वध का जो काम देवों से नहीं बना, वह देवियो ने किया। अपने बालकों की रक्षा के लिये मनुष्य जाति की कोमलतम स्त्रियां भी सिंहिनी हो जाती हैं। अन्यथा, स्त्री का साधारण स्वभाव ही है, कि रक्षा चाहती है, रक्षक का आश्रय लेना चाहती है, ("सीक्स् प्रोटेक्शन्")। यह, पश्चिम के स्त्री-पुरुष-स्वभाव के तत्त्व के गवेषक वैज्ञानिकों ने भी निश्चय किया है।

> देव्या यया ततमिदं जगदात्मशक्त्या,
> निःशेषदेवगणशक्तिसमूहमूर्त्या,
> तामम्बिकां, अखिलदेवमहर्षिपूज्यां,
> भक्त्या नताः स्म, विदधातु शुभानि सा नः। (सप्तशती)

आत्मा की शक्ति रूपिणी जिस देवी ('दीव्यति, क्रीडति, लीलां नाटयति, इति देवी') ने "इदं", "यह", "दृश्य" नाम वाले सारे जगत्, ('जंगम्यते इति जगत्'), गमनशील, परिवर्तनशील, संसार को बनाया और फैलाया है, जो 'अनंत' देवीनामक शक्तियों की समूहरूपिणी है ("आत्मैव देवताः सर्वाः"), जिस की ही उपासना हृदय से सब देव और सब महर्षि करते हैं, उस अम्बिका को, जगत्सावित्री, जगद्धात्री, शक्ति को, भक्तिपूर्वक नमस्कार है; वह हम सब का भला करे।

देवताभेद-समन्वय

जैसा मैं पुनः पुनः कहा करता हूँ, असल में देवता तीन ही हैं; जिन्हीं की पूजा सब देश और सब काल में, सब जाति और सब धर्म के सब मनुष्य, सदा करते आये, करते हैं, और करते रहेंगे; चाहे वे ईसाई हों या मुसलमान, यहूदी या पारसी, जैन या बौद्ध; संस्कृत शब्दों का व्यवहार करने वाले हिन्दू भारतीयों का तो कहना ही क्या है। अर्थात् सरस्वती, ज्ञान की देवता; लक्ष्मी, धनदौलत, शानशौकत, शोभासम्पत्ति, ऐश्वर्य, तुज़ुको इश्मत, की देवता; तथा गौरी, प्राण की, अन्न की, प्रेम की, रूपसौन्दर्य, दाम्पत्यसुख, और सन्तान की, देवता, जिन के अनन्त रूपान्तर, (रागद्वेष के अनन्त रूपान्तरों और विकारों के अनुसार), अन्नपूर्णा,

पार्वती, उमा, दुर्गा, चंडी, काली, आदि हैं। ये ही तीन, परमात्मा की शक्ति की तीन मुख्य रूप हैं। इन्हीं शक्तियों की उपासना संसारमात्र कर रहा है। और सब स्त्रियाँ और सब विद्या, शक्तिस्वरूप ही हैं। शक्ति ही की भेद और कला हैं।

विद्याः समस्तास्तव, देवि !, भेदाः,
स्त्रियः समग्राः स-कलाः जगत्सु।

गृहदेवता-स्त्री की महिमा

इन्हीं गृहसरस्वती, गृहलक्ष्मी, गृहगौरी, गृहान्नपूर्णा के प्रसन्न रहने से, गृह समृद्ध सम्पन्न होता है; हँसते, खेलते, नीरोग, हृष्ट-पुष्ट बालकों से पूर्ण रहता है, जिन के दर्शन से नेत्र तृप्त होते हैं, और घर घर मे राम-कौसल्या, कृष्ण-यशोदा, ईसा-मर्यम, फातिमा-हसन-हुसैन की दिन दिन झाँकी होती है। इन्हीं के अप्रसन्न होने से, और गृहचण्डी और गृहकाली बन जाने से, गृह नष्ट हो जाता है।

या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भवनेषु; अलक्ष्मीः
पापात्मनां; कृतधियां हृदयेषु बुद्धिः;
श्रद्धा सतां; कुलजनप्रभवस्य लज्जा;
तां त्वां नताः स्म; परिपालय, देवि !, विश्वम्।
मेधा असि, देवि विदिताखिलशास्त्रसारा;
दुर्गाऽसि, दुर्गभवसागरनौरसंगा;
श्रीः, कैटभारिहृदयैककृताधिवासा;
गौरी त्वमेव शशिमौलिकृतप्रतिष्ठा। (सप्तशती)

'हे देवि ! पुण्यवान् सुकृती के घर मे श्री, शोभा; पापी के घर मे अप्रसाद, निश्श्रीकता; धीमान् के हृदय मे सात्त्विक बुद्धि; सज्जन के मन मे सत्कार्य करने की साध, सर्धा, श्रद्धा; सत्कुलीन के मन मे ही, लज्जा, अहंकार का अभाव, आत्म-प्रदर्शन का अभाव; यह सब कुछ तू ही है, सो तुझे प्रणाम है। सब शास्त्रों का सार जानने वाली मेधा, धारणावती बुद्धि, धीः, तू ही है; दुर्गम भवसागर के पार

करने वाली नाव, असङ्गरूपिणी, अनासक्तिरूपिणी, दुर्गा-बुद्धि, अकेली तू ही है। (पौराणिक रूपक से, राधा नाम प्राणशक्ति का, और दुर्गा बुद्धिशक्ति का है, "राधा-दुर्गा इति यत् प्रोक्तं प्राणबुद्धयधिदैवतं, प्रादुर्भूतं शक्तियुग्मं, संविदो जगदुद्भवे।" देवीभागवत)। कैटभारि के, (क्रोध को दमन करने वाले के) हृदय में बसने वाली प्रसन्नतारूपिणी श्री तू ही है। शशिमौलि, चन्द्रशेखर (चन्द्रमा से अलंकृत व्योम) की गौरी तारामयी श्वेत प्रभा, चमक, ज्योति, प्रकाश, शोभा, सुषमा, तू ही है। जैसे सांसारिक सुख के वास्ते, प्रवृत्ति मार्ग पर चलते हुए मनुष्य, इन तीन शक्तियों की उपासना, अभ्युदय सम्बन्धी त्रिवर्ग, धर्म-अर्थ-काम, (सरस्वती-लक्ष्मी-गौरी, ज्ञान-क्रिया-इच्छा, विष्णु-ब्रह्मा-शिव, सत्व-रजस्-तमस्), की प्राप्ति के लिये करते हैं. वैसे संसार से विमुख होने पर, निवृत्ति मार्ग पर आरूढ होने पर, मोक्षार्थी होने पर, भी, इसी देवी शक्ति के चरम और परम रूप, महाविद्या, आत्मविद्या, ब्रह्मविद्या, की उपासना उन को करनी पड़ती है।

या मुक्तिहेतुर् अविचिन्त्यमहाव्रता, त्वं
अभ्यस्यसे, सुनियतेन्द्रियतत्वसारैः
मोक्षार्थिभिर्मुनिभिर्अस्तसमस्तदोषैर्,
विद्याऽसि सा, भगवती परमा हि, देवि !

निष्कर्ष यह है कि जो सम्बन्ध पुरुष-प्रकृति का, शिव-शक्ति का, है, वही स्वभावतः, पति-पत्नी का है और होना चाहिये।

शिवः शक्त्या युक्तो यदि, भवति शक्तः प्रभवितुं;
न चेद् एवं देवो न खलु कुशलः स्पंदितुम् अपि;
अतःस्त्वां, आराध्यां हरिहरविरिंच्यादिभिरपि,
प्रणन्तुं स्तोतुं वा, कथं अकृतपुण्यः प्रभवति।*

(आनन्द लहरी)

---

* इस श्लोक का अर्थ पहिले, पृष्ठ ५० पर, लिखा जा चुका है।

शंकरः पुरुषः सर्वे स्त्रियः सर्वाः महेश्वरी ;
स्त्रीपुंसप्रभवं विश्वं, स्त्रीपुंसात्मकमेव च ।
(शिवपुराण)

इस दाम्पत्य सम्बन्ध मे अन्य सब स्नेह प्रीति के सम्बन्ध, माता, पिता, पुत्र, पुत्री, भाई बहिन, आदि के, अन्तर्गत हैं; सब इसी से पैदा होते हैं और इसी मे फिर लीन हो जाते हैं ।

त्वमेव माता च, पिता त्वमेव,
त्वमेव बन्धुश्च, सखा त्वमेव,
त्वमेव विद्या, द्रविणं त्वमेव,
त्वमेव सर्वं मम, देवदेव !

ऐसा कहीं राम के प्रति सीता का वाक्य है । दशरथ ने भी कैकेयी की गर्हणा करते हुए, कहा है ।

किं मां वक्ष्यति कौसल्या, राघवे वनमास्थिते;
किं चैनां प्रतिवक्ष्यामि, कृत्वा विप्रियमीदृशम् ।
यदा यदा हि कौसल्या, दासीवच्च, सखीव च,
भार्यावद्, भगिनीवच्च, मातृवच्चोपतिष्ठति,
सततं प्रियकामा मे, प्रियपुत्रा, प्रियंवदा,
न मया सत्कृता देवी, सत्काराहीं, कृते तव !
(रामायण, आ० कां०, अ० १२)

'जब राम वन को चले जायँगे, तब कौसल्या मुझ को क्या कहेंगी, और मैं उन को क्या उत्तर दूँगा ? दासी के, सखी के, भार्या के, भगिनी के, माता के समान, सभी भावों से कौसल्या ने सदा मेरा हित और प्रिय किया, और मैं ने उन का सत्कार न किया' । तथा बसिष्ठ ने भी कैकेयी की भर्त्सना करते हुए कहा है ।

अनुष्ठास्यति रामस्य सीता प्रकृतमासनम् ।
आत्मा हि दाराः सर्वेषां दारसंग्रहवर्त्तिनाम् ।
आत्मेयमिति रामस्य पालयिष्यति मेदिनीम् ।

'यदि राम जङ्गल को जायँगे, तो उन के स्थान मे राजसिंहासन पर सीता बैठेगी। पति की आत्मा ही पत्नी है। यही पृथ्वी का पालन और राजकार्य का चालन करेगी'।

महाभारत के शकुन्तला-दुष्यन्त-उपाख्यान मे, यह अर्थ और भी स्पष्ट किया है।

अर्धं भार्या मनुष्यस्य, भार्या श्रेष्ठतमः सखा,
भार्या मूलं त्रिवर्गस्य, भार्या मूलं तरिष्यतः;
भार्यावन्तः क्रियावन्तः, सभार्याः गृहमेधिनः,
भार्यावन्तः प्रमोदन्ते, भार्यावन्तः क्रियान्विताः;
सखायः प्रविविक्तेषु भवंति एताः प्रियम्वदाः,
पितरो धर्मकार्येषु, भवंतिआर्त्तस्य मातरः,
कान्तारेषुअपि विश्रामो जनस्य आध्वनिकस्य वै;
यः सदारः सः विश्वास्यः; तस्माद् दारा परा गतिः;
संसरन्तं अपि प्रेतं, विषमेष्वपि पातिनं,
भार्यैव अन्वेति भर्त्तारं, सततं या पतिव्रता;
प्रथमं संस्थिता भार्या, पतिं, प्रेत्य, प्रतीक्षते;
पूर्वं मृतं च भर्त्तारं पश्चात् साध्वी अनुगच्छति;
एतस्मात् कारणाद्, राजन्!, पाणिग्रहणं इष्यते,
यद् आप्नोति पतिः भार्यां, इहलोके, परत्र च।

जब, भूला हुआ राजा दुष्यन्त, शकुन्तला को पहिचानता नहीं, तब शकुन्तला, उदार, गुर्वर्थ, ऊर्जस्वल, उद्दाम शब्दों मे, राजा का उपदेशन, शासन, धर्षण भी, करती है। 'भार्या, मनुष्य की, अर्धांगिनी है, सहधर्मचरी है; धर्म-अर्थ-कामरूपी त्रिवर्ग की प्राप्ति भी, और उन के पार तर कर, मोक्ष पाने मे भी मुख्य सहायक है; गार्हस्थ्य के महायज्ञ की एकमात्र साधन है; बिना भार्या के कोई धर्म की क्रिया, सांसारिक क्रिया, नहीं; एकान्त मे प्रियवादी सखा, धर्म कार्यों मे पिता, आर्त्ति में, दुःख मे, रुग्णावस्था मे माता, जंगलों की यात्रा की थकावट मे भी विश्रामस्वरूप, भार्या ही है; जिस के भार्या है, वही विश्वासपात्र होता है; दारा ही परा गति है; पतिव्रता नारी, मृत पति के साथ परलोक को भी चली जाती

है, वा, यदि पहिले स्वयं परलोक को गई, तो वहां पति की प्रतीक्षा करती रहती है; पाणि-ग्रहण इसी लिये किया जाता है कि, सत् पुरुष और सती स्त्री का साथ, इस लोक मे भी और परलोक मे भी रहता है।'

महाभारत के आदि पर्व मे एक स्थान पर कहा है,

आत्मा, आत्मनैव जनितः, पुत्र इत्युच्यते बुधैः ;
तस्माद् भार्यां नरः पश्येन् मातृवत् पुत्रमातरं।
दह्यमानाः मनोदुःखैः, व्याधिभिश्च आतुराः नराः,
ह्लादंते स्वेषु दारेषु, घर्मार्त्ताः सलिलेष्विव।

"आत्मा वै जायते पुत्रः", पुत्र रूप से आत्मा ही, पुनः जन्मता है; इस लिये पुत्र की माता को अपनी ही माता जानना चाहिये। मानस दुःखों से जलते हुए, बीमारियों से आतुर, मनुष्य, अपनी भार्या मे ही दुःख की शांति, आह्लाद भी, सुख भी, पाते हैं; जैसे, घर्म से, गर्मी से, घाम मे, तपा, पानी में।'

यदि भारत-जनता की सूत्रात्मा ने, 'वंदे मातरं' के शब्दों को, संघ का एक राष्ट्रीय मंत्र वा सिंहनाद बनाया है, तो उचित ही किया है। जगद्धात्री, वेदमाता, लोकमाता, मूल-दैवी-प्रकृति-शक्ति, पहिली माता; दूसरी, जन्मभूमि; तीसरी, जननी; तीनो माताओं की वंदना उचित है; प्रतिक्षण। पर केवल वंदना से ही संतुष्ट और कृत-कृत्य नहीं होना चाहिये। जननी की, और एक ही जननी की नहीं, प्रत्येक जननी की, 'रक्षा', सेवा, करनी चाहिये; तभी जन्मभूमि की और जगज्जननी की सेवा हो जायगी। जिस कुल मे, जिस देश में, जिस जाति में, स्त्रियों के साथ, माताओं के साथ, क्रूर दुर्व्यवहार होगा, वह अवश्य ही नष्ट हो जायगा।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः,
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते, सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।
शोचन्ति जामयो यत्र, विनश्यति आशु तत्कुलं;
न शोचन्ति तु यत्र एताः, वर्धते तद्धि सर्वदा।
जामयो यानि गेहानि शपन्ति अप्रतिपूजिताः,
तानि, कृत्याहतानिइव, विनश्यंति समंततः। (मनु)

'जिस कुल मे, जिस जाति मे, नारियों की पूजा, आदर, सत्कार होता है, वहाँ देवता प्रसन्न होते हैं, और वह जाति और कुल समृद्ध सम्पन्न होते हैं, और सदा बढ़ते रहते हैं। जहाँ, इस के विपरीत, नारियां का अपमान होता है, उन को दुःख दिया जाता है, उन के साथ क्रूरता की जाती है, और वे, रोती सिसकती, उन कुलों जातियों को शाप देती हैं, कोसती हैं, वह कुल और जाति सद्यः विनष्ट हो जाती हैं; मानो कृत्या ने, उच्चाटन मारण आदि अभिचार से उत्पन्न मारक आपत्ति ने, विद्युत् से, मार दिया हो।'

निचोड़, निश्च्योत, यह कि, जो उत्तम निदर्शन, प्राचीन ग्रन्थों मे, दिखाये हैं, उन मे पति-पत्नी की अन्योऽन्यऽात्मता ही दिखाई है, और यही कहा हैं कि एक दूसरे के लिये इन को सर्वस्व होना चाहिये। गौरी-शंकर का अन्योऽन्य-अर्धाङ्गित्व भी इसी भाव की परा काष्ठा का पौराणिक रूपक है। स्त्री-पुमान्-उभयात्मक उभयलिंग जीव भी संसार मे होते हैं, यह वैज्ञानिक बात भी इस रूपक से द्योतित होती है, इत्यन्या कथा। वनस्पति वर्ग प्रायः सभी उभयलिंग हैं; तथा मानववर्ग मे भी, पुरुष मे अव्यक्तरूप से स्त्री चिह्न, और स्त्रियों मे अव्यक्त रूप से पुरुष चिह्न, वर्तमान हैं; और, यदा कदा, लाखों मे से एक दो मे, दोनो व्यक्त भी पाये जाते हैं; यह पाश्चात्य आधुनिक वैज्ञानिकों का कहना है। तिस पर भी, मातृत्वेन स्त्री का गौरव, भारतीय शालीनता सभ्यता मे कितना सर्वश्रेष्ठ कर दिया है, यह पहिले कह चुका हूँ।

उपाध्यायान् दश आचार्यः, शताचार्यांस्तथा पिता,
सहस्रं तु पितॄन् माता, गौरवेणातिरिच्यते।

आप स्नातकों को, ब्रह्मचर्य समाप्त कर के, गार्हस्थ्य मे प्रवेश करना है, इस लिये यह सब पुराने आदर्श आप के सामने रक्खे जाते हैं। इतना यहाँ और कह देना चाहिये कि, किसी प्राचीन काल मे, स्त्रियों को भी विधिवत् उपनयन आदि कर के वेदाध्ययन रूप ब्रह्मचर्य कराया जाता था; पर समय बदलने से यह प्रथा बन्द हो गयी है। यदि पुनः बदल कर, प्राचीन अवस्था के सदृश अवस्था, पुनः उत्पन्न हो जाय, तो वह प्रथा भी पुनः प्रचलित करनी पड़ेगी। जैसा पच्छिम मे देख पड़ता है कि लड़कियों की भी विधिवत् शिक्षा होती है। भारत-

वर्ष में भी इस ओर समाज का ध्यान बढ़ ही रहा है। और उपनयन संस्कार का तात्विक अर्थ तो शिक्षा ही है, गले में सूत डाल देना मात्र नहीं। बालक को गुरु के 'उप', समीप, 'नयन', ले जाना, इस लिये कि गुरु उस को 'ब्रह्म' के, ज्ञान के, आत्मज्ञान के, आत्मा के, 'उप', समीप, 'नयन' करे, ले जाय—यह 'उपनयन' संस्कार का तत्व है। ऐसी शिक्षा का अधिकार सभी बुद्धिमानो को है; क्या बालक, क्या बालिका। इसी आशय से गौतमस्मृति मे कहा है।

पुराकाले तु, नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते,
अध्यापनं च वेदानां, सावित्रीवचनं तथा।

हारीत [२१–२०] मे भी कहा है,

तस्मात् छन्दसा स्त्रियः संस्कार्याः।

मनु मे भी ऐसे वाक्य हैं जिन का आशय यह निकलता है कि विदुषी स्त्रियों को वेद के मन्त्रों के अध्ययन उच्चारण का अधिकार है।

वाल्मीकि रामायण मे, कौसल्या के, वेदमंत्रों से अग्नि मे, हवन करने की चर्चा की है। सब, पात्रभेद, अधिकारभेद, की बात है। सिंहिनी की प्रकृति संस्कृति दूसरी, गाय की प्रकृति संस्कृति दूसरी। आज काल के हिन्दू की स्त्री, पति के पीछे चलती है। अंग्रेज की स्त्री, पति के बगल मे, साथ साथ, शिव की पार्वती ऐसी। पर्वतवासियों पार्वतीयों का वर्णन कालिदास ने "वनितासखानां" शब्द से किया है। लोपामुद्रा, अपाला, रोमशा, उर्वशी आदि कई स्त्री-ऋषियों ने वेद के मंत्र रचे हैं, अंभृण ऋषि की बेटी, जिस का नाम वाक् था, वागाम्भृणी ने, देवी सूक्त, ऋग्वेद का, कहा है; "अहं रुद्रेभिः वसुभिः चरामि, अहं आदित्यैः उत विश्वदेवैः, अहं मित्रावरुणोभा बिभर्मि, अहं इन्द्राग्नी, अहं अश्विनोभा।··· यं कामये तं तं उग्रं करोमि, तं ब्रह्माणं, तं ऋषिं, तं सुमेधां।... अहं जनाय समदं कृणोमि, अहं द्यावा पृथिवी आविवेश।···अहमेव वात इव प्रवामि आरभमाणा भुवनानि विश्वा; परो दिवा, पर एना पृथिव्या, एतावती महिना सम्बभूव।" 'मै ही परमात्मा की शक्ति हूँ; मै ही द्यौः आकाश और पृथिवी में छायी हूँ; विश्वेदेव, आदित्य वसु रुद्र इंद्र अग्नि, मित्र वरुण अश्विनी कुमार, सब मेरे ही रूप हैं; सब को मै ही चलाती हूँ, जिस को चाहती हूँ उस को मेधावी,

शूर-वीर, ऋषि, ब्रह्मा भी, बना देती हूं; सब सुख की देने वाली मैं ही हूँ; वायु में मैं ही दौड़ती हूँ; सब भुवनों ब्रह्मांडों को मैं ही रचती हूँ; और, यह सब करती हुई, सब से परे भी हूँ।' स्त्री-ऋषिका के रचे हुए इस देवी-स्त्री के सूक्त से अधिक उदार, उदात्त, उदग्र, ओजस्वी, कोई दूसरा सूक्त, पुरुष-ऋषि का रचा, देव-पुरुष की महिमा का, समग्र वेद में नहीं है। परम देवता, तीम, सरस्वती, लक्ष्मी, महेश्वरी, स्त्री ही हैं; द्विजमात्र की अत्यंत जपनीय, साधनीय, सिद्धि-कारिणी, सावित्री-गायत्री देवी, स्त्री हैं; वेद का स्त्री-नाम श्रुति है; "जप्येनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः" (मनु)। फिर स्त्रीजातिमात्र का, स्त्रीत्वेन, अनादर क्यों? वह तो पुरुष से अधिक आदरणीय हैं।

विवाह के भेदों का समन्वय।

ऐसे पति-पत्नी के गार्हस्थ्य के लिये विवाह आवश्यक है। पर विवाह के विषय में संसार में बहुविध आचार विचार चले आते हैं, जो देखने में परस्पर अति विरुद्ध हैं। पर इन का भी समन्वय, अधिकारि-भेदेन, अध्यात्मविद्या के बल से, मानव धर्मशास्त्र में किया है।

ब्राह्मो, दैवः, तथैवाऽऽर्षः, प्राजापत्यः, तथाऽऽसुरः,
गान्धर्वो, राक्षसश्चैव, पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥

ज्ञानप्रधान सत्त्वप्रधान प्रकृति के लिये ब्राह्म, आर्ष, दैव, और प्राजापत्य प्रकार उपयुक्त हैं; इन चार में भेद, प्रायः नाममात्र का है। क्रियाप्रधान रजोऽधिक प्रकृति के लिये गान्धर्व अर्थात् स्वयंवर, और वीर्यशुल्क वाले युद्धपूर्वक राक्षस प्रकार भी, उपयुक्त हैं। इच्छाप्रधान, द्रव्यसञ्चयी, अतः तमोऽधिक जीव के लिये पूर्वोक्त ब्राह्म, प्राजापत्य, और गांधर्व उपयुक्त हैं; तथा शुल्क दे कर आसुर प्रकार भी सर्वथा निषिद्ध नहीं, पर निंदनीय है। अधम जीवों में पैशाच प्रकार, कन्या पर बलात्कार का, होता है। पर इन आठ प्रकारों में कुछ धर्म्य हैं बाकी अधर्म्य; यथा, आसुर निन्द्य, और पैशाच तो सर्वथा वर्ज्य अधम और पापिष्ठ ही, हैं। आशय यह है कि, कई प्रकार ऐसे हैं जो शिष्ट शालीन सभ्य समाज में पापात्मक और दण्डनीय समझे जाते हैं; और शिष्टों के लिये सर्वथा अनुचित हैं

भी; पर सब मनुष्य तो यकसाँ नहीं;असभ्य व्रात्यादि ('सावेज', savage) जातियों के लिये, जिन मे ये अधम प्रकार प्रचलित हैं ही, इन्हीं को मर्यादा मान लिया है, जिस मे उन जातियों की अव्यवस्थितता और भी अधिक न बढ़ जाय । '

भारतवासियों का अकसर यह विचार है कि पश्चिम मे, यूरप और अमेरिका मे, श्वेतवर्णों मे, स्वयंबर ही का प्रकार प्रचलित है । यह विचार ठीक नहीं । 'सैक्सन' (Saxon अर्थात् जर्मन, अंग्रेज, और तद्वंशज अमेरिकन आदि) जातियों में यह प्रकार कुछ अधिक प्रचलित है, सर्वथा नहीं । 'लैटिन' (Latin अर्थात् इटॉलियन, फ्रेंच, स्पानिश् आदि) जातियों मे अधिकतर विवाह माता पिता ही तय कर दिया करते हैं ।

विवाहशास्त्र और सन्ततिशास्त्र के (जो कामशास्त्र के परमावश्यक अंग हैं) निचोड़ और मूल मन्त्र को, मनु ने, अध्यात्मविद्या के अनुसार, एक श्लोक मे कहा है ।

अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैः अनिन्द्या भवति प्रजा;
निन्दितैर्निन्दिता नृणां; तस्मान् निंद्यान् विवर्जयेत् ।

'जो विवाह के प्रकार निन्दित हैं, उन का स्वरूप ही ऐसा है कि उन में, पति-पत्नी का भाव, परस्पर शुद्ध स्नेहमय नहीं होता; इस हेतु से, जो प्रजा इन विवाहों से उत्पन्न होती है, वह भी निन्दनीय प्रकृतिवाली, अशुद्ध स्वभाव की, राजस तामस, दुर्देह और दुर्बुद्धि, ही होती है । पर जो विवाह के प्रकार प्रशंसनीय हैं, वे ऐसे है कि उन मे जायापती की बुद्धि परस्पर शुद्ध और प्रीतिमय होती है, और इस कारण उन की सन्तान भी उत्तम शरीर और उत्तम बुद्धि वाली, सात्त्विक प्रकृति की, होती है ।'

---

१ विवाह के इतिहास और प्रकारों की गवेषणा करने वाले पाश्चात्य विद्वानों ने, यथा वेस्टरमार्क ने (Westermarck, History of Human Marriage मे) जो चार मुख्य प्रकार कहे हैं, वे यही चार हैं,

(a) Marriage settled by parents and elders; (b) by mutual self-choice or love-chase; (c) by capture; (d) by rape.

विवाह की संख्या के विषय में भी, इसी तरह, स्वभाव के भेद से, समन्वय किया जा सकता है; पर बहुपत्नीविवाह से गृहकलह कैसा होता है, इस का चित्र, रामायण मे, आदि कवि ने खींच दिया है; तथा बहुपतिविवाह का फल, महाभारत मे, व्यास जी ने। बहुपतिविवाह की प्रथा, अब, तिब्बत मे कुछ रह गई है, तथा, इधर उधर, असभ्य कहलाने वाली कुछ जंगली जातियों मे; बहुपत्नीविवाह, दुर्भाग्यवश, भारत मे, तथा अन्य देशों मे भी, बहुत कुछ रह गया है; धीरे धीरे यह प्रथा उठती जाती है। विशेष देश-काल-निमित्त से विशेष प्रथा उत्पन्न होती है, जिस मे कुछ दोष होते हैं तो अधिक गुण भी; निमित्त-अवस्था बदलने से, दोष अधिक और गुण कम हो जाते हैं, तब प्रथा को, विवश हो कर, बदलना पड़ता है, उत्तम कोटि मे, एक-पतिपत्नीव्रत ही सदा कहा है। नलोपाख्यान मे, महाभारत मे कहा है।

विशिष्टाया विशिष्टेन संगमो गुणवान् भवेत्।

रामायण की समग्र कथा मे एकपत्नीव्रत और एकपतिव्रत की महिमा कही है। अन्यथा एक स्त्री से बहुत पुरुषों का विवाह भी, यथा पांडवों और प्राचेतस ऋषियों का, पुराणो मे कहा है; और आज भी तिब्बत आदि प्रदेशों मे होता है; एक पुरुष के बहुत स्त्रियों से विवाह का तो कुछ कहना ही नहीं। विधवा-विवाहादि के भी विषय मे, हेतुपूर्वक, अधिकारिता देख कर, ऋषियों ने मर्यादा बाँधी है; पर उस मर्यादा का आजकाल प्रायः तिरस्कार ही हो रहा है। संसार मे यही प्रसिद्ध है कि 'हिन्दू धर्म' का निचोड़ इतना ही है, कि दूसरी जाति वाले के साथ खाओ मत, और विवाह मत करो; और जिस का जाति-नाम तुम्हारा जाति-नाम हो, उस के साथ खाओ और विवाह करो। इस प्रथा का मूलहेतु तो बहुत उचित आध्यात्मिक और वैज्ञानिक है; भोजन की शुद्धि से शरीर का बल और आरोग्य, और विवाह का शुद्धि से सन्तति की दिनोदिन उत्तमता; पर सच्ची शुद्धि और विशिष्टता को तो कोई देखता नहीं, जाति का नाम ही देखा जाता है, और इस जातिनाम की आड़ मे अशुद्ध से अशुद्ध भोजन, और दुष्ट से दुष्ट, बेमेल से बेमेल, और अनुचित से अनुचित विवाह प्रतिदिन होते हैं।

पुत्र-भेद-समन्वय।

प्राचीनो ने बारह प्रकार के पुत्र, अवस्था के भेद से, गिनाये हैं। किसी गिनती से अठारह तक भी हो जाते हैं, (जैसा मेरे ज्येष्ठ भ्राता श्री गोविंददास जी ने अपनी 'हिन्दुइज्म' (Hinduism) नामक अंग्रेजी पुस्तक मे दिखाया है)। औरत पुत्र ही को उत्तम कहा है, जो एकपतिव्रता पत्नी और एकपत्नीव्रत पति के अनिंदित विवाह से उत्पन्न हुआ हो। इससे उतर कर दत्तक है। क्षेत्रज, अपविद्ध, कानीन, क्रीतक, सहोढ, पौनर्भव आदि इष्ट नहीं हैं, पर माने गये हैं।

अंगाद्‌अंगात्प्रभवसि, हृदयाद्‌अधिजायसे,
आत्मा वै पुत्रनामासि, वर्धस्व शरदां शतम्।
जायायाः तद्‌हि जायात्वं यद्‌अस्यां जायते पुनः।

पिता अपने पुत्र को आशीर्वाद देता है, 'हे पुत्र, मेरे एक एक अङ्ग से तेरा एक एक अङ्ग बना है, विशेष कर मेरे उरस् से, हृदय से, तू उत्पन्न हुआ है; पुत्र के नाम से तू मेरी आत्मा ही है। जाया का जायात्व इसी हेतु से है कि पति उस के शरीर मे से पुनर्वार पुत्ररूप से जायमान होता है'।

यह सब भाव, एक एक, बड़े गम्भीर, बड़े सात्विक, बड़े उदार हैं। यदि समाज मे इन का ठीक ठीक प्रचार हो, तो आज समाज का स्वरूप ही दूसरा हो जाय।

यहाँ यह बात भी कहनी चाहिये कि, जैसे, शारीर ब्रह्मचर्य्य को किये हुए, मच्चे सुपरिपक्व परिपुष्ट शुद्ध शरीर वाले, माता पिता की शारीर संतान उत्तम और सच्ची होती है, और कच्चों की कच्ची; वैसे ही, कच्ची बुद्धि विद्या वालों की बौद्ध संतान, शास्त्र-ग्रन्थ-निबंध-काव्यादिरूपिणी, भी कच्ची होती है। इस लिये, जैसे शारीर ब्रह्मचर्य्य की आवश्यकता है, वैसे बौद्ध ब्रह्मचर्य्य की भी परम आवश्यकता है। आज काल यह बहुत देख पड़ता है कि, जैसे स्कूल मे पढ़ने वालों के भी लड़के लड़की पैदा होते रहते हैं, वैसे ही वे पुस्तकें और लेख लिख लिख कर छपाते भी रहते हैं। फल यह हुआ है, जैसा तुलसीदास ने कहा है,

भूमि हरित तृन संकुल, सूझि परै नहि पंथ;
जिमि पाखंड विवाद ते लुप्त भये सद्‌ग्रंथ।

कच्चे आदमियों से, और कच्चे लेखों और ग्रंथों से, देश भर गया है। चिरसंयमी स्त्री पुरुष शरीर को, और चिरमार्जित-संचित बुद्धि विद्या को, अच्छी तरह परिपुष्ट कर के, शारीर भी और बौद्ध भी सन्तान उत्पन्न करें, तो देश का बहुत उपकार और कल्याण हो।

ज्ञानं शौर्यं महः सर्वं ब्रह्मचर्ये प्रतिष्ठितं।

आयुर्वेद के ग्रन्थों मे प्रसिद्ध है, "त्रिस्थूणं शरीरं, आहारः, निद्रा, ब्रह्मचर्यं", उचित आहार, उचित निद्रा, उचित ब्रह्मचर्य, यह तीन, शरीर के स्थूण, थूनी, खंभे हैं; उस को धारण करते हैं, थामे सम्हाले रहते हैं। गृहस्थावस्था मे भी, उचित मात्रा मे, ब्रह्मचर्य की उपयुक्तता है। विद्यार्थी अवस्था के ब्रह्मचर्य से उस का नियम भिन्न है।

ज्ञान देना भी गृहस्थ ही का काम है;

यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणः, ज्ञानेनअन्नेन च, अन्वहम्,
गृहस्थेनैव धार्यंते, तस्माज् ज्येष्ठाश्रमो गृही।

विधवाविवाहादि-समन्वय।

गार्हस्थ्य के सम्बन्ध मे, विधवा-विवाह का भी प्रश्न उठता है। आप लोगो को गुरुकुल से समावृत्त होने के बाद, समाज मे जा कर, समाज-सुधार के सम्बन्ध मे, इस प्रश्न का भी सामना करना होगा। तो देखिये कि मानव धर्म मे इस प्रश्न का भी उत्तर उसी प्रकार दिया हुआ है, जैसा और प्रश्नो का। सब प्रकार के, भिन्न भिन्न प्रकृति के, जीवों के लिए, भिन्न भिन्न मर्यादा, बुद्धिपूर्वक, विवेकपूर्वक, देशकालावस्था-विचारपूर्वक, बाँधी है। जब परमात्मा ने सभी प्रकारों को संसार मे स्थान दिया है तो मानव धर्म क्यों न स्थान दे? हाँ, उचित स्थान प्रत्येक वस्तु को देना चाहिये। इस लिए उत्तम कोटि तो यही है कि एकपत्नीव्रत और एकपतिव्रत किया जाय। पुरुषों मे राम का एकपत्नीव्रत प्रसिद्ध है। स्त्रियों का तो कहना ही क्या है। पर जिन की प्रकृति मे रजस् तमस् की मात्रा अधिक हो, उन पुरुषों और स्त्रियों के लिए अनुमति है कि पुनर्विवाह करें। पर वैसे आदर के पात्र न समझे जावें, जैसा पुनर्विवाह न करने वाले विपत्नीक विधुर

और विधवा, जो अपने को साधु और तपस्वी बना कर परोपकार मे प्रवृत्त हो जायं, और ऐसा समझें कि मानो समय से पहिले ही वानप्रस्थ और संन्यास हम को मिल गया। भागवत मे कुंती ने कृष्ण से कहा है,

विपदः संतु नः शश्वत् तत्र तत्र, जगद्गुरो !,
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम् ।

'हे जगद्गुरो !, मुझे संपत् नहीं चाहिए, विपत् ही चाहिए, जिस मे, तीव्र स्मरण और ध्यान कर के, आप का दर्शन पाऊँ, और पुनर्जन्म का दर्शन छोड़ूँ'। और कृष्ण ने भी, ईश्वरभाव का अपने ऊपर आवाहन अध्यारोपण कर के, कहा है।

यस्यअनुग्रहम्इच्छामि तस्य सर्वं हरामिअहम् ।

'जिस का मै सच्चा कल्याण करना चाहता हूँ, उस की सारी सांसारिक सुख संपत्ति छीन लेता हूँ। तब वह आर्त्त हो कर मेरी याद करता है।' ऐसी उत्तम सती स्त्रियों के लिये ही कहा है कि, सती स्त्रियाँ ही जगत् का धारण किये हुए हैं,

सतीभिर्धार्यते जगत् ।

खेद का स्थान तो यह है कि, जैसा और विषयों मे वैसा इस मे, भारतीयों की बुद्धि उलटी हो गयी है; और, सब से पहिले और सब से अधिक उन संस्कृत जानने वाले पंडित-नाम-धारी विद्वानों की, जिन्ही का परम कर्त्तव्य धर्म है कि देश मे सज् ज्ञान और सद् बुद्धि का प्रचार करैं।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते, तमसाऽऽवृता,
सर्वार्थान् विपरीतांश्च, बुद्धिः सा, पार्थ !, तामसी। (गीता)

'तामसी बुद्धि, अशुभ नीच अति स्वार्थी कामनाओं के तमस् से भरी बुद्धि, धर्म को अधर्म, और अधर्म को धर्म, और सब अर्थों को उलटा ही, समझ लेती है।

जहाँ किसी बाला या युवती स्त्री पर, विशेष कर के जो निस्सन्तान हो, यह आपत्ति आई कि वह विधवा हो गई, तो बजाय इस के कि उस के ऊपर अधिक दया करें और उस से सहानुभूति करें, सब घर वाले उस को अधिक कोसने लगते हैं, और तरह तरह से महा कष्ट देते हैं; यहाँ तक कि साधुता और तपस्या की

ओर तो उस का मन बढ़ने नहीं पाता, दुःख, क्रोध, और शोक से ही जलता रहता है; वह अकसर अपना आत्मघात भी कर लेती है; और उस के शाप से, और अपनी क्रूरता के पाप से, वह कुल भी नष्ट हो जाता है। चाहिये कि ऐसी दुःखिता की गोद मे, जो कोई छोटा बच्चा घर मे हो, वही डाल दिया जाय, कि तू इस को अपना बच्चा समझ, और इस मे प्राण अटका, इस का भी पालन पोषण कर, और इस के स्नेह से अपने दिन काट, घर मे, सब की दयापात्र तथा तपस्विनी साध्वी हो कर, सब की सहायता करने वाली और आदरपात्र भी बन। यदि इस प्रकार से उस का मन ऊँचा रक्खा जाय, उस का आश्वासन किया जाय, तो घर मे चारो ओर प्रेम प्रीति बनी रहे, उस हतभागिनी का भी दुःख कम हो, घर मे दूसरों की सहायता के लिये एक अपना स्नेही जन सदा प्रस्तुत रहे, ऐसा जन जिस को स्वार्थ बहुत थोड़ा और परार्थ ही की फ़िक्र अधिक हो; और संसार मे, उस के शरीर से मनुष्य-संख्या और अधर्म की वृद्धि भी न हो।

इस मानव-संख्या के नियमन की भी आवश्यकता है, क्यों कि अन्नवस्त्रादि आवश्यक प्राणधारणोपयोगी वस्तुओं की मात्रा कम, और मनुष्यों की संख्या अधिक, होने से, परस्पर संघर्ष, द्रोह, ईर्ष्या, मत्सर, युद्ध बढ़ते है। महाभारत मे कुरुक्षेत्र के दारुण युद्ध का मुख्य हेतु यही कहा है कि जन-संख्या अत्यधिक हो गई थी। इस विषय के संबंध मे बहुत कुछ कहने सुनने की गुञ्जाइश है, जो यहाँ नहीं कहा सुना जा सकता। प्रकृत मे निष्कर्ष यह, कि प्रकृतिभेद से नियमभेद होना चाहिये। किन-किन अवस्थाओं मे विधवा का पुनर्विवाह होना चाहिये, वे सब स्मृतियों मे गिनायी हैं। न "सब धान बाईस पसेरी" के हिसाब से बिकना चाहिये, न "सब भैंस एक ही लाठी से" हाँकी जा सकती है। प्रत्येक विधवा के विषय मे, शांत मन से, उस के पतिकुल और पितृकुल के वृद्धों को विचार करना चाहिये। जब तक वह स्वयम् शांति से, तपस्या से, जीवन व्यतीत करना पसन्द करै, तब तक उस को इस मे सहायता देनी चाहिये; पर यदि पुनर्विवाह करने के लिये उस की इच्छा उत्कट हो, तो उस का, यथायोग्य, पुनर्विवाह प्रायः विपत्नीक पुरुष से कर देना चाहिये। तथा ऐसा ही प्रबन्ध विभार्यक पुरुषों के लिये होना चाहिये।

वानप्रस्थ

गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितं आत्मनः,
अपत्यस्यापि चापत्यं, तदाऽरण्यं समाश्रयेत । (मनु)

गृहस्थ जब अपने शरीर पर झुर्रियाँ, बालों में सफेदी, और लड़के की गोद मे लड़का, देखे, तब घर, शहर, दुनियावी रोज़गार, धन दौलत, कमाने की फिक्र, स्वार्थ-बुद्धि, सब छोड़ कर, किनारे, पास के उपवन मे, अथवा दूर के बन मे, अरण्य मे, जा कर, जो पहिले धन सञ्चित किया है उस से अपना और अपनी पत्नी का भी जीवननिर्वाह करे, और दूसरों को भी यथासम्भव सहायता दे। नवीन अर्जन की, कमाने की, वासना छोड़ दे, क्यों कि अर्जनावस्था मे अवश्य परस्पर द्रोह संघर्ष कुछ न कुछ दूसरों से होता है। वानप्रस्थ हो कर किसी से कुछ ले नहीं, दूसरों को, यथासंभव, देवे ही; सदा यज्ञ करता रहे, और अपने ज्ञान की भी वृद्धि नित्य करै। 'यज्ञ' का अर्थ, परोपकारक कर्म।

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्, दान्तो, मैत्रः, समाहितः
दाता नित्यं, अनादाता, सर्वभूतानुकम्पकः। (मनु)

बहु-विध-यज्ञ-समन्वय।

यही यज्ञ का असली अर्थ है। यज्ञ बहुत प्रकार के हैं।

एवं बहुविधा यज्ञाः वितताः ब्रह्मणो मुखे।
(ब्रह्मयज्ञाः, दैवयज्ञाः, आत्मसंयमयाजिनः;
इन्द्रियेष्वपि होतारः, प्राणायामपरायणाः,)
द्रव्ययज्ञाः, तपोयज्ञाः, योगयज्ञाः तथैव च,
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाःच, यतयः संशितव्रताः। (गीता)

ब्रह्म के मुख मे, वेद के उदर मे, शास्त्र ग्रन्थों के पृष्ठों पत्रों पर, ज्ञान के भीतर, बहुत प्रकार के यज्ञो का वर्णन मिलता है। यथा, अन्य सब यज्ञो का मूल कारण, मूल प्रेरक, सब मे आत्मभावना रूपी, सर्वोत्तम, ब्रह्मयज्ञ; प्रकृति की विविध देवरूपी शक्तियों का विविध प्रकारों से आवाहन और लोकहितार्थ प्रयोग, दैवयज्ञ; आत्मसंयम अर्थात् इन्द्रियनिग्रहरूपी यज्ञ, निरहंकार भाव से इन्द्रियतर्पण,

प्राणायाम, द्रव्यों का दान, तपस्या, योग, ज्ञान-संग्रह प्रचार—सभी यज्ञ हैं। पर सब मे यह भाव समान है कि, स्वार्थ छोड़े, परार्थ साधे, जिस से, जितना, जैसे, अपनी अपनी प्रकृति के गुण के अनुसार, बन पड़े। मनु जी ने पाच महा-यज्ञ कहे हैं, जो गृहस्थ को प्रति-दिन करने चाहिये, स्वाध्याय, अग्नि मे वायु स्वच्छ करने वाले सुगन्ध द्रव्यों का हवन, अतिथि-सत्कार, पालतू पशुओं को खिलाना, पितरों का तर्पण और स्मरण, उन के लिये शुभ चिंतन, और उन से अपने कुल कुटुम्ब के लिये शुभचिंतन की प्रार्थना। उत्तम यज्ञ यही हैं; इस लिये इन को 'महा' का विशेषण दिया है; अन्य सब यज्ञ क्षुद्र और 'काम्य', अर्थात् स्वार्थी, पुत्र, धन, स्वर्ग आदि की, कामनाओं के साधने वाले हैं, जिन का ठीक नाम 'इष्टि' और 'मेध' है, यथा पुत्रेष्टि अश्व-मेध, गो-मेध, नर-मेध आदि। इन अश्व-मेध आदि का भी रहस्य आध्यात्मिक अर्थ दूसरा है; यथा 'अश्व' का अर्थ बलमद 'गर्व'; 'गो' का 'मोह और 'भय' 'नर' का 'अहंता, अस्मिता;, अहंकार', इत्यादि। इस विषय का विस्तार, अन्य ग्रन्थों मे, 'शास्त्र-वाद बनाम बुद्धि-वाद', 'पुरुषार्थ', 'दर्शन का प्रयोजन' और 'मानव-धर्म-सारः' (संस्कृत) मे, किया है।

पर जैसे अन्य विषयों मे तैसे यहाँ भी, सात्विक बुद्धि को तामस बुद्धि ने विपरीत कर डाला है। भीष्म ने (शान्तिपर्व मे) युधिष्ठिर से क्षात्र धर्म की प्रशंसा करते हुए, उस को सब से श्रेष्ठ बताते हुए, सब से बढ़ कर गुण उस का यह कहा,

आत्मत्यागः, सर्वभूतानुकम्पा,
प्रत्यक्षं ते भूमिपालाः यथैते।

'अपने कर्त्तव्य धर्म के पालन द्वारा, सर्वभूतों की अनुकम्पा के लिये, अपने शरीर और प्राण तक को भी त्याग देना, जैसा इन सहस्रों भूमिपालों और लाखों योद्धाओं ने, धर्मयुद्ध मे, तुम्हारा साथ दे कर, प्रत्यक्ष दिखा दिया है'। पर आत्म-त्याग तो किया नहीं जाता ; अपने प्राण, क्या अपनी सम्पत्ति का अंश भी, परार्थ के लिये, छोड़ते नहीं बनता, मूक निर्दोष निर्बल पशुओं का प्राण, यज्ञ के नाम से, हनन किया जाता है, और इस उद्देश्य से कि मांस का स्वाद लिया जाय, तथा ऐहिक और आमुष्मिक स्वार्थ का लाभ हो; परार्थ का तो स्वप्न भी नहीं। दुर्गासप्तशती का

पाठ, लाखों ब्राह्मण आदि हिन्दू-नामधारी, करते हैं, पर बलिदान के लिये बकरा ही काटते हैं; या, इतनी हृदय में दृढ़ता और क्रूरता न हुई तो, कूष्मांड, कोंहड़े, को ही हलाल कर डालते हैं। सुरथ राजा और समाधि वैश्य ने, अपने मांस और रुधिर की बलि, दुर्गा को दी थी, इस को भूल जाते हैं।

ददतुस्तौ बलिं चैव, निजगात्रासृगुक्षितम्।

हे भाई! बलि का अर्थ आत्मबलि है, परबलि नहीं। यज्ञ का अर्थ निज स्वार्थ का त्याग और तपस्या; पर के प्राण और पर के अर्थ का अपहरण नहीं। यदि पर-बलि ही करना है, तो सिंह, व्याघ्र, तरक्षु, वृक, सर्प, अजगर, गन्धहस्ती, खड्ग (गैंडा), वनवाराह आदि की दो; वनवराह में तो, उस के जानकार कहते हैं है कि, बकरे भेड़े से अधिक स्वाद भी आवेगा; प्रजा और खेती की भी रक्षा होगी। सो नहीं। बकरी के बच्चों को हलाल करो!; देवता भी क्या दुर्बल की ही हत्या चाहते हैं?

न तरक्षुं, न वा व्याघ्रं, सिंहं नैव च नैव च;
अजा-पुत्रं बलिं दद्यात्!; 'देवो' दुर्बलघातकः!

स्वार्थ-परार्थ-समन्वय।

इस प्रकार से गार्हस्थ्य के बाद वानप्रस्थता रख कर, मानवधर्म में स्वार्थ और परार्थ का समन्वय किया है; और 'इण्डिविड्युआलिज्म' और 'सोशालिज्म' के, व्यक्ति और समाज के, व्यष्टि और समष्टि के, विरोध का परिहार साधा है। शुरू उमर से आधी उमर तक स्वार्थ अधिक, पिछली उमर में परार्थ अधिक।

महाभारत में एक स्थान पर कहा है,

न जानपदिकं दुःखम् एकः शोचितुम् अर्हति।

भागवत में एक स्थान पर कहा है,

एतावान् अव्ययो धर्मः, नित्यं सद्भिः अनुष्ठितः,
यत् लोकशोकहर्षाभ्यां, आत्मा शोचति हृष्यति।

'दुनिया भर की फिक्र एक आदमी अकेला कहाँ तक करे'। तथा यह भी, 'दया धर्म को मूल है, पाप मूल अभिमान'; मूलधर्म ही 'अनुकम्पा' है; 'अनु', साथ साथ, 'कम्पन', स्पंदन, स्फुरण; 'लोक के दुःख से दुःखी और सुख से सुखी होना; सत्पुरुष सज्जन सदा इसी अव्ययी धर्म का अनुष्ठान करते हैं'। इन विरुद्ध बातों का समन्वय भी यों ही होता हैं; पहिली उमर मे अपनी और अपने कुल कुटुम्ब की चिन्ता अधिक; पिछली उमर मे लोक की चिन्ता अधिक। तथा यह भी; महाभारत के श्लोक का यही अर्थ समझिये कि दूसरों की चिन्ता उसी हद तक करनी चाहिये जहाँ तक सहायता करने का सम्भव हो। चिता से चिन्ता बुरी;

चिता चिंता समाख्याता, तयोश्चिंता गरीयसी।

और, जहाँ वश न चले, वहाँ शोचना नहीं;

तस्मिन् अपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि। (गीता)

बहुधा वृद्ध लोग अपने कारबार को, धनदौलत को, दाँतों से पकड़े रहते हैं; जिस का फल यही होता है कि उन के सन्तान भी उन से असन्तुष्ट रहते हैं, और लोक मे भी उन का अपयश होता है। यह सब दोष बच जाय; और समाज को वृद्ध, अनुभवी, उदार-हृदय, निस्स्वार्थ, लोकहितैषी, सहायक और नेता सदा पर्याप्त संख्या मे मिलते रहें, जो सब प्रकार के पञ्चायती काम, यथा 'अदालती' मामिलों मुकद्दमो का पञ्चायती निपटारा, या डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, म्युनिसिपिल बोर्ड आदि का काम, या धर्मसभा, लेजिस्लेटिव कौंसिल, आदि मे नये कानून-धर्म बनाने का काम, उत्तमता से, बिना शुल्क के, चला सकें; यदि वानप्रस्थ आश्रम की प्रथा फिर से जागे। ऐसे निर्लोभ, निःस्वार्थ, परिपक्वबुद्धि आदमियों की कमी के कारण ही, सब प्रकार के 'पब्लिक' सामाजिक सार्वजनिक काम की नितांत दुर्दशा आज काल हो रही है; यह हम सब की आँखों के आगे है।

सन्यास।

प्रवृत्ति-निवृत्ति, अज्ञान-ज्ञान, ऋण-आनृण्य, का समन्वय।

वनेषु तु विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः,
चतुर्थमायुषो भागं, त्यक्त्वा संगान्, परिव्रजेत्।

ऋणानि त्रीणि अपाकृत्य, मनो मोक्षे निवेशयेत्;
अनपाकृत्य तान्येव, मोक्षमृच्छन् व्रजत्यधः । (मनु)

'आयु का तीसरा भाग वनस्थावस्था मे बिता कर, चौथेपन मे सब संगों को छोड़ कर परिव्रजन करै ।'

तीनो आश्रमो के कर्तव्य का पालन कर के, और उस के द्वारा तीनो ऋण, ऋषि ऋण, पितृ ऋण, देव ऋण, चुका कर, जब देखे कि उक्त रूप से समाज की सेवा का भी बल अब शरीर मे नहीं है, तब सब का संन्यास कर के परिव्रजन करे । केवल शरीरयात्रामात्रोपयोगी प्रयत्न करे, और सर्वदा आत्मचिन्तन और सर्वलोक का शुभध्यान । 'यदि तीनो ऋण चुकाये बिना मोक्ष की ओर मन दौड़ावेगा, तो ऊपर उठने के बदले और नीचे गिरेगा ।'

पुराण मे कथा है; दक्ष प्रजापति ने दस हजार 'शबलाश्व' नाम के पुत्र उत्पन्न किया; आज्ञा की कि पृथ्वी पर चारो ओर फैलो, फूलो, फलो, भूतल को बसाओ । नारद ने उन को बहँकाया—पहिले यह तो पता लगा लो कि भूमि का विस्तार कितना है; कितने प्राणी उस पर बस सकते हैं; तब बस्तियाँ बसाना । शबलाश्व पता लगाने चले; स्वयं लापता हो गये । दक्ष ने, उन की बहुत दिन प्रतीक्षा कर के, निराश हो के, फिर पाँच सहस्र 'हर्यश्व' पैदा किये । उन को भी नारद ने वैसे ही बहँका दिया । दिव्य चक्षु से नारद की करतूत को जान कर, नारद को पकड़वा मँगवाया, खूब डाँटा, शाप दिया, कि तुम भी कहीं स्थिरता से चैन न पाओगे, इधर उधर मारे मारे फिरोगे, भटकते ही रहोगे; नारद को, लोक के हित के लिये, उपदेश भी दिया ।

न अनुभूय, न जानाति, जन्तुः, विषयतीव्रतां;
निर्विद्येत स्वयं तस्मात्; न परैः भिन्नधीः पुनः ।

'बिना स्वयं अनुभव किये, जीव, विषयों के सुख दुःखों की तीव्रता को ठीक ठीक नहीं पहिचानता, और उस का वैराग्य सच्चा नहीं होता; इस लिये, इन का अनुभव कर के, तब निर्विण्ण हो, निर्वेद का, वैराग्य का, अनुभव करै' । उपनिषत् मे इसी आशय को कहा है ।

विद्यां च अविद्यां च, यः तद् वेद उभयं सह, (सहः),
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा, विद्ययाऽमृतं अश्नुते । (ईशोप०)

"अविद्या और विद्या को, दोनो को, जिसने एक साथ (सह) ही जाना, वह ही (सः ह) अविद्या से, नश्वर शरीरों मे प्रविष्ट हो कर मृत्यु का अनुभव करता, और दुःखों मे तैरता पैरता उन को पार करता है, और विद्या से (कि मै, नश्वर शरीर नहीं, अमर परमात्मा हूँ) अमृत का पान करता है" । तुलसी दास ने इसी आशय को, व्यंग्य से कहा है ।

ज्ञान कहै, अज्ञान बिनु; तम बिनु करै प्रकाश;
बिना सगुन, निर्गुन लखै; सो गुरु तुलसी दास ।

ऐसा यदि कर सकै, तो उस को तुलसी दास गुरु मानै । "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं च एव, अमूर्त्तं च"; ब्रह्म परमात्मा के दो रूप हैं; मूर्त्त, मूर्त्तिमान्, देह-धारी जीवात्मा, और अमूर्त्त, निराकार, परमात्मा; पहिले का अनुभव कर के दूसरे को पहिचानै ।

भक्ति-मार्गी भक्तों के लिये भी उपदेश यही है;

अपहाय निजं कृत्यं, कृष्ण-कृष्णेतिवादिनः,
स्वधर्म-कर्म-विमुखाः केवलं नामराविणः,
ते हरेर् द्वेषिणो मूढाः, धर्मार्थं जन्म यद्धरेः ।। (विष्णुपुराण)

'कृष्ण कृष्ण' रटने के बहाने, अपने कर्त्तव्य कर्म से जान छिपा कर, अपने धर्म कर्म से विमुख, केवल हरि का नाम जोर जोर से चिल्ला कर दूसरों को सुनाने वाले, मनुष्य, हरि के भक्त नहीं, प्रत्युत द्रोही हैं, परम मूढ वा परम दाम्भिक वंचक ठग हैं; क्योंकि हरि का जन्म इस लिये नहीं हुआ कि लोग उन का नाम मात्र रटैं, किन्तु इस लिए कि धर्म का पुनः व्यवस्थापन हो और लोग धर्म का चरण करैं' । ऋण चुका कर ही परिव्रजन करना, और 'आत्मचिंतन द्वारा ऊँचे नीचे जीवों मे अंतरात्मा की सूक्ष्म गति को ध्यानयोग से पहिचानना, चाहिये ।'

उच्चावचेषु भूतेषु, दुर्ज्ञेया अकृतात्मभिः,
ध्यानयोगेन संपश्येद्, गतिम् अस्य अंतरात्मनः । (मनु)

अपना मन भी बहलता रहे; किसी एक गृहस्थ पर कई दिन तक भिक्षा देने का बोझ भी न पड़े; विविध देशाटन से जो ज्ञान की पूर्ति होती है, जो पूर्वाश्रमो मे बाकी रह गयी हो, वह भी हो जाय; विविध देश देशान्तर के आचार विचार देख कर, और सब मे आत्मा की गति पहिचान कर, बुद्धि का संकोच, और मन की गाँठ, और आग्रह के बंधन, भी, जो कुछ रह गये हों, वे सब दूर हो जायँ; और आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान, पूर्णरूप से सम्पन्न हो जाय; इस लिये 'परिव्राजक' होना; एक स्थान से दूसरे स्थान को, बने तक, चलते फिरते रहना। भागवत मे शुक जी के विषय मे कहा है।

स, गोदोहनमात्रं हि गृहेषु गृहमेधिनाम्,
अवेक्षते महाभागः, तीर्थीकुर्वंस्तदाश्रमम्। (भा०)

वह पुराणबालक घरबारन के घर उतनिहि बेरि रहे,
जब लौं गौ को दूध दुहानो अंजुरिन नाहिं गहै,
उन गेहन को भाग्य बढ़ावत, तीर्थ बनावत, फिरत रहै।

पूछा जा सकता है कि शुक बाल्यावस्था मे ही 'परिव्राजक' हो गये; उन्हो ने मनु की आज्ञापित, आश्रमो के क्रम की व्यवस्था का उल्लंघन क्यों किया? इस का समाधान यों हो सकता है कि मनु ने भी आबाल्य नैष्ठिक ब्रह्मचारिता की अनुमति दी है, पर उन का सांकेतिक नाम, परिव्राजक 'सन्न्यासी' नहीं, ब्रह्मचारी ही; परिव्रजन, देशाटन के अर्थ मे, भले ही करें, सांकेतिक अर्थ मे नहीं; पुराणो मे, कहीं भी, शुक को 'सन्न्यासी' नहीं कहा; और किसी किसी पुराण मे, शुक के विवाह और पत्नी, संतति, आदि की भी चर्चा की है। गृहस्थी छोड़ कर न्यास करे, तब सन्न्यासी।

सम्मान की इच्छा और अनिच्छा का समन्वय।

इस स्थान पर एक बात और याद रखने योग्य है। अध्यात्म शास्त्र मे निरूपित मनुष्य की प्रकृति की विचित्रता, वा वामता, ऐसी है, कि स्वार्थ के लिये धन के लोभी लालची को, अन्य जन, अपना धन, रक्षा के लिये, न्यास रूप से, नहीं सौंपते; निर्लोभ परार्थी को, आग्रह कर के सौंपते हैं; और शासन शक्ति, राजकीय अधिकार शक्ति, को, ऐसे पुरुष के हाथ मे नही रखना चाहते जिस

को दूसरों पर हुकूमत करने की बड़ी हिर्स हो; 'जो मनुष्य सम्मान की बहुत लालच करता है, उस का सम्मान, जनता, हृदय से नहीं करती, और जो आदमी निस्पृह निरीह हो कर, लोकहितेच्छा से, सम्मान के योग्य परार्थ कार्य करता है, उस का आदर, सम्मान, पूजन, निर्बन्ध से आग्रह से, करती है। जो सम्मान के पीछे दौड़ता है, उस से सम्मान दूर भागता है; जो सम्मान से भागता है, उस के पीछे सम्मान दौड़ता है; तथा, जो लोग सम्माननीय सज्जन का अनादर अपमान करते हैं, वे स्वयं बड़ी हानि उठाते हैं, अपितु नष्ट हो जाते हैं। मनु ने कहा है।

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यं उद्विजेत विषाद् इव;
अपमानस्य चआकांक्षेद् अमृतस्य इव सर्वदा;
सुखं शेते हि अवमतः, सुखं च प्रतिबुध्यते,
सुखं चरति लोकेऽस्मिन्; अवमन्ता विनश्यति।

'विशेष कर 'ब्राह्मण'-प्रकृति, 'ब्राह्मण'-जीविका, और उस से सम्बद्ध 'ब्राह्मण'-धर्म, वाले जीव को यही उचित है, कि सम्मान से उबियाय, उद्विग्न हो, हटे, जैसे विष से; क्योंकि यदि ऐसा न करे, और सम्मान का रस चखने लगे, तो उस के चित्त मे अहंकार अभिमान की वृद्धि होगी, स्वयं गर्व करने लगेगा कि मै पैर पुजाने योग्य हूँ, और चाहेगा और कहेगा कि लोग मेरा पैर पूजैं, जिस से उस की 'ब्राह्मणता' नष्ट हो जायगी, और वह पतित हो कर अपना विनाश कर लेगा; जिस सच्चे ज्ञानी, सत्-प्रकृति, सज्जन, सच्चे 'ब्राह्मण' का (ब्राह्मण-म्मन्य, ब्राह्मणब्रुव, ब्रह्मबन्धु, मिथ्याब्राह्मण, नहीं), अपमान होगा, वह तो स्वयं सुख से सोवेगा, जागेगा, लोक मे चलै फिरेगा; किन्तु अपमान करने वाले का नाश हो जायगा, जल्दी या देरी मे, क्योंकि जनता उस पर क्रोध करने लगेगी'।

सभी संन्यासियों के अनुरूप यही है कि, साक्षात् आशीर्वाद-स्वरूप हो कर, सारे देश मे शुभवासना, शांति, प्रीति, अध्यात्म की चर्चा, फैलावें, सारे देश की हवा मे परस्परोपकार का भाव भरैं, जिस स्थान पर थोड़ी देर के लिये भी बैठें उसी को तीर्थ बना दें, सब के आदरपात्र बने, और यदि उन के मन से छिपी हुई लोकैषणा भी कुछ बची हो, अर्थात् आदर सम्मान पाने की इच्छा, तो उस की भी, बिना मांगे, पूर्ति कर लें। एक अच्छे सच्चे विरक्त तपस्वी

संन्यासी ने, इस युग मे संन्यास की दुर्दशा की चर्चा करते हुए, अपहास का दोहा मुझ को सुनाया।

मूण्ड मुंडाये तीन गुन, मिटै मूण्ड की खाज,
खाने को अच्छा मिलै, लोग कहैं 'महराज'।

पर संन्यासी के लिये नियम यही है कि,

प्रतिष्ठा शौकरी विष्ठा, गौरवं घोररौरवम्। (उपनिषत्)

यद्यपि गृहस्थ के लिये इस के विपरीत है,

विपदि धैर्यं, अथाभ्युदये क्षमा,
सदसि वाक्पटुता, युधि विक्रमः,
यशसि चाभिरुचिः व्यसनं श्रुतौ,
प्रकृतिसिद्धम् इदं हि महात्मनाम्।

'संन्यासी के लिये, प्रतिष्ठा की लालच करना तो ऐसा पतन है मानो शूकर बन जाना और विष्ठा की लालच करना; और गौरव की, गुरु बनने की, लालच करना तो रौरव नरक मे गिरना है। पर गृहस्थ के लिये महात्मता यह है कि विपत्ति मे धीरज धरै, अभ्युदय मे दर्प न करै, प्रत्युत क्षमाशील सहनशील हो, सभा मे वाग्मी हो, युद्ध मे विक्रमी, वेदाभ्यास का व्यसनी, और सच्चे यश का, उदार पुण्यकर्मों से पाई हुई कीर्त्ति का, आदर सम्मान का, अभिलाषी हो'।

परन्तु, परिव्रज्या सरल नहीं; विधि है कि, एक स्थान पर, तीन दिन से अधिक, संन्यासी न ठहरै; पेड़ों के नीचे, खँडहलों मे, मंदिरों मे, वह तीन दिन बितावै; गृहस्थों पर बोझ न बढ़ने पावै; जब गृहस्थ का सब कुटुम्ब खा पी चुकै, और अंगारे भी बुता दिये गये हों, तब भिक्षा मागै; और जो रूखा-सूखा अन्न बच गया हो और मिल जाय, उसी से निर्वाह करै। कठिन विधि है। सब शरीर, ऐसे व्रत का पालन करने के योग्य नहीं होते। तो उन के लिये भी, समन्वय के मंत्र, "अधिकारि-भेदाद् धर्मभेदः", के अनुसार, मनु ने विकल्प बता दिया है; "पुत्रैश्वर्ये सुखं वसेत्"; 'घर का काम काज, ऐश्वर्य हुकूमत, सब, पुत्र को सौंप कर, घर मे ही किनारे रह कर, बँधे समय से अन्न पा कर, सुख शांति से दिन बितावै, और शरीर त्यागने के काल की प्रतीक्षा करै, जैसे नौकर अपने स्वामी की

आशा की प्रतीक्षा करता है ; न जीते रहने की इच्छा करे, न मर जाने की ही इच्छा करै ।

न अभिनन्देत मरणं, न अभिनन्देत जीवितं,
कालं एवं प्रतीक्षेत, निर्देशं भृतको यथा। (मनु)

संन्यास नीरस नहीं है!, प्रत्युत, जिस को वैसी बुद्धि, वैसा भाव, भाग्य से मिल जाय, उस के लिये सर्व-रस-मय है ; इस मे सब रसों का समन्वय होता है । कैसे !

चिन्तयेच्च गतिं सूक्ष्मां आत्मनः सर्वदेहिषु ।

'अनुभवी, परिपक्व-बुद्धि, लौकिक व्यवहार को त्यागे हुए, वृद्ध, जीव के लिये, उत्तम कार्य कहिये तो, कालक्षेप कहिये तो, यही है कि, सब देहियों मे, असंख्य योनियों के रूपों मे, प्रविष्ट हुए, पैठे हुए, जीवों मे, परमात्मा के ही अंशों मे, परमात्मा के आहार-विहार के अनादि अनन्त अगण्य प्रकारों की लीला को, नाटक को, देखै और विचारै' स्वयं देखकर, वा ग्रन्थों से, वा सत्संग मे ।

नाटक मे सभी रस लाये जाते हैं, 'वास्तविक-प्राय' रूप से ; मानो वास्तविक हों, सचमुच वास्तविक नहीं; इसी लिये, "काव्येषु नाटकं श्रेष्ठं" ; क्योंकि संसार के सब अङ्गों की तस्वीर है । पर आज काल, जो बहुत नाटक, सैनेमा, आदि, खेले और दिखाये जाते हैं, उन मे अधिकांश, महा भ्रष्ट और चित्त को बिगाड़ने वाले होते हैं; संसार के सात्त्विक चित्तशोधक भावों और दृश्यों का नहीं, प्रत्युत राजस-तामस चित्त-विकारक दृश्यों और भावों का ही, चित्रण करते हैं । संन्यास का रस, शान्त; शांत मे, अन्य सब रस, प्रतियोगित्वेन, विरोधित्वेन, अनुभव किये जाते हैं ।

जैसे देश-काल क्रिया से तीत परमात्मा, "मैं", अपने को, अन्य सब, अपने से इतर सब, 'अन्-आत्मा' 'न-मैं', देश-काल-क्रिया से परिच्छिन्न, पदार्थों से अलग कर के, (अपने को) पहिचानता है; वैसे ही, शान्त रस, अन्य सब रसों का त्याग करने से, उनका विरोधी, प्रतियोगी, होने से, अपना अनुभव स्व-रूप-लाभ, करता है ।

शृंगार-हास्य-करुणा-वीर-रौद्र-भयानकाः,
बीभत्सश्च, अद्भुतश्चाष्टौ; शांतस्तु नवमो रसः ।

शांत भाव का उपष्टम्भक, अधिष्ठान, उपादान, निमित्त कारण, पोषक आहार, वा रूपान्तर ही, जो भी कहिये, विरक्ति-ज्ञान-भक्ति का त्रिक है ।

भक्तिः, परेशानुभवो, विरक्तिर्
अन्यत्र च, एष, त्रिकः एककालः । (भागवत)

'साराग्य' का उलटा 'वैराग्य'; संसार के सब रागों से, राग-द्वेषों से, अरुचि, अरति, उपरति । संसार ही मे तो सब रस, और सब रसों के सब स्थायीभाव, काम क्रोध आदि, निरन्तर केलि, खेल, कर रहे हैं, खेल रहे हैं । परमात्मा, इन्हीं का सदा रसन, आस्वादन, करता है; निषेधन के द्वारा, "मै यह नहीं", "मेरा यह नहीं" । सन्न्यासी जीव भी, ऐसा निषेध, सांसारिक भावों और रसों का करता है; सांसारिक जीवन मे 'रौद्रता' है, 'भयानकता' है, 'बीभत्सता' है, 'अपहास्यता' है; 'शृंगार' अर्थात् काम ही से यह सब उत्पन्न होते हैं; "कामात् क्रोधोऽभिजायते"; संसार के तमस् मे, अविद्या के घोर अंधकार मे, भटकते और महा दुःख भोगते, प्राणी, 'करुणा' के पात्र हैं; सांसारिक अशुभ वासनाओं का, 'वीरता' से, दमन करना चाहिये; परमात्मा की प्रकृति की शक्ति के कार्य, सभी, एक से एक अधिक 'अद्भुत' हैं; उस परमात्मा की, सर्वजीवात्मक व्यापक निर्गुण रूप में भी, और किसी एक सगुण इष्टदेव के रूप मे भी, 'भक्ति' करना आवश्यक है; यह 'भक्ति' ही, 'शृंगार' का शुद्ध सात्त्विक रूप है; दुःखी प्राणियों पर करुणा, 'वात्सल्य', भी उचित है । एवं यों सन्न्यास के शान्त रस मे सब रसों का समन्वय होता है ।

प्रवृत्ति-निवृत्ति-समन्वय, सत्व-रजस्-तमस्-समन्वय ।

इस रीति से, पदे-पदे, देश-काल-निमित्त-अवस्था-पात्रता-अधिकार-गुण-'स्व'-भाव आदि के भेदों से, 'स्व'-धर्मों और 'स्व'-कर्मों का भेद कर के, सब भेदों का समन्वय, सब विरोधों का परिहार, इस मानवधर्म मे, अध्यात्म-विद्या के बल से किया हुआ है; केवल, 'विवेक से, विभाजन कर के, बात कहना चाहिये—

"विभज्य वचनीयं", "विविच्य वक्तव्यम्" ।

पहिले यह कह आये हैं, अध्यात्म-विद्या कोई परलोक ही की छिपी ही बात नहीं है । चमड़े की आँख से भी देखी जा सकती है ।

राजविद्या, राजगुह्यं, पवित्रम् इदम् उत्तमम्,
प्रत्यक्षावगमं, धर्म्यं, सुसुखं कर्तुं, अव्ययम् । (गीता)

'यह सब राज-विद्या, राज गुह्य, विद्याओं, गुह्यों, रहस्यों का राजा, और राजाओं की विद्या, गुह्य, रहस्य, जो गीता मे कहा है, नितान्त पवित्र है, उत्तम सुखदायी है, परम धर्म है, प्रत्यक्ष देख पड़ता है, अविनाशी है, और करने मे कठिन भी नही है।'

पर, हाँ, उस की ओर आँख फेरने की आवश्यकता है। यदि उस ओर आँख ही न घुमायी जाय तो कैसे देख पड़े? 'अध्यात्म' का अर्थ 'आत्मा-सम्बन्धी', आत्मा का स्वभाव, आत्मा की प्रकृति, जिस मे तीन गुण हैं। वेदान्त के शब्दों मे, चित्, आनन्द, सत्। सांख्य के शब्दों मे सत्व, तमस्, रजस्, तथा बुद्धि, अहंकार, मनस्। न्याय के शब्दों मे, ज्ञान, इच्छा, क्रिया। वैशेषिक के शब्दों में गुण, द्रव्य, कर्म। इन के ज्ञान के अनुसार, मानवधर्म मे, मनुष्य समाज को चलाने के लिये नियम बाँधा गया है, और सब प्रकार के मनुष्यों के लिये, चातुर्वर्ण्य और चातुराश्रम्य के द्वारा, समाज मे यथोचित स्थान का निर्णय किया गया है; यदि उन का अर्थ ठीक समझते बन पड़े।

कुरु कर्म, त्यजेति च। (महाभारत, शांतिपर्व)

'कर्म करो, और कर्म का त्याग करो, कर्म मत करो'—दोनो तरह की बात, परस्पर अत्यन्त विरुद्ध, मानवधर्म मे कही है। पर अधिकारि-भेद से कही है, इस लिये विरोध कुछ नहीं है। यौवन के लिये "कुरु"; वार्धक्य के लिये "त्यज"; प्रत्यक्ष ही उचित है।

धर्मश्च, अर्थश्च, कामश्च त्रिवर्ग इति कथ्यते,
मोक्षस्यास्ति त्रिवर्गोऽन्यः, सत्त्व-रजस्-तमः। (म० भा)

'धर्म-अर्थ-काम, यह त्रिवर्ग, प्रवृत्ति मार्ग पर, सांसारिक अभ्युदय का है; निवृत्ति मार्ग पर, निश्रेयस मोक्ष का त्रिवर्ग दूसरा है, अर्थात् त्रिगुण, सत्त्व-रजस्-तमस्, का तत्त्व समझ कर, अपने चित्त को, उन के बंधन से, उन की दासता गुलामी से, छुड़ा लेना, मुक्त कर लेना'; "निस्त्रैगुण्यो भव, अर्जुन!"

प्रकृति के विरुद्ध कोई बात करने का, या विभिन्न प्रकृति के मनुष्यों को जबरदस्ती से, बलात्कार से, एक ही रास्ते पर चलाने का, मिथ्या प्रयत्न, ऋषियों

ने नहीं किया है। प्रकृति के नैसर्गिक नियमो का, ही मानव-व्यवहार के शोधन के लिये, केवल परिष्कृत रूप से उपदेश मात्र कर दिया है।

यदि 'मदीयशास्त्रे लिखितं' का हठ और आग्रह छोड़ कर, अध्यात्मविद्या के अनुकूल तर्क से, यथायोग्य, आवश्यकतानुसार, धर्मों मे संशोधन, संयोजन, वियोजन, प्रवर्त्तन-निवर्त्तन, किया जाता रहे, तो आज यह आर्य-मानव-समाज, जिस को, देश के नाम से, हिन्दू [सिन्धु] समाज कहने लग गये हैं, फिर से उन्नति पर आरूढ़ हो सकता है। 'शास्त्री' लोग भी, अपनी सुविधा के लिये, 'शास्त्र' के संशोधन-परिवर्तन के सिद्धांत को मानते भी हैं। दूसरे पक्ष को यही सुनाते हैं कि 'शास्त्र की यह आज्ञा है, और वह आज्ञा है', पर अपने मतलब के समय, यथा कलिवर्ज्यप्रकरण मे, पढ़ते हैं कि,

अश्व आलम्भं, गवालम्भं, सन्यासं, पलपैत्रिकं,
देवराच्च सुतोत्पत्तिं, कलौ पंच विवर्जयेत्।
एतानि, लोकगुप्त्यर्थं, कलेः आदौ, महात्मभिः,
निवर्तितानि, विद्वद्भिः, व्यवस्थापूर्वकं, बुधैः।

'अश्वमेध, गोमेध, संन्यास, पितृश्राद्ध मे मांसपिंड से तर्पण, और विधवा का देवर से संग कर के पुत्र उत्पन्न करना, यह पांच, कलियुग मे, समुझदार लोगों ने मना कर दिया है।'

अर्थात् कलियुग की दशा देख कर विद्वानो ने, लोकहितार्थ, 'शास्त्र' को बदल डाला। तो अब भी वैसा क्यों नहीं हो सकता? यह भी याद रहे कि मना होने पर भी, शंकराचार्य ने, ७वीं शती मे, दशनामी संन्यासियों की भारी परम्परा पुनः चला डाली, और सम्राट् समुद्रगुप्त ने, चौथी शताब्दी मे, काशी मे, अश्वमेध किया ही।

धर्म-परिकल्पन विषयक विरोध का परिहार।

इस स्थान पर एक विशेष विरोध का परिहार कर देना उचित होगा। उस की चर्चा इस व्याख्यान के आरम्भ मे की गई है। स्मृतियों मे यह भी कहा है।

एकोऽपि वेदविद्, धर्मं यं व्यवस्येद्, द्विजोत्तमः,
स विज्ञेयः परो धर्मो; न अज्ञानामुदितोऽयुतैः।

'एक भी अध्यात्मवित्तम मनुष्य जो निर्णय कर दे वही धर्म जानना; दस हजार भी अज्ञ अज्ञानी आदमी जो कहें उस को धर्म नहीं जानना'। और यह भी कहा है।

महाजनो येन गतः स पन्थाः।

'बहुतायत आदमी जिस ओर जायँ वही रास्ता ठीक है।'

कोई तो, सहज में, इस विरोध का परिहार इस प्रकार करते हैं कि 'महाजन' शब्द का अर्थ ही 'बड़ा आदमी', श्रेष्ठ पुरुष, वेदवित्, अध्यात्मवित् है। पर यह अर्थ उस स्थान पर किसी प्रकार नहीं बैठता। पूरा श्लोक यह है।

तर्कोऽप्रतिष्ठः, श्रुतयो विभिन्नाः,
न एको ऋषिर्यस्य वचः प्रमाणं;
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां;
महाजनो येन गतः स पन्थाः।

कहीं पाठ है, 'श्रुतयो विभिन्नाः, स्मृतयोऽपि भिन्नाः'; आशय वही है। 'तर्क की, दलील और बहस की, कहीं प्रतिष्ठा, ठहराव, समाप्ति, नहीं; श्रुतियाँ परस्पर विरुद्ध; तथा स्मृतियाँ; एक ही ऋषि नहीं, कि उसी का वचन प्रमाण मान लिया जाय; धर्म का तत्त्व गुफा मे छिपा है; जिस रास्ते 'महाजन' चले, वही रास्ता ठीक है'। जब श्रुतियों की चर्चा कर दी, और मन्त्रकृत् और मन्त्रद्रष्टा वेद वेदांत के प्रवर्त्तक ऋषियों की भी चर्चा कर दी, तब इन से बढ़ कर और कौन श्रेष्ठ व्यक्ति होगा जो 'महाजन' शब्द का अर्थ हो सकता है? और भी; श्रेष्ठ पुरुष के वास्ते प्रायः 'महापुरुष' शब्द का प्रयोग संस्कृत में होता है, 'महाजन' का नहीं। और भी; महाभारत के जिस उद्योगपर्व के अन्तर्गत विदुरप्रजागरपर्व अथवा विदुरनीति मे उक्त श्लोक है, उसी मे ये दो श्लोक भी मिलते हैं।

एकः पापानि कुरुते, फलं भुंक्ते महाजनः;
भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते, कर्त्ता दोषेण लिप्यते।
देशाचारान् समयान् जातिधर्मान् बुभूषते यः, स परावरज्ञः;
स, यत्र तत्राधिगतः, सदैव महाजनस्याऽधिपत्यं करोति।

'पाप तो एक मनुष्य करता है, उस से जो लाभ होता है उस को 'महा-जन'

भोगता है; (अथवा, एक पाप करता है बहुतों का, 'महाजन' का, सामूहिक दंड होता है; जैसे, 'कलेक्टिव फ़ाइन', दंगे के लिये सारे नगर पर जुर्माना)। देश देश के समयों, संकेतों, सामाजिक रीतियों और आचारों को, विविध जातियों के धर्मों को, जानने वाला, उन के गुणो और दोषों को पहिचानने वाला, आगा पीछा विचारने वाला, और उन को, यथोचित, यथासम्भव, बनाये रखने और चलाये चलने वाला, विद्वान् अनुभवी पुरुष, जहाँ कहीं भी जा बैठे, वहीं वह 'महा-जन' का अधिपति हो जायगा'। इस श्लोक मे 'महाजन' का अर्थ जनसमूह के सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता, और मराठी गुजराती भाषाओं मे आज तक भी 'महाजन' शब्द का प्रयोग इसी जन-समुदाय, प्रतिष्ठित जनसमुदाय, विशिष्ट जनों की सभा, बड़ी पञ्चायत, के अर्थ मे होता है। 'महाजन' शब्द के अर्थ के सम्बन्ध मे, 'शास्त्रवाद बनाम बुद्धिवाद' तथा 'मानव धर्म सारः' मे अधिक विस्तार किया है।

तो अब विरोध-परिहार कैसे हो ? दो प्रकार से। एक तो यह कि जब विद्वान् बुद्धिमान् की भी बुद्धि विद्या काम नहीं दे, तब, जो सांख्योक्त महत् बुद्धि, अव्यक्त-बुद्धि, जनसमूह मे व्याप्त है; जिस को सूत्रात्मा, विश्वात्मा, बृहत्वाद् ब्रह्म, विसिनोति व्याप्नोति विश्वं इति विष्णुः, सर्वेषु शेते इति शिवः, इत्यादि कहते हैं; जिस को पश्चिम के शब्दों मे 'कास्मिक इंटेलिजेंस', 'यूनिवर्सल माइंड', 'कलेक्टिव माइंड', 'मास माइंड', 'पब्लिक ओपिनियन्', 'अन्कान्शस मैंड', (Cosmic Intelligence, Universal Mind, collective Mind, Mass Mind, Public Opinion, Unconscious Mind), आदि कहते हैं; जिस को सूफ़ी भाषा मे 'अक़लि-कुल', 'लौहि-महफ़ूज,' 'हकीकति-मुहम्मदी' आदि शब्दों से कहते हैं; उसी का भरोसा करना ही पड़ता है। लोकमत, बहुमत, भूयसीयं, 'मेजारिटी', जो कहै वही ठीक। कोई दूसरा चारा ही नहीं। दूसरा परिहार यह है कि, यह व्यक्ति अध्यात्मवित् है, इस की बात माननी चाहिये, ऐसा विश्वासरूपी निर्णय भी तो जनसमूह 'महाजन' ही करेगा। नहीं तो, कितना भी अध्यात्मवित् वह हो, पर जनता उस को ऐसा न माने जाने, तो उस का उपदेश व्यर्थ ही जायगा, कोई न सुनेगा। इस लिये, अध्यात्म-वित्तम के उपदेश की

सिद्धि भी, जनता पर ही आश्रित है, जनता के ही अधीन है। एवम् अन्योऽन्याश्रय है; अध्यात्मवित् जनता का शुभचिन्तन करे, और जनता उस मे विश्वास करे; तभी धर्म का आम्नान, व्यवसान, संस्थापन, प्रवर्त्तन, संशोधन आदि उचित प्रकार से हो सकता है। याद रहे कि यह अन्योन्याश्रय, 'विशस् सर्कल', (Vicious Circle), दुष्टचक्रक नहीं है, प्रत्युत गुणवान् पुष्टचक्रक है, 'वर्चुअस सर्कल', (Virtuous Circle), है। इस लिये प्राचीन काल से यह प्रथा चली आई है कि, जब कोई नया और जटिल प्रश्न उपस्थित हो, जिस के उचितानुचित समाधान पर जनसमुदाय के हिताहित का आश्रय हो; तो उस जनसमुदाय को, सभा सदस् समिति में, एकत्र कर के, उस प्रश्न के, और उस के उत्तर के, पक्ष-प्रतिपक्षों का, विविध प्रकार के गुण-दोषों का, विचार, मुख्यों, मुखस्थानीय मुखियों, वृद्धों, वाग्मियों, विद्वानों, बुद्धिमानों, द्वारा किया जाय; और जिस पक्ष को, जिस उत्तर को, जिस समाधान को, जिस नये कार्यप्रकार को, अन्तरात्मा की प्रेरणा से, उस समुदाय के भूयसीय लोग उचित जाने, अध्यात्मवित्तम का कहा हुआ समझें, उसी का स्वीकार और प्रयोग किया जाय। इस प्रकार से 'अध्यात्मवित्' के निर्णय का, और 'महाजन' के निर्णय का, समन्वय हो जाता है। पहिले कह आये हैं कि, जीवरूपी आत्मा और देहरूपी आत्मा, दोनो, की प्रकृति का, स्व-भाव का, ज्ञान ही अध्यात्मज्ञान है।

राष्ट्रप्रकार वा शासन की पद्धति के भेदों का समन्वय।

कुछ वर्ष हुए, एक पुस्तक मेरे देखने मे आई। अल्मोड़ानिवासी श्री बदरीसाह ठुलघरिया ने उस का संकलन किया है। नाम उस का "दैशिक शास्त्र" रक्खा है। पुस्तक छोटी है पर बहुत उत्तम और सारभूत है। उपोद्घात मे उन्हों ने लिखा है कि पुराने ग्रन्थों से विषय का संग्रह किया है; पर इन प्राचीन ग्रन्थों के नामो का उल्लेख नहीं किया; यदि किया होता तो पाठकों को उस विषय के अन्वेषण में अधिक सहायता मिलती। अस्तु, इस पुस्तक का विषय, राजशास्त्र, राजनीति, राजधर्म, दण्डनीति आदि नाम से प्रसिद्ध विषय है, जिस को पश्चिम की बोली मे 'सायंस आफ़ पालिटिक्स' 'पोलिटिकल सायंस' 'सिविक्स' (Science of Politics, Political Science, Civics), आदि कहते हैं। पुस्तक मे राज्यों के दो मुख्य प्रकार कहे हैं, स्वराज और परराज। फिर एक एक के कई कई

भेद कहे हैं, और उन के नाम बहुत अर्थगर्भ साँकेतिक शब्दों से बताये हैं। यथा ब्राह्म, दैव, प्राजापत्य, गांधर्व, याक्ष, मानव (जैसे मनु ने विवाहों के), और हस्तिक, व्याघ्रक, आदि। और इन सब प्रकारों के समन्वय के लिये सिद्धान्त यह दिखाया है कि, जहाँ जहाँ, ऐसी ऐसी, (सात्त्विक, अथवा तामस, अथवा संकीर्ण) प्रकृति की अधिकांश प्रजा होती है, वहाँ वहाँ इस इस प्रकार का राज होता है और उपयुक्त ही होता है। श्री काशीप्रसाद जायसवाल जी ने भी एक पुस्तक, 'हिन्दू पालिटी' (Hindu Polity). के नाम से, अंग्रेज़ी भाषा मे प्रकाशित की[1], जिस मे उन्हों ने वेद, पुराण, स्मृति, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, आदि ग्रन्थों से सिद्ध किया है कि प्राचीन समय मे, इस भारतवर्ष मे, विविध प्रकार के राष्ट्र के प्रबन्धों की परीक्षा, समन्वयात्मक मानवधर्म की परिधि के भीतर ही, की गई है; यथा राज्य, भौज्य, वैराज्य, द्वैराज्य, साम्राज्य, स्वाराज्य, उग्रराज्य, संघराज्य, गणराज्य। और इन के अंतर्गत, पौर, जानपद, श्रेणी, पूग, निगम आदि के प्रबन्ध भी होते थे। इन को आज काल के अंग्रेज़ी शब्दों मे 'मानार्की, डायार्की, रिपब्लिक, एम्पायर, फेडरेशन, आलीगार्की, म्युनिसिपल बोर्ड, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, ट्रेड गिल्ड, (monarchy, diarchy, republic, empire, federation, oligarchy, municipal board, districtboard, trade-guild) आदि शब्दों से कहेंगे। इस प्रकार, समय समय पर, भिन्न प्रान्तों मे, भारत मे, राष्ट्र की पद्धति के नाम और काम, कम-वेश बदलते रहे; पर चातुर्वर्ण्य चातुराश्रम्य की समाज-व्यवस्था सब मे अनुस्यूत रही।

समस्त सजीव-निर्जीव पदार्थों का, सत्वादि गुणो के भेद से, समन्वय।

इसी तरह, प्राचीन शिल्प के विषय मे, कांगड़ी के गुरुकुल की "वैदिक-मैगेज़ीन" नाम की मासिक पत्रिका मे[2], श्री क० वि० वझे महाशय ने, प्राचीन

१—अब इस का हिन्दी अनुवाद भी हो गया है।

२—सन् १९२४ के बाद, यह गुरुकुल कनखल मे लाया गया; 'वैदिक-मैगज़ीन" भी बन्द हो गई।

भारतीय शिल्प पर, कई वर्ष तक, बड़े उत्तम लेख लिखे, जिन से बहुत सी लुप्त-गुप्त विस्मृत बातें फिर से प्रकाश हुईं। इन लेखों मे तरह तरह के नगरों के, ग्राम, खेट, खर्वटों के, गृहों के, सड़कों के, पत्थरों, मणियों के, वृक्षों, लकड़ियों के, वाहनो के, पशुओं के, भेदों का वर्णन कर के, उन की सत्त्वप्रधानता अथवा रजःप्रधानता अथवा तमःप्रधानता भी, प्राचीन ग्रंथों के श्लोकों का उद्धरण कर के दिखाया है। सजीव निर्जीव सभी पदार्थों का इन्हीं तीन गुणो के अनुसार त्रिभाग किया है ; ये ये भेद सात्विक हैं, ये राजस, ये तामस। और इस हेतु से यह यह वस्तु, वास्तुकर्म मे, शिल्पकर्म मे, अन्य विविध कर्म मे, इस इस कार्य के लिये और इस इस प्रकृति के मनुष्य के लिये उपयुक्त है। इस प्रकार से, अवस्था-भेदेन, बुद्धिपूर्वक, भिन्न-भिन्न वस्तुओं का प्रयोग करने से, सब का समन्वय हो सकता है।

आत्मा की गतियों का समन्वय, तथा, इच्छाओं, शास्त्रों, आदि का

आत्मा की अनंत गतियों का समन्वय और समाहार दो राशियों मे कर दिया है—प्रवृत्ति-निवृत्ति, संचर-प्रतिसंचर, प्रसव-प्रतिप्रसव, आरोह-अवारोह, सृष्टि-लय, जन्म-मरण, ईहा-उपरम, व्युत्थान-निरोध, अभ्युदय-निःश्रेयस, बन्ध-मोक्ष। अनन्त इच्छाओं का, चार पुरुषार्थों मे—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। अनन्त शास्त्रों का, इन्हीं चार पुरुषार्थों के साधक चार शास्त्रों मे—धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, मोक्षशास्त्र ; जिन चारो का कुछ न कुछ ज्ञान, ब्रह्मचर्यावस्था मे, सभी विद्यार्थियों को संग्रह करना चाहिये। जीवन के अनन्त प्रकारों का समन्वय, चार आश्रमो मे। मनुष्यों के अनन्त प्रकारों का समन्वय और लोक-संग्रह, चार वर्णों मे। जीविका के सहस्रों प्रकारों का, वर्णानुसार चार मुख्य प्रकार की वृत्तियों मे। अनन्त स्वार्थी एषणाओं का समन्वय, चार मुख्य एषणाओं मे; आदर की, लोक मे स्थान मान की, एषणा; बल पौरुष की, दूसरों पर ईश्वरता की, दार-सुत की; वित्त की; विनोद की। शारीर दृष्टि से, इन का रूप, आहारेच्छा, रतीच्छा, धनेच्छा, स्वास्थ्येच्छा। इन की प्रतियोगी, चार परार्थी शुभवासना भी ; अपने से श्रेयान् ज्यायान् का आदर सम्मान पूजा करने की ; आज्ञा मानने की, दूसरों का विवाह करा देने

की, उन के वंश और शक्ति के विस्तार को देखने की ; दान देने की ; मन बहलाव उत्सव, कराने की। अर्थात्, इन चारो प्रकारों से, अन्नादि भोज्य-पदार्थ, रति, धन, स्वास्थ्य, का दान देने की। इस रीति से, इस अध्यात्मविद्या से अधिष्ठित, उस पर प्रतिष्ठित, उस में निष्ठित, मानव-आर्य-वैदिक-बौद्ध-सनातन-धर्म मे सब का यथास्थान यथाकाल यथावस्था समावेश कर दिया है। अंग्रेज़ी मे भी कहावत है 'इट टेक्स आल् काइंड्ज़ टु मेक ए वर्ल्ड' (It takes all kinds to make a world), 'जब सब प्रकार के जीव और द्रव्य एकत्र हों तब एक जगत् बनै।'

पक्ष-प्रतिपक्ष, उत्तर-प्रत्युतर का, समन्वय।

प्रत्येक प्रश्न पर, पक्ष-प्रतिपक्ष के, वादो-प्रतिवादी के, दो दो विरुद्ध विचार और उत्तर उठते हैं। अंग्रेज़ी मे कहावत है—'एवरी क्वेस्च्यन् हाज़् टू साइड्ज़' (Every question has two sides), इस लिये 'पक्षप्रतिपक्षाभ्यां निर्णीतः अर्थः सिद्धांतः भवति'। दोनो विरोधी पक्षों मे कुछ अंश सत् का भी, और कुछ असत् का भी, अवश्य होता है। सारा संसार ही सत् और असत् के समुच्चय से प्रत्यक्ष ही बना है। सभी परिमित वस्तु, अभी है, और अभी नहीं है। ऐसी अवस्था मे, 'आश्रयेत् मध्यमां वृत्तिं, अति सर्वत्र वर्जयेत्', अति के वर्जन से, मध्यमा वृत्ति के आश्रय से, देश-काल-निमित्त का विचार कर के, हेतुपूर्वक विभजन करने से, 'विभज्य वचनीयम्', मनुष्य के व्यक्ति-जीवन-सम्बन्धी, तथा समाज-जीवन-संबंधी, जितने भी प्रश्न उठे हैं या उठ सकते हैं—शिक्षाविषयक, गार्हस्थ्यविषयक, स्त्री-पुरुष-सम्बन्धविषयक, भर्ता-भृत्य-विषयक, जीविकाविषयक, युवा-वृद्धविषयक, आर्थिक, शिल्पसम्बन्धी, राजनीतिक, धार्मिक, आदि—इन सब प्रश्नों का उत्तरण, सब पक्षों, सब उत्तरों, का समन्वय, मध्यम मार्ग पर चलने से, अधिकतर सुख और अल्पतर दुःख के साथ, हो सकता है।

शौच-अशौच का समन्वय।

सामाजिक व्यवहार के साधनार्थ, शौच के अभाव की यहाँ तक अनुज्ञा दी है कि, कुत्ते के जूठे को भी खा जाना, आदमी के लिये न्याय्य, धर्म्य, जायज़, कर दिया

है ; 'श्वा मृगग्रहणे शुचिः', 'शकुनिः फलपातने', 'पण्ये यच्च प्रसारितम्', 'कारु-हस्तः सदा शुद्धः' 'पथि शूद्रवदाचरेत्', इत्यादि । शिकार में कुत्ते का पकड़ा मृग शुचि है, मांसाहारी क्षत्रियवृत्ति वाले के लिये; तथा, सब के लिये, पक्षी का काटा और गिराया फल; तथा दूकान बाजार मे फैलाये भोज्य पदार्थ शुद्ध हैं ; तथा कमेरे का, शिल्पी का, हाथ सदा शुद्ध है ; तथा यात्रा मे, राह चलने मे, आवश्यकता पड़ने पर, शूद्र के ऐसा, यम नियम को छोड़ कर, व्यवहार करै; इत्यादि । दूसरी ओर, जब सांसारिक व्यवहार को छोड़ कर, मनुष्य, मोक्ष के साधन मे लगे, तो उस के लिये शौच की परा काष्ठा यहाँ तक दिखाई है कि, 'शौचात् स्वांगजुगुप्सा परैःअसंसर्गः'; दूसरों के स्पर्श का तो कहना ही क्या है, अपने शरीर से भी घृणा कर के विदेहमुक्ति प्राप्त करना चाहिये ।

स्थानाद्, बीजाद्, उपष्टम्भात, निस्स्यन्दात्, निधनादपि,
कायं आधेयशौचत्वात् पंडिता हि अशुचिं विदुः ।

'इस मनुष्य-शरीर का बीज, इस के पोषण का स्थान अर्थात् गर्भाशय, इस के धारण के उपाय, भक्षण पान आदि, इस से निकले मल, इस की मृत्यु—सभी इस की परम अशुचिता के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं । नित्य नित्य इस की अशुचिता को हटाते रहने की आवश्यकता से ही निश्चय हो जाता है कि इस की पवित्रता झूठी है, मिथ्या आभास मात्र है' ।

एक नियम, अथवा नियम की शिथिलता, क्षत्रियवृत्ति वाले तथा अन्य गृहस्थों के लिये है । दूसरा नियम, अति कठिन, संन्यासी के लिये है । पर आज काल के हिन्दू समाज मे इन नियमो का कैसा पालन हो रहा है, यह सब ही जानते हैं । प्रायः संन्यासीवेशधारी जीव तो शौच की फ़िक्र ही नहीं करते, और साधारण गृहस्थ दूसरों के दिखाने के मौक़े पर महामहर्षि से भी अधिक शौचाचार और 'छू-मत मत-छू' का ढोंग रचते हैं ।

भक्ष्य-अभक्ष्य-समन्वय ।

मद्य मांस आदि का निषेध करते हुए भी, युद्ध आदि के समय, क्षत्रियवृत्ति

वाले मनुष्य के लिये, मनु ने इन के उपयोग की अनुमति दे दी है। मनुष्य की प्रकृति देखते हुए, इन का सर्वथा निषेध अशक्य समझते हुए, इन पर केवल कुछ रोक रखने ही का यत्न किया है।

लोके, व्यवाय-आमिष-मद्य-सेवाः
नित्यास्तु जंतोः; नहि तत्र चोदना;
व्यवस्थितिः तासु, विवाह-यज्ञ-
सुरा-ग्रहैः; तासु निवृत्तिर् इष्टा। (भागवत)

स्त्री-पुरुष के प्रसंग की, मांस की, मद्य की, सेवा करने को तो आप ही मनुष्य की प्रवृत्ति होती है; इन के लिए उपदेश देने का प्रयोजन नहीं; प्रत्युत, इन की अति सेवा और दुरुपयोग को रोकने का प्रयोजन बहुत है; इस लिये विवाह और यज्ञ आदि के द्वारा इन का नियमन किया है। जहाँ तक हो सके इन से निवृत्ति ही अच्छी है'। गीता मे, सात्त्विक, राजस, तामस, तीन प्रकार के आहार, तीन प्रकृति के लिये कहे हैं।

सत्य-असत्य-समन्वय।

सत्य की परम प्रशंसा करते हुए भी, साधारण मनुष्य की प्रकृति को देख कर, विशेष विशेष अवसर पर, यदि कोई असत्य बोल जाय, तो उस को भारी पाप नहीं गिनना, ऐसा प्रबन्ध मानव-धर्म मे कर दिया है। यथा, प्राणात्यय मे, अपने या दूसरे के प्राण बचाने के लिये; वा हंसी मे। मनु के इन वाक्यों पर लोग जल्दबाजी से आक्षेप कर बैठते हैं। उन को याद करना चाहिये कि, मनु ने तो प्राणसंकट मे यह अनुमति दी है। पर आज काल के पच्छिमी क़ानून मे, किसी भी छोटे से छोटे जुर्म के मुलजिम को, हलफ न देने का कायदा बना कर, झूठ बोलने की मानो साफ इजाजत दी है। तथा, वकील की मुवक्किल से जो बात हुई, डाक्टर की रोगी से जो बात हुई पत्नी की पति से जो बात हुई, उस बात की गवाही साक्षी देने की मनाई कर के, इस कानून ने उन से यदि सरीही झूठ नहीं बुलवाया, तो सच को छिपवाया, जो भी झूठ बोलने के बराबर है। इस से यह

नहीं समझना चाहिये कि आज काल के कानून मे जो ऐसे नियम हैं वे सर्वथा अनुचित ही हैं; ऐसा नहीं, वे भी सहेतुक हैं; तथा मनु के नियम भी सहेतुक हैं। और भी; सत्य के दर्जे भी होते हैं, कम सत्य, अधिक सत्य; जैसे, यहाँ कोठरी के भीतर प्रकाश है, यह सत्य है; बाहर दालान मे भी प्रकाश है, यह सत्यतर है, क्योंकि प्रकाश अधिक है; मैदान मे, जहाँ कुछ भी छाया नहीं है, वहाँ भी प्रकाश है, पर यह और भी सत्य-तर है, क्योंकि प्रकाश अधिकतर है, सूर्य की घाम (घर्म) वहाँ, बिना आवरण के, पृथ्वी पर पड़ती है; इत्यादि।

पुण्य-पाप-समन्वय।

व्यवहार दृष्टि से, पुण्य और पाप, धर्म और अधर्म, सुख और दुःख, नितान्त भिन्न हैं, विरुद्ध हैं; तौ भी, इन का रूप, अवस्था के भेद से, बदलता रहता है। जो कर्म एक वर्ण के लिये, एक आश्रम के लिये, एक मनुष्य के लिये, धर्म है, पुण्य है, कर्त्तव्य है, वही दूसरे के लिये अकर्तव्य पाप है, अधर्म है। ब्राह्मण के लिये, अधिकतर अहिंसा ही धर्म है; क्षत्रिय के लिये, दंडरूपिणी, दुष्टों की, हिंसा ही धर्म है; इत्यादि।

परमार्थ दृष्टि से, "पुण्यं च पापं च, पापे"; पुण्य भी, पाप भी, दोनों ही पाप हैं; ऋण किसी को देने से भी, अपने मन का, उस के साथ बंधन हो जाता है, 'उस से ऋण का धन वापस लेना है'; ऋण उसको लेने से भी, लेने वाले के मन मे, देने वाले के साथ, बंधन हो जाता है, 'ऋण उसको चुकाना होगा'। अथच, पुण्य-पाप दोनो ही मिथ्या हैं; अपने सिवा कोई 'अन्य', 'दूसरा', हो, तब न उस से या उस को ऋण लिया दिया जाय! अपने को ही, आप ही, सुख-दुःख देना, न पुण्य है न पाप है, न वह सुख सुख ही है, न वह दुःख दुःख ही है।

जिह्वां क्वचित् संदशति स्वदद्भिः,
तद्वेदनायां कतमाय कुप्येत् ?
यद् अंगं अंगेन निहन्यते क्वचित्,
क्रुध्येत कस्मै पुरुषः, स्वदेहे ?

आत्मा यदि स्यात् सुखदुःखहेतुः,
किम् अन्यतः तत्र, निज-स्वभावः।
नहि आत्मनोऽन्यद् यदि, तन् मृषा स्यात्;
क्रुध्येत कस्मान्!, न सुखं, न दुःखं।
(भागवत, स्कंध ११, अ० २३, श्लो० ५१-५४)

'यदि अपने ही दाँतों से अपनी ही जिह्वा कभी कट जाय, अपने ही हाथ से अपने ही पाँव को कभी चोट लग जाय, तो किस पर क्रोध करे? अपनी ही देह पर? जब आत्मा ही, आप ही, सुख दुःख का हेतु है, कोई 'दूसरा' 'अन्य' है ही नहीं जो दुःख दे और जिस पर क्रोध किया जाय, तो क्रोध झूठा है; न सुख सुख है, न दुःख दुःख है; सब मिथ्या है, माया है, माया का खेल और जंजाल है।

अब हौं (=मैं, हम) कासों बैर करौं?
प्रभु निज मुख तें कहत फिरत हैं,
घट घट हौं (=मैं, हम) बिहरौं!

हिंसा-अहिंसा-समन्वय।

हिंसा और अहिंसा के विरोध का परिहार—कृष्ण की शिक्षा, 'तस्माद् युध्यस्व भारत", और क्राइस्ट की शिक्षा "एक गाल पर कोई थप्पड़ मारे तो दूसरा गाल उस के आगे फेर दो"—इन दोनो का समन्वय सीधे सीधे नियमो से कर दिया है। प्रवृत्तिमार्ग पर चलने वाले गृहस्थ के लिये, अपनी तथा अपने आश्रितों की रक्षा के लिये, हिंसा अर्थात् युद्ध उचित है, धर्म्य है; विशेष कर क्षत्रियवृत्ति वाले जीव के लिये, जिस का मुख्य काम उस के नाम ही से द्योतित होता है, दुर्बलो को चोट से बचाना;

क्षतात् किल त्रायते, इति उदग्रः
क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः;

'ऊँचे सिर वाला क्षत्र शब्द, संसार मे इसी लिये प्रसिद्ध है कि, उस का अर्थ ही है कि, क्षत से, चोट से, दुर्बलों का त्राण करता है।' सारी भगवद्गीता इस विषय ही का भाष्य ही है।

धर्म्याद् हि युद्धात् श्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते;
सुखिनः क्षत्रियाः, पार्थ !, लभंते युद्धं ईदृशं ।

'धर्म्य युद्ध से बढ़ कर कोई उत्तम लाभ क्षत्रिय के लिये नहीं ; सच्चे क्षत्रिय ऐसे युद्ध का बहुत प्रसन्नता से स्वागत करते हैं' ।

इस प्रकार के आत्मरक्षणार्थ और अपने आश्रित के रक्षणार्थ, युद्ध की आज्ञा यहाँ तक दी है कि,

गुरुं वा, बालवृद्धौ वा, ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्,
आततायिनं आयांतं, हन्याद् एव अविचारयन् । (मनु)

'प्राण लेने की नीयत से जो अपने ऊपर झपटै उस को, आततायी को, बिना विचारे मार ही देना चाहिये, चाहे वह गुरु हो, चाहे बालक, चाहे वृद्ध, चाहे बहुत पढ़ा लिखा ब्राह्मण' । आज काल का अंग्रेजी दंड-विधान तो इस से बहुत अधिक अनुमति देता है, 'अपने या किसी दूसरे की जान और माल की या ज़न् (औरत, स्त्री) के जिस्म और इज़्ज़त की हिफ़ाज़त के लिये, किसी भी हमला करने वाले को मार डालना तक जायज़ है' ।

आततायी वधोद्यतः । (अमरकोष)
अग्निदो, गरदः चापि, शस्त्रोन्मत्तो, धनापहः,
क्षेत्र-दार-हरः च, एतान् षड् विद्याद् आततायिनः ।
आततायिनं आयान्तं, अपि वेदान्तपारगं,
जिघांसंतं जिघांसीयात्, एष धर्मः सनातनः ।
न आततायिवधे दोषो, न तेन ब्रह्महा भवेत् ।
(वसिष्ठ-स्मृति; म० भा०; मनु)

'आग लगाने वाला, ज़हर खिलाने पिलाने वाला, शस्त्र लिये मतवाला, धन का लुटेरा, खेती बारी ज़मीन मकान पर या स्त्री पर बलात्कार से क़ब्ज़ा दख़ल करने वाला, ये छः आततायी होते हैं । ऐसा आततायी जब झपटता हो, तब उस को मार डालने से कोई दोष नहीं लगता; चाहे वह अपना गुरु ही हो, या बालक या वृद्ध या वेद वेदान्त का महापण्डित और ब्राह्मण भी हो । जो प्राण लेने की चेष्टा करै, उस के ही प्राण लेने की चेष्टा करना उचित है, सनातन धर्म है ।

यस्माद् 'आततं आयाति', 'अति' च अस्य 'अधनं' तथा,
'आततायी' इति नाम्ना इह ततोऽयं अभिधीयते ।

'आतत हो कर, अपने शरीर का, हाथ पैर का, विस्तार कर के, (जैसे बन्दर, कुत्ते, सिंह आदि क्रोध के समय रोएँ फुला लेते हैं, मुँह बा कर दाँत दिखाते हैं), अति वेग से दूसरे के ऊपर आता है, दौड़ता है, इस लिये इस को आततायी (ठेठ हिन्दी मे 'अताई') कहते हैं ।'

इस अभिप्राय को स्पष्ट करने का दूसरा और उत्तम प्रकार यह है, कि 'हिंसा' मे और 'दंड' मे विवेक किया जाय । निरपराध को पीड़ा देना, 'हिंसा'; सऽपराध को, 'दंड' । राजा का परम धर्म है कि दंड के योग्य को दंड दे ; 'जो दंडनीय को दंड नहीं देता और निरपराध को दंड देता है, वह राजा बदनाम होता है, और नरक मे गिरता है ।'

अदण्ड्यान् दंडयन्, राजा, दंड्यांश्च एव अपि अदंडयन्,
अयशो महद् आप्नोति, नरकं च अधिगच्छति । (मनु)
अहिंसा असाधु-हिंसा स्याद्, इति शास्त्रस्य निश्चयः । (म०भा०शांति०)

'असाधु की, दुष्ट की, हिंसा तो अ-हिंसा ही है; यह राजशास्त्र का निश्चय है' । दूसरी ओर, निवृत्तिमार्गी योगी संन्यासी के लिये, "देश-काल-समयऽनवच्छिन्नाः महाव्रतम्" रूपिणी अहिंसा ही उचित है; 'बिना किसी देश-काल आदि के समय के, शर्त के, अहिंसा, सत्य, आदि का पालन करना, यह योगियों का महाव्रत है' ।

सर्व-रस-समन्वय ।

संस्कृत साहित्य शास्त्र मे नौ रस माने हैं,

शृंगार-हास्य-करुणा-वीर-रौद्र-भयानकाः,
बीभत्सोऽद्भुतः, इति अष्टौ, शान्तस्तु नवमो रसः ।

ऐसे विभिन्न विरुद्ध भावों और रसों का, एक ही मन मे, एक ही शरीर मे, एक ही जीव को, कैसे और क्यों अनुभव होता है—इस का विचार, और इन का समन्वय, 'पुरुषार्थ' नाम के ग्रन्थ के 'रस-मीमांसा' अध्याय मे, विस्तार से करने का यत्न मै ने किया है; जिन सज्जन को इस विषय मे कुतूहल हो, वहीं देखें ।

यहाँ इतना लिख देना उचित जान पड़ता है, कि जब तक जीव संसार मे है, चाहे प्रवृत्ति अंश पर, चाहे निवृत्ति अंश पर, उस का संबंध इन रसों से रहता ही है। निवृत्ति मार्ग का जो शांत रस है, उस मे, प्रवृत्ति मार्ग के आठो रसों का समाहार और समन्वय हो जाता है।

भागवत पुराण मे कथा है, महाभारत के युद्ध और कौरव-पांडव वंश के विनाश, तथा यादवयुद्ध और कृष्ण-बलराम के वंश के संहार, के पीछे, वेद-व्यास जी, सरस्वती नदी के किनारे आश्रम बना कर, उदास मन से बैठे थे।

ऊँच नीच अरु भूत भविष्यहु, सब के जानन वारे,
युग युग मे धर्मन की फेरो, भावी कलि अँधियारे—
दिव्य दृष्टि तें अलख काल-गति को तब देखन लागे;
बुद्धि-रहित अरु ज्ञान-रहित अरु बल के हीन अभागे,
जिन के नहिं विश्वास परस्पर, आतम-श्रद्धा-हीना,
मन-मलीन अरु पाप-लीन अरु सत्त्व-हीन तन-छीना,
पर अधीन अरु परम दीन हू, अहंकार परवीना—
ऐसे देखे सब जन, मुनि, तब, भावी कलि के युग मे,
अरु नहि केवल मनुजन मे, बरु शक्ति घटी सब जग मे।
अस विलोकि, करुणा ते व्याकुल, मुनि मन माहिं विचारा,
कौन उपाय होय जत सब को बेड़ा सागर पारा?...
ऐसे सोचत खेदत जब, तहँ तेहि छिन नारद आइ गये।
कृष्ण मुनी उठि वेगि प्रणाम्यौ, पूजा आसन आदि दये।
सुख से बैठे, सब अग-जाने, बीन धरे, मुसुकाइ कहे,
देवन के ऋषि, विप्र ऋषी तें—केहि विचार मे आपु रहे?
सुवन पराशर के, बड़भागी!, मन अरु देह अपाने,
इन तें तुमरो आतम माने सुख को, वा नहिं माने?
जो कछु जानन लायक सो सब तुम बहुतायत पायो;
सब अर्थन की खानि महा-भारत हू को तुम गायो;
ब्रह्मसूत्र मे परम सनातन गायौ, कह्यौ तुम उज्ज्वल;

भौ हु, मुनि !, सोचहु काहे तुम, चित्त भरे अस कश्मल ?

व्यास जी ने उत्तर दिया,

आपु कह्यो सो सब, सोचे हू, है माहिं, तऊ न जानत,
जीव हमारो काहे खेदत, संतोषहिं नहिं मानत।
साँचहु हम बड़-भागी, आपु जु भाग्यन तें यहँ आइ गये,
जगत पितामह स्वयं-भूत के आत्मज, मोकूँ दरस दये;
सब रहस्यन के आपु महानिधि, सोध्यौ पुरुष पुराणहिं,
सब को ईश, सबहि जो सिरजत, पालत, नाशत, ध्यानहिं,
ऊँचनीच सब, गुण के बल तें, आपु न गुण महँ सानहिं।
सूर्य देव इव आपु चरौ नित, तीनिहु लोकन भीतर,
प्राण-वायु इव, सब जीवन के साक्षी भये, शुभंकर !,
ब्रह्मरूप सब छोट बड़े जे, तिन के हृदयन अंतर,
योग-धर्म तें देखि सकौ तुम, बोध अगाध जुहाय;
सो आपुहि बतरावौ, क्यों मन मेरो अस अकुलाय ?
अरु न्यूनता होय तामे जो, ताको देहु पुराय।

नारद जी ने कहा,

ज्ञानरूप जस आपु कह्यो है, भक्तिरूप तस नाहिं कह्यौ;
याही तें भगवान आतमा मन मे नहिं संतोष गह्यौ।
इच्छा-ज्ञान-क्रिया, तीनो ही, चेतन माहिं सदा ही;
इन तीनो को धारण किये बिनु, चित्त प्रसाद न पाहीं।
भक्ति ज्ञान अरु कर्म तीनिहू एक साथ दिखरावौ,
भक्ति-भाव भरि, कृष्ण चरित्र कौ, सब-रस-मय तुम गावौ,
तब सब लोकन अकुलावन तें तुम छुटकारा पावौ।
हे बड़भागी !, बुद्धि तुम्हारी, अति अमोघ, सब देखि सकै,
यश पवित्र, जिह्वा साँची, तन मन व्रत धारत नाहिं थकै;
सो तुम सब के सब बंधन के मोचन हेतु विचारौ,
करि समाधि, ईश्वर की चेष्टा, अति विचित्र, उर धारौ,

'शांत-वीर-करुणा' रस सानी वा की कथा प्रसारौ,
पापिन के 'बीभत्स-भयानक-रौद्र' कर्म दिखरावौ,
अरु उन के जो दंड भये तिनहू कौ तुम बतरावौ,
कृष्ण चरित 'श्रृङ्गार' ललित अति मधुर हु वामे ल्यावौ,
जग झूठो 'अद्भुत''अप-हास्य' निरो है, सोउ सिखरावौ।
चरित पुनीत सुनत हरि के नित नित चित तृप्ति न जोहै,
पद पद मे जा के निसरत रस नीरसहू को मोहै !
अस संभाषण करि कै, नारद, वासवि-सुत तें विदा भये,
मन-माने, वीना झनकारत, तुरतहिं तहँ ते चले गये।

तब व्यास जी ने भागवत पुराण को रचा; पुत्र शुक और शिष्य रोमहर्षण को सिखाया; शांति पाया।

योग विधिन सब के जे ईश्वर, कृष्ण अबहिं निज धाम गये,
यह पुराण, कलि-अंध लोक हित, सूर्यदेव इव उदय भये,
कृष्ण रूपही, व्यास-हृदय मे; शुक लोकिन कों दान दये।

अभिवाद-भेद-समन्वय।

साधारण शिष्टाचार, दुआ सलाम, के भी जितने प्रकार सभ्य जातियों मे प्रचलित हैं, सब का संग्रह इस मानवधर्म से व्यवस्थापित आर्यशालीनता मे पाइयेगा। सिर का इशारा, या इस का झुकाना (अंग्रेजी 'नाड्'), मुस्किराना, हाथ मिलाना, हाथ हिलाना ('हैंड-शेक'), सु-प्रभातम् (गुड् मार्निङ्ग), सु-आगतम् ('वेल् कम् ', फ़ारसी मे 'खुश आमदी', उर्दू मे 'खूब आये'), दहिने हाथ से सलाम, बायें हाथ से सलाम, दोनो हाथ जोड़ना, गले मिलना, पैर छूना, साष्टांग दण्डवत्—सभी प्रकारों के लिये, अधिकारभेद से, स्थान यहाँ रक्खा है।

भगवांस्तत्र बन्धूनां, पौराणाम् अनिवर्तिनाम्,
यथाविधि उपसङ्गम्य, सर्वेषां मानम् आदधे।
प्रह्व-अभिवादन-आश्लेष-करस्पर्श-स्मित-ईक्षणैः,
आश्वास्य च-आश्वपाकेभ्यो वरैश्चाभिमतैर्विभुः। (भागवत)

ततोऽवतीर्य गोविन्दो रथात्, स च युधिष्ठिरः,
भीमो, गांडीवधन्वा च, यमौ, सात्यकिरेव च,
ऋषीन् अभ्यर्चयामासुः करान् उद्यम्य दक्षिणान्। (शांतिपर्व)
ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा। (मनुः) इत्यादि।

'कृष्ण भगवान्, इन्द्रप्रस्थ से लौट कर, द्वारका आये; बड़ों को झुक कर प्रणाम किया, अति स्नेही बराबर वालों को गले लगाया, औरों से हाथ मिलाया, किसी की ओर मुस्कराये, किसी को दयादृष्टि से देखा ; श्वपाक चांडाल पर्यन्त सब का आश्वासन सम्मान किया। कृष्ण, पञ्च पांडव, और सात्यकि, शरशय्या पर पड़े भीष्म के दर्शन को गये; रथों से उतर कर, वहाँ एकत्र ऋषियों को, अपने दहिने हाथ उठा कर, 'सलाम' किया। अध्ययन के आरम्भ और अन्त में गुरु के पैर छूने चाहियें'। इत्यादि।

अन्त्यक्रिया के विविध प्रकारों का समन्वय।

अन्त्य संस्कार में भी सभी प्रकारों का समन्वय देखिये। "चतस्रो गतयः, विडन्ता वा, रसान्ता वा, भस्मांता वा"। यह वाक्य "पञ्चत्वं गतः" की टीका है। पाँच तत्त्व का बना पुतला, फिर उन्हीं पाँच में लीन हो जाता है। उस में आकाश ऐसा सूक्ष्म है कि इस के द्वारा शव के संस्कार की कोई क्रिया, बुद्धि-पूर्वक, मनुष्य के सामर्थ्य के बाहर है; प्रकृत्या, आप से आप होती रहती है। इस लिये चार प्रकार के मरण संस्कार कहे हैं। एक यह कि, तपस्वी, वानप्रस्थ वा संन्यासी, जंगल में, अनशनादि व्रत से अपने शरीर का त्याग करे, और उसे पशु-पक्षी खा कर तृप्ति पावैं, और अपने शरीरों में, प्राण के द्वारा, जीर्ण करैं, तथा विड्, मल, के रूप में, उस के अवशिष्ट, किट्ट अंश का, पुनः खुली हवा में विसर्जन कर दें; यह वायु संस्कार कहा जा सकता है, क्योंकि दूसरे जीवों के प्राणवायु से उन के शरीरों में लीन हो जाता है। दूसरा यह कि, रसा अर्थात् पृथ्वी में निखनन करना, गाड़ देना; इस को पहिले प्रकार का अवांतर प्रकार भी समझ सकते हैं; इस में शव के अवयव, पृथ्वी के कीटों के काम में आते हैं, अथवा, गल पच कर मिट्टी में मिल जाते हैं, जैसे विड्। तीसरा, रस अर्थात् जल में प्रक्षेप

करना, प्रवाह कर देना, इस से जल के जन्तुओं का, मछली कछुओं का, पोषण होता है। चौथा, अग्नि में दाह कर के भस्म कर देना। ये सभी प्रकार मानव धर्म में, अधिकारभेदेन, बर्ते जाते हैं। अग्निदाह तो प्रसिद्ध ही है; अधिकांश मनुष्यों के लिये यही उचित है, वैज्ञानिक दृष्टि से भी, और बड़ी बस्ती के पास ज़मीन की कमी के, तथा शुद्धि के, विचार से भी; यहाँ तक कि अब पच्छिम के बड़े बड़े शहरों में यही प्रकार, स्वच्छ यंत्रों द्वारा, बर्तने लगे हैं। मृत शरीर का भस्म ले कर, मंजूषा में रख कर, उस के ऊपर चैत्य, छतरी, स्तूप, एडूक, आदि के नाम से, 'क़ब्र', 'मकबरे', बनाने की भी प्रथा पुरानी चली आती है। संन्यासियों को समाधि दी जाती है, अर्थात् गाड़े भी जाते हैं, इस विचार से, कि इन का शरीर, तपस्या से, ब्रह्म-ध्यान से, लोकहित-चिन्तन से, इतना पवित्र हो गया है कि, इस के किसी स्थान पर पड़े रहने से, उस में व्याप्त उन का प्रभाव कुछ दिनों तक उस स्थान को, और आस पास को, पवित्र करता रहेगा, और जो उस के पास आवेंगे उन का हृदय पूत पावित होगा। बुद्धदेव की अस्थियाँ कितने स्तूपों में रक्खी हुई हैं। अति बाल्यावस्था में मृत, तथा विशेष विशेष रोगों से मृत, शरीर का, तथा संन्यासी का भी, जल में भी प्रवाह किया जाता है। बाल्मीकि रामायण में कथा है कि राम जी ने विराध नाम राक्षस का, उस की इच्छा के अनुसार, निखनन-संस्कार किया, तथा कबन्ध नाम राक्षस का, और जटायु नाम गृध्र का भी, अग्नि-संस्कार किया; दूसरी 'जात' का है, इस को कैसे छूएँ, इस मूढ़ शङ्का को उठाया ही नहीं। पारसियों में वायु-संस्कार होता है।

परलोक-विषयक मतों का समन्वय।

पार्थिव, पृथ्वी के, पांचभौतिक शरीर को छोड़ने के बाद जीव की क्या गति होती है, इस विषय पर, प्रायः सभी धर्मों का मत है कि, अपने किये भले-बुरे कर्मों के अनुसार, स्वर्ग-नरक, सुखवती-अवीचि (बौद्धमत के), 'हेवन-हेल' (heaven-hell, ईसाई मत के), जन्नत-जहन्नुम या बहिश्त-दोज़ख (इस्लाम मत के), में, जीव को सुख-दुःख भोगना होता है। पर

उन स्थानो और वहाँ के अनुभवों के रूप और प्रकार के विषय मे अलग अलग मत हैं ।

हिन्दुओ मे चतुर्दश-भुवनों की चर्चा होती है; पृथ्वी के ऊपर छः; पृथ्वी के नीचे सात । परन्तु स्वर्ग और नरक कभी इन से भिन्न कहे जाते हैं, कभी इन मे मिला दिये जाते हैं। ऊपर के सात-लोक, भूः (पृथ्वी, मनुष्य-लोक), भुवः (अन्तरिक्ष, पितृ-लोक), स्वः (स्वर् लोक, देव-लोक), महः, जनः तपः, सत्यं (ब्रह्म लोक), कहे जाते हैं । अन्तिम पाँच, स्वः, स्वर्ग, के ही भाग माने जाते हैं; एक से ऊँचा दूसरा, दूसरे से तीसरा, जैसे पँच मंजिला महल । सत्य लोक, ब्रह्म-लोक, के अधिष्ठाता, स्वयं ब्रह्मा माने जाते हैं; तपो-लोक मे उत्तम ऋषियों का प्राधान्य है; जन-लोक मे, सब देवों के राजा, देव-राज, सुर-राज, इन्द्र वा महेन्द्र अधिष्ठाता हैं; महर्लोक के भिन्न भागों मे वरुण, कुबेर, यम, अधिष्ठाता हैं; ऊँचे ऋषि और देव, इन पांचो मंज़िलों मे आ जा सकते हैं, जैसे राज-प्रासाद मे ऊँचे अधिकारी; तथा नीचे के दो लोकों मे भी, काम पड़ने पर । वरुण, कुबेर, यम का स्थान इस पृथ्वी पर भी कहा जाता है; वरुण का समुद्र मे, कुबेर का हिमालय मे, यम का दक्षिण दिशा मे । 'स्वर्ग' शब्द की व्युत्पत्ति यों की जा सकती है, 'स्वं, आत्मानं, आत्म-राज्यं, मनोराज्य, गम्यते, अधिगम्यते, लभ्यते, यत्र, सः स्वर्गः', जहां स्व-राज्य, मनःकल्पित राज्य, मन-माने स्वप्नो का राज्य, मिल जाता है; जैसे 'स्वपिति' (सोता है) शब्द की व्याख्या, वेदान्त के ग्रन्थों मे की गई है, 'स्वं अपि-इतो भवति,' अपने स्व को, आत्मा को, अपने भीतर, चला जाता है । एवं, 'नरक' की निरुक्ति, 'कुत्सितः नरः, नर-कः', हो सकती है, जहां कुत्सित, निन्दित, निकृष्ट, नर, जीव, रहैं; ऐसे, पापियों के अड्डे, पृथ्वी पर भी हैं ही । भागवत मे कहा हा है, "अत्रैव स्वर्गः अत्रैव नरकः", यहीं पृथ्वी पर ही स्वर्ग भी है नरक भी है; तात्पर्य यह कि चाहे इस लोक मे, चाहे परलोक मे, जहाँ ही दुष्ट पापिष्ठ भाव अधिक हैं वहीं नरक; जहाँ सद्भाव, पुण्य पवित्र विचार अधिक, वहीं स्वर्ग । लोग कहते भी हैं, 'इस कुल मे स्वर्ग है, उस कुल मे नरक' ।

नरकों की संख्या कहीं २१, कहीं कम-बेश, न्यून-अधिक, कही है; सब के

नाम भी अलग-अलग रख दिये हैं; सूचियों मे, नामो के भेद, और ऊपर नीचे स्थानों मे भी भेद, देख पड़ते हैं।

पृथ्वी के नीचे के सात भुवनों के नाम, ('भवति इति भवनं, भुवनं', जो होता रहता है, बनता मिटता रहता है, सदा चलायमान है), अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल, पाताल। पुराणो के भिन्न-भिन्न प्रकार के वर्णनो का समन्वय करने से अनुमान होता है, कि जैसे पृथ्वी पर, एक स्थान मे अति सुन्दर पुष्प-फल-पूर्ण उद्यान, और दूसरे स्थान पर मल-पूर्ण नल, वा यातना मे पड़े कैदियों के रोने चिल्लाने से भरे कारागृह, वैसे ही इन सातों मे एक ओर 'बिल स्वर्ग' और एक ओर 'बिल-नरक' हैं। एक एक तल के राजा, एक एक (सुर के विरोधी) असुर, दैत्य, दानव भी कहे हैं; यथा एक के राजा प्रह्लाद, एक के बलि, आदि। यह सब तरह तरह की बातें पुराणो की हैं। सब का मेल करना कठिन जान पड़ता है। उपाय एक ही है, 'सम-दर्शिता', 'उपमा', लॉ ऑफ् ऐनालोजी' (Law of analogy); वह आगे कहा जायगा।

स्वर्गों मे दो चाल के देव कहे हैं; आजानदेव वे हैं जो प्रकृत्या देवयोनि मे, इस ब्रह्माण्ड मे, मानव जाति की सृष्टि के आदि मे उत्पन्न हुए, मरते नहीं, मानव जाति के अन्त तक रहेंगे; कर्म-देव वे मानव हैं जो पुण्यकर्म के बल से, उन उन ऊँचे नीचे पाँच स्वर्गों या स्वर्ग के भागों मे, थोड़े या बहुत काल के लिये पहुँच जाते हैं, और "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशति", पुण्य की पूँजी व्यय हो जाने पर पुनः पृथ्वी पर जनमते हैं। उपमा, जैसे धन कमा कर, गर्मी के दिनों मे, कुछ लोग ठंढे पहाड़ों पर चले जाते हैं, फिर बैंक मे जमा किये हुए उस रुपये के खर्च हो जाने पर, समस्थली, 'प्लेन्स' (plains) को वापस आते हैं।

नरकों मे, 'आजान-नारकी' और 'कर्म-नारकी' का भेद नहीं किया है; किंतु, पुराणो और स्मृतियों का अर्थ लगा कर, अनुमान होता है कि, प्रकृत्या भी, अधम उप-देव, पिशाच, कूष्मांड, प्रमथ, पूतना, डाकिनी, शाकिनी, आदि योनियों के भी जीव होते हैं, जो कभी कभी भूलोक मे भी घूम लेते हैं, जैसे देव भी; तथा पापी मानवों के प्रेत जीव भी। किन्हीं किन्हीं हिन्दू सम्प्रदायों मे 'नित्य-नारकी' और 'नित्य-स्वर्गी' भी माने हैं, जैसे ईसाइयों के कुछ सम्प्रदायों मे

('काल्विनिस्ट' Calvinist, आदि); इन का सादृश्य, 'आजान-नारकी' और 'आजान-देव' से समझना चाहिये ।

हिन्दुओं के स्वर्गों मे, अप्सराओं और गन्धर्वों के नाच गाने देखना सुनना, अप्सराओं के साथ, विमानो पर, उड़ते फिरना और भोग-विलास करना, कर्म-देवों, पुण्यवान् जीवों, के लिये लिखा है । कुछ खाते पीते हैं, और क्या, यह स्पष्ट नहीं बताया है पर, महाभारत के सभा-पर्व मे, नारद ने ब्रह्मा, इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर की सभाओं का जो वर्णन किया है, उस मे, यम की सभा मे खाद्य-पेय लेह्य-चोष्य चतुर्विध भोज्यों को बताया है, वरुण की सभा मे फलवान वृक्षों को, और कुबेर की सभा मे चर्बी और मांस खाने वालों को भी । आजानदेव 'अमृत' पीते हैं; वह अमृत तो कर्मदेव को न मिलता होगा; नहीं तो ये भी 'अमर' हो जाँय, और पृथ्वी पर न लौटें । "क्षीणे पुण्ये" का नियम झूठा हो जाय; प्रलय तक आजान-देवों के साथ रहैं; "आ-भूत-संप्लवं स्थानं अमृतत्वं हि भाष्यते" । आजान देवों मे भी, कोई अधिक दीर्घजीवी, कोई कम, मालूम पड़ते हैं; सभी 'आ-भूत-संप्लवं" नहीं ठहरते ।

पुरुष कर्म-देवों का प्रबन्ध तो हिन्दू पुराणो ने कर दिया; पर पुण्यात्मा स्त्री कर्म-देवियों की चर्चा कुछ भी नहीं की, न उन के भोग-विलास की सामग्री की । यह तो बहुत बार लिखा है कि पतिव्रता स्त्री "पतिलोकं अवाप्नोति, पत्यैव सह मोदते", जिस स्वर्ग को पति जाता है, उसी को वह भी जाती है, और उस के साथ वहाँ आमोद-प्रमोद करती है; पर यदि पति-महाशय ने उसी विमान पर अप्सराएँ बिठा ली हैं तो पत्नी के लिये आमोद-प्रमोद कठिन ही है; और उस को अपने अलग विमान पर गन्धर्वों के साथ भोग-विलास की अनुमति नहीं दी है ।

घोर, घोरतर, घोरतम नरकों मे, पापी जीवों के लिये, तरह तरह की यातनाएँ लिखी है; जिन के नमूने, प्रतिदिन, इसी पृथिवी पर देख पड़ते हैं; आग में जलना, पानी मे डूबना, आकस्मिक घटनाओं मे, यथा रेल लड़ने मे, हाथ पैर की हड्डियाँ टूटना, कट जाना, पिस जाना, ऊँचे स्थान से नीचे गिर पड़ना, मगर बाघ सिंह आदि के दाँतों से चीरे फाड़े जाना, गोजर, बीछू, साँप से काटे जाना,

फाँसी टँगना, दारुण रोगों से रोगी होना, इत्यादि। सभी बड़े छोटे अस्पताल, चिकित्सालय, नरक के नमूने ही हैं; भेद इतना है कि, अस्पतालों मे, वैद्य डाक्टर, रोगियों का कष्ट कम करने और रोग दूर करने का जतन करते हैं, और नरकों मे ऐसा उपचार नहीं होता।

यहूदियों, ईसाइयों, तथा मुसलमानो मे, (इन तीनो धर्मों की 'ऋषि'-परम्परा, और 'वेद'-परम्परा, ईसा के जन्म तक, एक ही है, और मुसलमान लोग ईसा को भी नबी, ऋषि, मानते हैं), किसी समय मे पुनर्जन्म का विश्वास बहुत फैला था; पर, इधर, कई सौ वर्षों से, कम हो गया; किन्तु लुप्त नहीं। ईसाइयों के स्वर्ग, 'हेवन' (heaven) मे, स्त्री पुरुष का भेद नहीं है, सब शरीर एक ही प्रकार के, निर्लिङ्ग, हैं; सुन्दर पुष्पों के वृक्ष फैले हैं, स्वच्छ उत्तम जल के झरने बह रहे हैं, 'शीतल-मन्द-सुगन्ध समीर' चल रहा है, (जैसे काश्मीर मे); परमेश्वर की स्तुति मे, सब जीव, बिना भूख-प्यास की बाधा के, लगे रहते हैं; कभी थकते नहीं, उबियाते नहीं, सोते नहीं; दिन-रात का भेद वहाँ नहीं, सर्वदा कोमल प्रकाश बना रहता है। लेकिन इस ईसाई स्वर्ग में भी, आजान-देवों और कर्म-देवों का सा भेद है, क्योंकि पृथ्वी पर देह त्यागने के बाद वहाँ पहुँचने वालों से अन्य, आदि काल से, वहाँ 'एन्जल्स' (angels) बसते हैं, उन का दिव्य शरीर तो मनुष्यऽाकार है, पर कंधों के पीछे दो बड़े बड़े और सुन्दर चमकते हुए पंख होते हैं, जिन के बल वह जहाँ चाहे उड़ कर चले जाते हैं, और प्रायः 'हार्प' वा 'लायर' (harp, lyre) पर, (जो वीणा वा सितार का सा वाद्य, बाजा, होता है), सदा परमेश्वर के स्तोत्रों का गान किया करते हैं। ये फ़रिश्ते अमर हैं, पर मानवों के जीव, रूहें, 'सोल्स' (souls), पृथ्वी पर जन्म के साथ बनते हैं, उस के पहिले उन का अस्तित्व नहीं होता, और पार्थिव शरीर छोड़ने के बाद अमर हो जाते हैं, अनन्त काल के लिये स्वर्ग ही मे, अथवा यदि पापी हैं, तो नरक ही मे, रहते हैं। न्यून अधिक पुण्य वा पाप के लिये न्यून अधिक स्वर्ग-सुख नरक-दुःख की व्यवस्था नहीं की है; एक ही चाल का एक ही स्वर्ग, और एक ही नरक जिस मे आग धधकती रहती है। यदि बप्तिस्मा (baptism) नाम-करण, के पहिले ही बच्चा मर जाय, तो उस के जीव को भी नरक मे जाना होता

है। एक और प्रकार के भी नित्य-नारकी को ईसाइयों ने माना है। जैसे कश्यप की संतान मे देव और दैत्य सौतेले भाई हैं, वैसे ही 'एन्जल्स' मे से कुछ, आदि काल मे ही, अति अभिमान-अस्मिता के कारण, परमेश्वर के विद्रोही हो गये, और उन को परमेश्वर ने शाश्वतिक नरक मे फेंक दिया; अज़ाज़ियल नाम का फ़रिश्ता उन का राजा हो गया, जिस को अब ईसाई लोग 'सेटन' (Satan) कहते हैं, और वह, हृदय मे सदा तीव्र अग्नि से जलता हुआ, नरक से निकल निकल कर, पृथ्वी-तल पर घूम घूम कर, मनुष्य जीवों को ललचाता, बहँकाता, पाप मे गिराता रहता है, और नरक की बस्ती बढ़ाता रहता है; इस घोर कार्य से परमेश्वर उस को नहीं रोकता।

मुसल्मानों का नरक, प्रायः ईसाइयों का सा ही है। शैतान को वे भी मानते हैं। पर स्वर्ग के विषय में उन का विश्वास भिन्न है। साधारण मुसल्मान विश्वास करते हैं कि स्त्रियों को रूह नहीं होती, इस लिये बहिश्त मे इन्सानी स्त्रियाँ नहीं हैं, (तो दोज़ख मे भी न होंगी, चाहे कोई भी पाप किये हों ?); पुरुषों के ऐश के लिये खास किस्म की बहिश्ती स्त्रियाँ और खूबसूरत ग़िलमा (गुलाम का बहुवचन, खूबसूरत लड़के) मिलते हैं; खाने के लिये उमदा मेवे, पीने के लिये आबि हयात ('ज़िन्दगी देने वाले पानी', अमृत), के, और लज्जतदार शराबों के भी, चश्मे (झरने) जारी रहते हैं। ऐसे विश्वास, साधारणतः, मुसलमानो मे फैले हुए हैं। मुसलमान मित्रों से यह मै ने सुना है। अरबी भाषा न जानने के कारण, मूल क़ुरान नहीं देख सका हूँ; अनुवाद, हिन्दी और अंग्रेजी, जहाँ तक देख पाया, उनमे इन विश्वासों के लिये, पूरे प्रमाण नहीं मिले, लेकिन, शाश्वतिक स्वर्ग, शाश्वतिक नरक, बहिश्त मे गोश्त, शराब, आबि-हयात, दूध, शहद, हूरियों की बात तो क़ुरान मे है।

विचारने पर ये सब बातें, सभी धर्मों की, बहुत उलझी जान पड़ती हैं। कैसे सुलझाई जायँ ? गीता मे कहा है—

> यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजति अन्ते कलेवरं,
> तं तं एव एति, कौन्तेय !, सदा तद्भाव-भावितः।
> ओं इति एकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्, मां अनुस्मरन्,

यः प्रयाति त्यजन् देहं, स याति परमां गतिं ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषः, यो यच्छ्रद्धः स एव सः । (गीता)
याऽन्ते मतिः, सा गतिः ।

'अंत समय मे जिस भाव से, जिस इच्छा से, भावित हो कर शरीर छोड़ता है, उसी भाव के अनुरूप (परलोक मे, और पुनः इस लोक मे) अनुभव पुनः प्राप्त करता है । यदि प्रणव ॐ का उच्चारण और मेरा (परमात्मा का) ध्यान करता हुआ, देह से जीव प्रयाण करता है, तब वह परम गति, मोक्ष, को पाता है । मनुष्य श्रद्धामय है, श्रद्धा से बना है, श्रद्धा का बना है; जैसी श्रद्धा वैसा मनुष्य; जो श्रद्धा वही मनुष्य । अन्त समय जैसी मति वैसी गति[1] । इसी आशय से तुलसीदास ने कहा है, "जन्म जन्म मुनि जतन कराहीं, अन्त राम कहि आवत नाहीं" । केवल मुख से नाम जपना पर्याप्त नहीं; सच्चा भाव भीतर हृदय मे धँस जाना चाहिये ।

दूसरा मुख्य सिद्धान्त, इस सम्बन्ध मे याद रखने का, यह है; "यद् एव इह, तद् अमुत्र, यद् अमुत्र, त-द्-अनु-इह" (कठ); 'यथा अयं लोकः, तथा असौ लोकः' । 'यथा जागरे, तथा स्वप्ने', 'यथा क्षुद्रविराट्, तथा महाविराट्', 'यथा पिंडाण्डे, तथा ब्रह्मांडे', 'यथा अहोरात्रे, तथा कल्पप्रलये' "भीतर बाहर एकहि जानो" ।

इस समदर्शिता-न्याय, को उपमा-प्रमाण को, अंतिम-भावना-प्रभाव-न्याय के साथ, काम में लाने से, निष्कर्ष यह निकलता है कि—'जैसे एक दिन-रात का अनुभव, वैसे ही एक सम्पूर्ण वृद्धि ह्रास-आत्मक आयुष्काल का, एक युग, महायुग, कल्प-प्रलय आदि का; जैसी इस लोक की, पास की, अवस्था, वैसी ही परलोक की, दूर (समझे जाने वाले, पर असल मे दूर नहीं) की, अवस्था ।

---

१ एक अंग्रेजी कवि ने कहा है,

Whatsoever thou lovest, that become thou must,
God if thou love God, dust if thou love dust.

'जिसपर तेरा सच्चा प्रेम, वही तू हो ही जायगा । मिट्टी मे मन अटकावेगा, तो मिट्टी हो जायगा; ईश्वर मे, तो ईश्वर हो जायगा ।'

इस उपमा-न्याय, Law of Analogy, के बल से, जानी बूझी बात के सहारे, न-समझी बात समझ मे आती है। दिन भर के जागरण और परिश्रम से थका मनुष्य सो जाता है, मानो अपने शरीर से हट जाता है, उस को भुला देता है; रात भर 'सुस्ता' ('स्व-स्थ' हो) कर, फिर जागता है, मानो देह मे पुनः प्रवेश करता है, और इस लोक के कामो मे, तथा विनोदों, मन-बहलावों मे, लग जाता है। जिन बातों मे उस का बाहरी मन और भीतरी मन, 'चेतन' उद्बुद्ध मन और 'अचेतन' अनुद्बुद्ध मन, व्यक्त चेतना और अव्यक्त चेतना, बसी धँसी रहती है, उन्हीं के सम्बन्ध के तरह तरह के सपने निद्रा की अवस्था मे देखता है; ये स्वप्न, प्रायः, रूपकों नाटकों का आकार धारण करते हैं।[1] यदि जीव का मन शुद्ध है, उत्तम पुण्यवान् शुभ सात्त्विक भावों, विचारों, वासनाओं से अधिकांश पूर्ण है, तो सपने भी उस के सात्त्विक सुखमय होंगे; यदि राजस-तामस निकृष्ट नीच भावों से, तो सपने भी भयावने और दुःखमय। ज्योतिषी लोग कहते है कि जन्म-पत्र से सूचित कितने ही सुख-दुखों का भोग स्वप्न ही मे हो जाता है; ऐसे मनुष्य भी देखे जाते हैं, जो, निद्रा के लिये, बिछौने मे लेटते डरते हैं, क्योंकि उन को भयंकर सपने ही बहुधा होते हैं; तथा ऐसे भी जो चार-पाई मे पड़े रहना और मीठे सपने देते रहना चाहते हैं।

जो दशा एक रात्रि के स्वप्नो की है, वही दशा दो पार्थिव जन्मो के बीच के दीर्घकालिक स्वर्ग और नरक की भी, स्थूल रूप से, समझना चाहिये। योग-वेदान्त का सिद्धान्त है कि, पृथ्वी पर का चेतनामय पाञ्चभौतिक शरीर, तीन शरीरों को मिला कर बनता है—अन्नमय और प्राणमय कोषों को मिला कर स्थूल

१ स्वप्नों का एक गम्भीर शास्त्र ही है। "स्वप्न-निद्रा-ज्ञानऽालम्बनम् वा", यह योगसूत्र, इस शास्त्र का आधार है। संस्कृत मे स्वप्न के फल पर छोटे मोटे ग्रन्थ मिलते हैं; पुराणो मे भी, इधर उधर, अध्याय हैं; पच्छिम मे, इस विषय का एक वैज्ञानिक शास्त्र, जो वहाँ के लिये नया ही है, 'सैको-ऐनालिसिस' Psycho-analysis, के नाम से, बन गया है। मेरे अन्य हिन्दी अंग्रेजी ग्रन्थों में इस की विशेष चर्चा की गयी है।

शरीर, मनोमय और विज्ञानमय कोषों का सूक्ष्म शरीर, आनन्दमय कोष का कारण शरीर। स्वर्ग-नरक मे जीव, कारण शरीर से आविष्ट सूक्ष्म शरीर से ही 'स्वप्न' मे विचरता है और सुख-दुःख का अनुभव करता है, पुण्य-पाप के फलों का मानस भोग करता है। जो थोड़ा कर्म-शेष ऐसा होता है जिस का भोग स्थूल-शरीर से ही हो सकता है, उस को ले कर, तदनुरूप नये पार्थिव शरीर मे जन्म लेता है। बस, स्वप्न की उपमा ध्यान मे रखने से, और यह कि जैसी खुली या छिपी वासना वैसा सपना, परलोक-सम्बन्धी विविध मतों का समन्वय हो सकता है। अल्प-काल, दीर्घ-काल, अनन्त-काल, यह सब भी मन के भाव ही हैं। सुख का वर्ष, एक घड़ी बराबर; दुःख की घड़ी, एक वर्ष तुल्य।

एक बात और यहाँ कह देनी चाहिये। जैसे, रोज़ रोज़, रात मे चारपाई पर पड़ने के साथ ही नींद प्रायः नहीं आती; कुछ देर तक तंद्रा, निद्रालुता, की अवस्था मे, मन, दिन की जो बातें चित्त पर अधिक चढ़ी हों उन मे घूमता रहता है, वैसे ही, स्थूल शरीर से हटता हुआ जीव, यदि उस का 'प्राण' किन्ही दुनियावी लोभ लालचों, हिर्सों, वासनाओं मे अटका हुआ है, तो सचमुच ही प्राणमय कोष को पकड़े रहता है; अपने अन्नमय कोष के सूक्ष्म परमाणुओं को खींच कर, या दूसरे दुर्बल प्राण और चित्त शक्ति वालों, या दुर्व्यसनी शराबी मतवालों, या कसाईखानो, के परमाणुओं को अपनी घोर इच्छा के बल से खींच कर, अपने लिये धूआँ सा शरीर, कुछ देर के लिये, बना लेता है; और किन्हीं किन्हीं कोमल चित्तवाली स्त्रियों, बालकों, पुरुषों को देख पड़ जाता है; और जो मनुष्य, दुर्बुद्धि से, जान बूझ कर, अपनी दुनियावी हिर्सों के पूरा करने मे ऐसे प्रेतों से सहायता पाने की आशा से, उन का आवाहन करने का यत्न करते हैं, उन को वे बहुत सताते भी हैं। ये ही 'भूत-प्रेत' कहलाते हैं; और मसल मशहूर है कि 'जो जिन्न को साधते हैं, उन को जिन्न खा जाते हैं'। कुछ, थोड़े या अधिक, काल मे, (हिर्स की घनता के अनुसार), यह प्राणमय कोष क्षीण हो कर लुप्त हो जाता है; तब जीव, केवल सूक्ष्म शरीर से, प्रायः नरक का, अनुभव करता है। इस बीच की, 'तंद्रा' की सी, अवस्था को ही, भुवर्लोक का अधम अंश, अधम पितृलोक वा प्रेतलोक समझना चाहिये, जिस का द्वार नरक मे खुलता है। भुवर्लोक का उत्तम अंश,

ऊपर का स्तर, उत्तम पितृलोक है, जिस का द्वार स्वर्ग मे खुलता है। यदि प्रेत की शुभ वासना, (जैसी किसी म्रियमाण माता की तीव्र उत्कट वात्सल्य की, अपने छूटते हुए बच्चे के लिये), किसी प्रीतिपात्र से, शुद्ध प्रेम के बन्धनो से बँधी हो, तो वह 'प्रेत', 'प्र-इत, प्र-गत, परलोक-गत' जीव, ऊँचे पितृलोक मे भी, और फिर स्वर्ग मे भी, उस प्रीति-पात्र को 'स्वप्न' मे पावेगा और बड़े आनन्द का अनुभव करैगा, तथा अपने बलवान् शुभचिंतन से, उस पृथ्वी पर स्थित प्रेम के भाजन का भला भी कर सकैगा। श्राद्ध के वैदिक कर्मकांड का उद्देश्य यही है, कि ऐसे शुभचिन्तक पितरों मातरों से मानस सम्बन्ध स्थापित किया जाय; उन का आनन्द बढ़ाने के लिये, और अपने को उन का आशीर्वाद मिलने के लिये भी। पर, यदि याजक और यजमान का हृदय और आचरण शुद्ध नहीं है, तो घोर दुष्फल होने का सम्भव है, दुष्ट भूत-प्रेत का आकर्षण हो जा सकता है।

इस विषय की सूक्ष्म बातों का विस्तार तो सैकड़ों पृष्ठों की पुस्तक मे भी समाप्त नहीं हो सकता; थोड़े से ही बहुत को समझ लेना चाहिये। पर एक अन्य परम उपयोगी बात, इस सम्बन्ध की, यहाँ कह देना आवश्यक है।

अंत समय, नीचे के सब अंगो से हट कर, मस्तिष्क मे प्राण आता है, सब से पीछे मस्तिष्क को छोड़ता है; दस-बीस क्षणो मे ही, मस्तिष्क के असंख्य 'सेलस', कणो, कलल, cells, बिन्दुओं, पर अङ्कित, जीव के अनुभवों के चित्र, सभी, जीव की मानस, सूक्ष्म शरीर की, इन्द्रियों के सामने घूम जाते हैं; जैसे सिनेमा, cinema, के चित्रपट; और, उन मे से जिन्ही अनुभवों मे जीव का चित्त, राग और द्वेष के, स्नेह प्रीति और सर्व-जनीन दया आदि के, या व्यक्तिद्रोह लोकद्रोह के, भावों से, अधिक दृढ़ता से बँधा रहता है, उन्ही को अपनी अन्तिम स्मृति मे रख कर, प्रलय-मूर्छा मे जाता है, तब प्राण, मस्तिष्क को छोड़ता है; तभी शिर का मूर्धन्य भाग भी ठंडा पड़ जाता है। इस लिये, ऋषियों ने चेतावनी दी है—'जो बन्धु बान्धव, मित्र, अनुचर, परिचर, किसी के अन्त समय मे पास बैठे हों, उन को रोना पीटना, कोलाहल करना, बात पूछना करना, सर्वथा अनुचित है, शांत मन से, मन के भीतर ही, परलोक को सिधारते हुए जीव की शांति और सद्गति के

लिये प्रार्थना करैं, जिस मे उस के मस्तिष्क के कणो की चित्र-परम्परा के अवलोकन मे कोई विघ्न बाधा असमंजसता न होने पावै' । ऐसा चित्र मन के सामने, विद्युद्-वेग से, घूम जाता है, यह उन लोगों के अनुभव से प्रमाणित होता है, जो डूब चुकने के बाद, उपचारों से पुनः जी उठे हैं ।

शरीर से उत्क्रमण के समय के लिये, ईश-उपनिषत् मे मंत्र कहे हैं; ज्ञानवान् सावधान जीव को इन्हीं मंत्रों के आशय का ध्यान करते हुए शरीर छोड़ना चाहिये । ऊपर कहे, गीता के श्लोकों का भी यही आशय है ।

ॐ हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य अपिहितं मुखं ;
तत् त्वं, पूषन् ! अपावृणु, सत्यधर्माय दृष्टये ! ॐ

ॐ, पूषन् , एकर्षे, यम, सूर्य, प्राजापत्य !, व्यूह रश्मीन्, समूह तेजो; यत् ते रूपं कल्याणतमं, तत् ते पश्यामि । ॐ योऽसौ असौ पुरुषः सोहं अस्मि । वायुर् अनिलम् अमृतम् अथ इदं भस्मान्तं शरीरं ॐ । ॐ क्रतोः स्मर, कृतं स्मर, क्रतोः स्मर, कृतं स्मर ! ॐ

ॐ अग्ने ! नय सुपथा राये अस्मान्, विश्वानि, देव !, वयुनानि विद्वान्,
युयोधि अस्मज् जुहुराणं एनः, भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम । ॐ

'सत्य का मुख सोने के ढँकने से ढँका है, हे जगत् का पोषण करने वाले पूषन् ! परमात्मन् !, उस ढँकने को, लुभावने वाली अविद्या के आवरण को, आप हटा दीजिये, जिस मे मै सत्य धर्म को, सत्य को और उस पर प्रतिष्ठित धर्म को, देखूँ । हे पूषन् , परमर्षे, यम, सूर्य, प्रजापति !, अपनी ज्ञान-किरणों को, तेजस् को (मेरे हृदय मे वि-ऊही-कृत, सम्-ऊही-कृत) एकत्र व्यवस्थित कीजिये, जिस मे मै आप के तात्त्विक रूप को देख सकूँ, पहिचान सकूँ !; हे चित्त !, तू अपने क्रतुओं, अध्यवसायों व्यवसायों, को याद कर, अपने कृतों, किये हुए कर्मों, को याद कर !; हे अग्ने !, (अग्रं नयति, आगे ले चलने वाले), परमात्मन् !, आप सब वयुनो ज्ञानो के ज्ञाता हैं; हमारे चित्त से, कष्ट देने वाले उत्पाती पापात्मक भावों को, अपने तेजस् से, हटा दीजिये, और हम को अच्छे धर्म के मार्ग से, रैं, आत्म-ऋद्धि, तक पहुँचाइये !' (यह आध्यात्मिक अर्थ इन मंत्रों का है; आधिदैविक आधिभौतिक रहस्य अर्थ भी हैं ।

व्यक्तिधर्म-समाजधर्म-समन्वय ।

वैयक्तिक स्वार्थ और सामाजिक परार्थ का समन्वय करना अति आवश्यक है। अंग्रेज़ी शब्दों मे, 'इंडिविजुअलिज़्म' और 'सोशलिज़्म' का। इस जोड़ के दूसरे नाम यों कह सकते हैं, व्यक्तिवाद-समाजवाद (समष्टि-वाद), अहं-वाद-वयंवाद, प्रत्येकसत्तावाद-सर्वसत्तावाद, एकसत्तावाद संघसत्तावाद, विशेष-परिग्रहवाद-समानपरिग्रहवाद, प्रात्येकिकतावाद-सार्वस्विकतावाद, वैषम्यवाद-साम्य-वाद, पृथक्सत्तावाद-समूहसत्तावाद; इत्यादि । इस पर पहिले भी कुछ कह आये हैं। पश्चिम के देशों मे, इन पर बड़ी बहस चल रही है, और प्रश्न बड़ा जटिल समझा जाता है। मानव धर्म मे इस का उत्तर, इस ग्रन्थि का सुलझाव, सहज मे किया है। पहिले दो आश्रमो मे स्वार्थ की मात्रा कुछ अधिक रहे; पिछले दो आश्रमो मे परार्थ की मात्रा यहाँ तक बढ़ायी जाय, कि मनुष्य निष्परिग्रह हो जाय, निज की कुछ भी जायदाद, अपना माल्-मता, न रक्खे, 'ममता'-बुद्धि को ही छोड़ दे, अथ किं, 'अहन्ता'-बुद्धि को भी छोड़ दे, अपने शरीर को भी 'अहं, मम', कर के न समझे। इस से बढ़ कर और क्या 'कम्यूनिज़्म' 'कलेक्टिविज़्म' 'साम्यवाद' अथवा 'सर्वसमानसत्तावाद' हो सकता है? मोक्ष का अर्थ ही अहन्ता और ममता से मोक्ष, सब जगह सब मे एक ही परमात्मा को देखना। पर देखिये, इस के संबन्ध मे भी कैसी भयानक दुर्बुद्धि इस देश मे फैल रही है;

> अधर्मं धर्ममिति या मन्यते, तमसाऽऽवृता,
> सर्वार्थान् विपरीतांश्च, बुद्धिः सा, पार्थ !, तामसी । (गीता)

राष्ट्र-प्रबन्ध-तत्त्व-रहस्य ।

विविध प्रकार के राष्ट्र-प्रबंधों का समन्वय यह है कि, शौर्यशील, रक्षा-प्रसारक, शस्त्राभ्यासी, क्रिया-प्रधान जीव, 'क्षत्रिय', अधिकार के काम करें; और ज्ञान-प्रधान जीव, विद्यासंग्रही, शास्त्राभ्यासी, ज्ञानप्रचारक, 'ब्राह्मण'-हृदय और 'ब्राह्मण'-बुद्धि वाला जीव, उस का नियमन नियंत्रण करे। इच्छा-प्रधान जीव, द्रव्यसंचयशील, पात्रेदानशील, अन्नवस्त्रादि वितरणकर्त्ता, 'वैश्य'-प्रकृति वाला जीव, इन दोनो का, तथा 'शूद्रों' का भी, और अपना भी, भरण पोषण करे।

और अनुद्‌बुद्धबुद्धि, अव्यक्तगुण का, अर्थात् 'शूद्र'-प्रकृति का जीव, अन्य तीनो की सेवा सहायता करे।

ब्राह्मणैः क्षत्रबंधुर् हि द्वारपालो नियोजितः। (भागवत)

प्रजानां पालनाद्राजा विष्णोरंशः प्रकीर्त्तितः। (शुक्रनीति)।

'ब्राह्मण-कर्म वालों, अर्थात् ज्ञानोपजीवी, विद्याऽऽजीवी, शास्त्रऽध्यायी ने, क्षत्रियकर्म वाले अर्थात्, रक्षोपजीवी, शस्त्राऽऽजीवी, को, प्रजा का चौकीदार पहरुआ मुक़र्रर किया है। प्रजा का पालन करता है, इस से विष्णु का अंश राजा माना जाता है। तथा, प्रजा, उस को, कर के रूप से भृति, मजदूरी, काम का दाम, देती है, इस से प्रजा का दास भी राजा ही है।'

स्वभागभृत्या दास्यत्वे प्रजाभिस्तु नृपः कृतः। इत्यादि (शुक्रनीति)

उद्देश्य एक होता है; उस को साधने के उपाय विविध होते हैं; जो जिस देश-काल-अवस्था मे, सहज जान पड़े, उसी उपाय को काम मे लाना चाहिये। एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने के विविध मार्ग, स्थल, जल, आकाश के, होते हैं, और वाहन भी विविध होते हैं; एक रोग की चिकित्सा, एक स्वास्थ्य के लाभ, के उपाय, बहुत से होते हैं, वैद्यक, हकीमी, यूनानी, 'आलो-पैथी', 'होमियोपैथी', 'क्रोमोपैथी', 'इलेक्ट्रोपैथी', शीतोपचार, उष्णोपचार, 'हैड्रोपैथी', रसौषध, काष्ठौषध, इत्यादि; तत्रापि, प्रत्येक चिकित्सा-सम्प्रदाय के अंतर्गत, एक ही रोग के चिकित्सक-द्रव्यों, औषधों, प्रकारों मे, कई कई अनुकल्प, विकल्प, भी होते हैं; लक्ष्य सब का एक ही, स्वास्थ्य। वह मूल मुख्य लक्ष्य, उद्देश्य, साध्य, ही, समन्वय का हेतु होता है। ऐसे ही, जनता को अभ्युदय-निःश्रेयस सुख मिलै; और वह 'कर्मणा वर्णः, वयसा आश्रमः' की व्यवस्था से ही मिल सकता है, इस समाजव्यवस्था रूपी एक मात्र लक्ष्य के साधन के लिये, विविध उपाय, विविध शासन-पद्धतियों के अनेक रूपों मे, मनुष्यों ने आजमाये, परीक्षा किये, प्रयोग किये हैं, यथा ऐकराज्य, द्वैराज्य, वैराज्य, गणराज्य, संघराज्य, साम्राज्य, सार्व-भौम्य, आदि; जब एक मे, कुछ काल पाये, विकार आये, तब दूसरा किया।' पर, समन्वयकारी लक्ष्य सदा एक ही है; तथा, अन्य सब प्रकारों के बीज, प्रत्येक प्रकार मे वर्त्तमान है, कभी एक जोर पकड़ता है, कभी दूसरा।

विविध-इतिहास-प्रकार-समन्वय।

स्वार्थ-परार्थ, व्यक्तिधर्म-समाजधर्म, के सम्बंध मे, जिन हेतुओं से, पच्छिम मे, विचार के सागर पर घोर वात्या बह रही है, और बहुतेरे पोत्रों, वहित्रों, राष्ट्र-प्रबन्धों को डुबा देने वाली महोर्मियों को आकाश-पाताल से बातें करा रही है, उन्हीं हेतुओं से, 'इतिहास' के प्रकारों के विषय मे भी वहाँ बड़ा वाद-विवाद उठा है। थोड़े मे यों कह सकते हैं; (१) एक पक्ष, राजाओं के विजय-पराजय का वृत्तान्त अधिकतर लिखता रहा; यह पक्ष, अब से प्रायः ७५ वर्ष पूर्व तक (अर्थात् कोई १८७५ ई० तक), ज़ोर करता रहा; (२) दूसरा पक्ष, प्रायः १०० वर्ष से (१८५० ई० से), ज्ञान के, शास्त्रों के, धर्म (रिलिजन) के, कला-कौशलों के, काव्य-साहित्य के, वैज्ञानिक आविष्कारों के, दर्शनो के, ह्रास-विकास, आवर्त्त परिवर्त्त, के वर्णन पर बल लगाता रहा; इस का प्रभाव बढ़ता जा रहा है; (३) तीसरा पक्ष भी प्रायः सौ वर्ष से, मानव जातियों, राष्ट्रों, देशों के वर्णन को; आर्थिक जीवन के प्रकारों के परिवर्तनो के, वर्णन को; अर्थात्, कृषि, पशुपालन, वाणिज्य, वार्त्ता के लिये देश-विदेश भ्रमण, नौ-यान, समुद्र-तरण, वैज्ञानिक आविष्कारों के उपयोग के प्रचारण प्रसारण, के, वर्णन को; इतिहास-लेखक का विशेष कर्त्तव्य मानता है। पहिले प्रकार का ह्रास हो रहा है; दूसरे और तीसरे प्रकार वर्धमान हैं। भारतीय पुराने संस्कृत शब्दों मे, पहिला प्रकार, समाज के, राष्ट्र के, क्षत्रियाङ्ग का इतिहास है; दूसरा, ब्राह्मणाङ्ग का; तीसरा, वैश्याङ्ग का; शूद्राङ्ग, इन तीनो से सम्बद्ध, तीनो के अंतर्गत, है। अध्यात्म-शास्त्र की दृष्टि से, इन सब प्रकारों का समन्वय नितान्त सरल है; अपितु प्रत्यक्ष-सिद्ध है, अनिवार्य है; सभी अन्योऽन्यऽाश्रित हैं। ब्राह्मणाङ्ग, ज्ञानाङ्ग है; क्षत्रियाङ्ग, क्रियाङ्ग; वैश्याङ्ग, इच्छाङ्ग; तीनो का सम्बन्ध अविच्छेद्य है। सम्पूर्ण, सर्वाङ्गीण, इतिहास मे, इन तीनो के अवस्था-परिवर्तन का, संकोच-विकास का, पारस्परिक प्रभाव का, वर्णन होना ही चाहिये; जैसा भारतीय इतिहास-पुराण मे, प्राचीन रीति से, किया ही है। पर नये समय, नये युग, नई अवस्था मे, मानव-चित्त नई रीति भी चाहता है; सो वह भी

उत्पन्न हो ही रही है; पच्छिम मे 'सोशियोलाजिकल-ऐंथ्रोपोलाजिकल हिस्टरी आफ़ मैनकाइंड' के रूप मे, उक्त तीनो प्रकारों का, 'पोलिटिकल' 'कल्चरल' और 'इकोनामिक' 'हिस्टरियों' का, सम्मिश्रण और परस्पर सम्बन्धन किया जा रहा है। इसी से इन सब प्रकारों का समन्वय होता है। दूसरे शब्दों मे, पच्छिम मे, इस विषय को, दो प्रतिद्वन्द्वियों की, 'हेरोइक् स्कूल आफ़ हिस्टरी' और 'इवोल्यूशनरी स्कूल आफ़ हिस्टरी' की, बहस कहते हैं। पहिला दल कहता है कि वीरपुरुषों, महापुरुषों, 'हीरोज़', 'ग्रेट मेन', का चरित ही 'इतिहास' है, युद्धवीर, धर्मवीर, ज्ञानवीर, पुरुषों के अतिमानुष, लोकातीत, बुद्धिबल से, बाहु-पराक्रम से, महा-काम, महा-इच्छा, महा-करुणा, महा-सत्व, महा-प्राण से, अद्भुत कार्य, आश्चर्यमय आविष्कार, नये नये शास्त्रों के प्रवर्त्तन, नये नये देशों के विजय, होते हैं; जिन कार्यों, आविष्कारों, शास्त्रों से, वाणिज्यवार्त्ता का विस्तार और ऋद्धि समृद्धि की वृद्धि होती है, मानव जीवन का उत्कर्ष होता है, सभ्यता शिष्टता की प्रगति उन्नति होती है, वे ही स्मरण करने और 'इति-ह-आस' के ग्रन्थों मे लिख रखने के योग्य होते हैं; इत्यादि। दूसरे दल का, जो अब अधिकाधिक मान्य होता जा रहा है, कहना है कि ऐसे असाधारण पुरुष भी, मानव-सृष्टि के क्रम-विकास के प्राकृतिक नियमो से ही, उचित समय और अनुकूल अवस्था मे ही, कार्य कर सकते हैं; 'ईवोल्युशन', क्रमिक-विकास, के 'नियम', 'ला', मे ही ऐसी शक्ति है कि वह ऐसे पुरुषों को पैदा करती और अवसर देती है; यदि कोई विशिष्ट व्यक्ति न हो, या किसी कारण से अपना कार्य पूरा न कर सके, मर जाय, इत्यादि, तो वह विशिष्टता, वह शक्ति, किसी दूसरे योग्य व्यक्ति मे आविर्भूत हो कर कार्य समाप्त करेगी; इत्यादि।

इस समग्र विषय का, भीष्म पितामह के मुख से, व्यास जी ने, शांति पर्व के एक श्लोक मे संग्रह कर दिया है,

कालो हि कारणं राज्ञः, राजा वा कालकारणं,
इति ते संशयो मा भूत्; राजा वै कालकारणं।

'डज़ दि मैन मेक दि टैम, ऑर दि टैम मेक दि मैन', ये प्रसिद्ध अंग्रेज़ी शब्द, इस श्लोक के अनुवाद ही हैं। 'काल का, युग का, ज़माने का, (सत्य, त्रेता, आदि का) कारण राजा है, वा राजा का कारण काल है ?'। भीष्म का उत्तर है कि, 'काल

का कारण राजा है' । पर यह उत्तर, विशेष प्रसंग की विशेष दृष्टि से दिया गया। समस्त इतिहास-पुराण की आध्यात्मिक दृष्टि से, विवादी मतों का सम्वाद यों किया है कि, महाकालरूप सर्व-कलयिता सर्व-चालयिता सर्व उत्पादयिता परमात्मा की संकल्पनामय नियति से ही, विशेष विशेष अल्पकालरूप युग, क्रम से आवर्त्तन करते हैं, और उसी नियति से, विशेष विशेष विशिष्ट विशिष्ट जीव, कोई ज्ञानऽधिक, कोई वीर्यऽधिक, कोई ईहाऽधिक, उन उन युगों के प्रवर्तन के लिये, कलाऽवतार, अंशाऽवतार, के रूप मे, उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार से, यह निर्णय, सर्वसम्वादी, सर्वसमन्वयी, होता है, कि 'राजा' का कारण 'महा-काल' है, और 'अल्प-काल' का कारण राजा होता है।

भगवान् मनु ने भी यही आदेश किया है;

कृतं, त्रेतायुगं चैव, द्वापरं, कलिर् एव च,
राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि; राजा हि युगं उच्यते।
कलिः प्रसुप्तो भवति, स जाग्रद् द्वापरं युगं,
कर्मसु अभ्युद्यतः त्रेता, विचरंस्तु कृतं युगं।

(मनु, ९. ३०१-३०२)

'कृत, त्रेता, द्वापर, कलि—ये सब युग राजा के आचरण से ही होते हैं। राजा ही युग कहलाता है; जैसा राजा वैसा युग; जब राजा ऐश मे डूबा है, दुराचार है, धर्म से ग़ाफ़िल, अनवधान है, मानो सो रहा है, तब कलि का राज है; जब कुछ कुछ, कभी कभी, जागता है और प्रजा की फ़िक्र करने लगता है, तब द्वा-पर (जिसमे द्व', दोनो, धर्म और अधर्म, तुल्य हो कर लड़ते हैं, जैसे द्वापर के अन्त मे महाभारत के युद्ध मे); जब अपना धर्म-कर्म करने मे उद्यत, मुस्तैद, सन्नद्ध, रहता है, तब त्रेता; जब, राष्ट्र मे, चारो ओर, घूम घूम कर, प्रजा का और राजभृत्यों, सरकारी नौकरों, का निरीक्षण परीक्षण करता रहता है, तब सत्ययुग का राज्य होता है।'

मनु के इस आदेश की पूर्ति भी वैसे ही करनी चाहिये जैसे भीष्म के वाक्य की।

इतिहास-भेदों का एक और समन्वय।

जैसे असंख्य मनुष्यों मे, प्रत्येक की जीवनी, विशेष विशेष अंशों मे, अन्य सभों की जीवनियों से भिन्न होती है, और सामान्य अंशों मे समान और अभिन्न होती है, वैसी ही दशा, असंख्य जातियां, कौमो, नेशनो (nations) राष्ट्रों के इतिहास की है।

'जायते, वर्धते, विवहते, प्रजायते, तिष्ठते, क्षीयते, म्रियते'; पैदा होता है, बढ़ता है, विवाह करता है (दूसरी जातियों से सम्बन्ध जोड़ता है), प्रजा उत्पन्न करता है, (नये उपनिवेश बसाता है), कुछ काल तक स्थिर रहता है, घटने लगता है, मर जाता है'; यह साँचा ढाँचा सब पर लागू है, सर्व-व्यापी, सर्व-समान है, समदर्शिता की नीव है। हाँ, सभी उत्सर्गों नियमों के अपवाद होते ही हैं; कोई जल्दी ही मर जाते हैं, 'अकाल-मृत्यु' पाते हैं; कोई निर्धन, निर्वीर्य, निस्सन्तान होते हैं; कोई बहुत दीर्घजीवी, बहुसमृद्ध, बहुप्रज होते हैं; इत्यादि; विशेष हेतुओं से, जिन से साधारण नियम का नाश नहीं होता।

चीन देश मे, ईरान देश मे भी, कहानी कही जाती है; पचास वर्ष की उमर मे एक बादशाह को इच्छा हुई कि मानव जाति का इतिहास जानैं। विद्वानो हकीमो, उलमा, पंडितों की सभा की गई। आज्ञा हुई, 'आरंभ से, मानव जाति की उत्पत्ति से, मानववंश का इतिहास लिखिये'। बीस वर्ष बीत गये; बादशाह को इतिहास की याद आई। 'मौलवियों को बुलाओ'। 'हुजूर, जो हुकम'। दीवानि-आम की बड़ी खिरकी में से, तख्त पर बैठे बादशाह ने देखा कि चौड़ी सड़क पर ऊँटों की कतार चली आ रही है। पूछा, 'क्या है?'; 'जहाँ-पनाह, शाहनशाह, धर्मावतार, बहुनृपति-मुकुटरंजित-पादनख! वही हकीम लोग, क़ौमि-इन्सान, नस्लि-बनी-आदम, औलादि-आदम-व-हौवा, मनु-शतरूपा की प्रजा, की तवारीख लिख कर, शुतुरों पर लाद कर ला रहे हैं'; 'कितनी जिल्दैं हैं?'; 'पचीस हजार'; 'कौन पढ़ सकता है! हुकमा के पेशवा को बुलाओ'। आये; 'जनाब, इख्तिसार कीजिये, संक्षेप से लिखिये'; 'बहुत अच्छा'। पंद्रह बरस और बीते। दस ऊँटों (उष्ट्रों, 'उशतरों', 'शुतुरों) पर, बड़ी बड़ी पाँच सौ जिल्दैं

आई । बादशाह का पचासीवाँ बरस था, करीबुल्मर्ग, मरणामन्न, थे, पलंग, (पर्यंक, पल्यंक, पालकी) पर पड़े थे, बोले, 'क्या मै पाँच सौ जिल्दें पढ़ सकता हूँ ! बहुत मुख्तसर जबानी कहो !'; 'हुजूर !, खुदा की कुद्रत से, हर जमाने मे, हर जमीन पर, इन्सान पैदा होते रहे हैं, जीते रहे हैं, खाते, पीते, जागते, सोते, मैला करते, नहाते, धोते, औलाद पैदा करते, मुहब्बत दुश्मनी करते, लड़ते मिलते, रहे हैं, हजार किस्म के लुत्फ़ भी दर्द भी महसूस करते रहे हैं, और मर जाते रहे हैं; यही सारी तवारीख का लुब्बिलबाब है, सार है ।' बादशाह ने सुना, मुस्किराये, और आँखें हमेशा के लिये बन्द कर लीं ।

बंध और मोक्ष का समन्वय ।

भागवत में ही लिखा है कि, जो परम अर्थ मोक्ष है, उसी को लोगों ने भ्रम से स्वार्थ कर डाला है । 'मै बच जाऊँ' 'मेरा' मोक्ष हो, अन्य किसी का छुटकारा चाहे हो या न हो, अथवा यदि औरों का न हो तो अच्छा ही है !; परम अभेद-बुद्धि-रूप मोक्ष को भी भेद-भाव-पूर्ण कर दिया है !; अहन्ता के नाश को भी तीव्रतम अहन्ता का विषय बना डाला है !; प्रह्लाद की उक्ति है, भगवान् के प्रति,

प्रायेण, देव !, मुनयः, स्वविमुक्तिकामाः,
स्वऽर्थं चरन्ति विजने, न परऽर्थनिष्ठाः;
न एतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्षे, एको;
नान्यं त्वद्, अस्य शरणं, भ्रमतो, ऽनुपश्ये ।

'हे देव !, प्रायेण मुनि 'अपनी' ही मुक्ति चाहते हैं, और अकेले मे बैठ के 'अपनी' ही फिक्र करते हैं ; औरों की नहीं । मै, संसार के अंधकार मे भटकते हुए इन कृपण दीन जनो को छोड़ कर, अकेले अपनी मुक्ति नहीं चाहता हूँ ; और इस भ्रमते हुए संसार से शरण देने वाले, सिवाय आप के, किसी दूसरे को नहीं देखता हूँ ।' 'अपनी' मुक्ति—यह वाक्य, यह विचार, यह भाव ही, स्वतो व्याहत है । 'अपनापन' छोड़ने ही का तो नाम मुक्ति है ।

इस प्रकार से "कुरु कर्म, त्यज इति च" का समन्वय आर्यधर्म मे किया है । ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य मे "कुरु कर्म", अर्थात् अभ्युदय-रूप धर्म-अर्थ-काम खोजिये,

उचित स्वार्थ साधिये, 'अन्य-अद्रोहेण', दूसरों का सरीही नुक़सान न कर के, क़ानून की मर्यादा की हद के भीतर रह के। वानप्रस्थ और संन्यास मे निःश्रेयस-रूप मोक्ष साधिये, "त्यज" के द्वारा, परार्थसाधन के द्वारा।

यतो यतो निवर्त्तते, ततस्ततो विमुच्यते;
निवर्त्तनाद्धि सर्वतो, न वेत्ति दुःखं अणु अपि।
अर्थस्य मूलं, निकृतिः, क्षमा च; कामस्य, रूपं च, वयो, वपुश्च,
धर्मस्य, यागादि, दया, दमश्च; मोक्षस्य चैव उपरमः क्रियाभ्यः।

(संक्षेप-शारीरक)

'जिधर जिधर से हटेगा, उधर उधर से मुक्त होगा; सब ओर से हट जाय तो सब दुखों से छूट जाय। अर्थ-सम्पत्ति का मूल, नीचा काम करना, और रूखी बात बर्दाश्त करना। काम-भोग का साधन, यौवन, और बलवान् और सुन्दर रूप-वान् शरीर। धर्म का साधन, इन्द्रिय-दमन, दया, और यज्ञ। मोक्ष का एकमात्र साधन, सब वस्तुओं का, सब क्रियाओं का, त्याग।'

बिना 'स्वार्थ' के मनुष्य-व्यक्ति जी ही नहीं सकता है। बिना परार्थ के मनुष्य-समाज एक क्षण भी ठहर नहीं सकता है। युवा जीवों मे स्वार्थ की मात्रा किंचित् अधिक हो, और वृद्धजन मे परार्थ की मात्रा अच्छी बढ़ी हो, तो दोनो बात, मनुष्य समुदाय मे, सिद्ध हो सकती है; 'इंडिविजुअलिज्म' के भी गुण हासिल होंगे, और 'सोशलिज्म के' भी; रजोगुण भी अपना काम करेगा, और सत्त्वगुण भी; तथा दोनो एक दूसरे से, तमोगुण द्वारा, संसृष्ट रहेंगे। "तदेव बुद्धिसत्त्वं, रजोमात्रयाऽनुविद्धं, धर्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्योपगं भवति" (योगभाष्य) 'बुद्धि का जो सात्त्विक अर्थात् ज्ञान का अंश है, उस मे रजस् अर्थात् क्रिया का थोड़ा अंश मिला रहे, तो जीव की रुचि, धर्म, ज्ञान, वैराग्य, और ऐश्वर्य की ओर होती है'। यह बात नैसर्गिक भी है, प्रकृति के अनुकूल भी है, कि युवाजन, वृद्धों के माथे खेलें, खायँ, खुश रहें, और वृद्ध उन की फ़िक्र करें। यदि ऐसा न हो तो नयी पुश्त जी न सके। पुरानी पुश्त यदि सर्वथा स्वार्थी हो जाय, और नयी पुश्त की फिक्र न करे, तो मानववंश का तत्काल उच्छेद हो जाय। "वृद्धस्तावच्चिंतामग्नः" ; हाँ, 'परहितचिंतामग्नः,' 'ब्रह्म-

चिंतामग्नः', होना चाहिये; 'स्वार्थचिंतामग्नः' नहीं। सब से सरल समन्वय, स्वार्थ और परार्थ का, व्यक्ति के अर्थ का, और समष्टि, समाज, के अर्थ का, यों कीजिये; 'स्व' का अर्थ 'मैं' भी और 'हम' भी; प्रत्येक मनुष्य, प्रतिक्षण, इन दोनो शब्दों का प्रयोग करता है; यथा 'मैं' राम, कृष्ण, आदि, और 'हम' काशीवासी, 'हम' भारतवासी, 'हम' मुसलमान, 'हम' हिन्दू, 'हम' ईसाई, 'हम' अंग्रेज, 'हम' जर्मन, 'हम' रूसी, 'हम' अरब, 'हम' तुर्क, 'हम' चीनी, 'हम' जापानी इत्यादि; 'मैं' के बिना 'हम' नहीं, 'हम' के बिना 'मैं' नहीं; व्यक्ति के बिना समाज नहीं, समाज के बिना व्यक्ति नहीं। स्वार्थ-परार्थ, परस्पर अभेद्य सम्बन्ध से बँधे हैं। पुनरपि, "वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः"। 'मैं' की मात्रा अधिक होने से स्वार्थ; 'हम' की मात्रा अधिक होने से परार्थ। पहिली उमर मे वह, पिछली उमर में यह। पश्चिम मे, यूरोप के प्रांतों मे, समाजशास्त्र पर विचार करने वालों मे, दो पक्ष हो रहे हैं; एक पक्ष का मत यह है कि, प्रत्येक मनुष्य को पूरा अवसर देना चाहिये, कि वह अपनी शक्तियों का यथेष्ट प्रयोग कर के, जहाँ तक उस से बन पड़े लाभ उठावै, क्योंकि ऐसे व्यक्तियों के 'संघर्ष' से, 'काम्पिटिशन', प्रति-स्पर्धा से, ही, नये-नये यत्न किये जायँगे, नई नई खोजैं होंगी, नये नये आविष्कार होंगे, मानवशक्ति बढ़ैगी। ये लोग 'इंडिविजुअलिस्ट', 'व्यक्तिवादी', कहलाते हैं। दूसरे पक्ष का मत है, कि किसी को अपने निज के लाभ के लिये काम करने देना ही न चाहिये; सब संपत्ति समाज की ही हो, और सब काम समाज के नाम से, समाज के लिये ही, सब आदमी करें; और समाज की ओर से सब को अन्न वस्त्र आदि, आवश्यकीय, निकामीय, विलासीय, वस्तुएँ मिलैं। ये लोग 'सोशलिस्ट', 'समाजवादी', कहलाते हैं। 'साम्यवादी' 'अराजवादी', 'श्रेणीवादी', आदि इन्हीं के अवांतर भेद हैं। ये दोनो ही पक्ष 'अत्यन्तवादी', 'अतिवादी', 'एक्स्ट्रीमिस्ट' हैं, मनुष्य-प्रकृति के विरुद्ध हैं, इस लिये अव्यवहार्य हैं। निजी सम्पत्ति, परिग्रह, 'प्रापर्टी,' किसी व्यक्ति के पास न रहे, इस का तो अर्थ यही है कि 'ममता' न रहे, और अत एव, द्वितीय क्षण मे, अथवा साथ ही साथ, 'अहंता' भी न रहे, कुल-कुटुम्ब, दारा, पुत्र, स्वशरीर भी, न रहैं। यह बात प्रवृत्तिमार्ग पर सर्वथा असंभव है। इस काष्ठा का, इस हद तक, जब

व्यक्तित्व का नाश होगा, तब, साथ ही, समाजत्व का भी नाश हो जायगा। एवं, यदि व्यक्तित्व को, 'अहं'-भाव को, अत्यन्त बढ़ाया जाय, और 'वयं'-भाव को अत्यन्त दबाया जाय, तो भी वही दुष्फल होगा। दोनों को, उपर्युक्त प्रकार से, मर्यादा, सीमा, बांध कर, दोनों का समन्वय करने से ही, 'मध्यवाद' का ग्रहण करने से ही, मनुष्यमात्र का कल्याण होगा। ऐसी ऐकपाक्षिक, अनन्या-स्मवित्; अत एव प्रतिपद विशीर्यमाण, 'अर्वाचीन' दृष्टियों और 'स्मृतियों' की चर्चा, आगे फिर भी की जायगी।

प्रकृति-विकृति-संस्कृति।

इस सब का निष्कर्ष यही है कि प्राकृतिक वस्तुस्थिति को, स्वाभाविक नियमों और कार्य-कारण-सम्बन्धों को, ले कर, मनुष्य के वैयक्तिक और सामाजिक, ऐहलौकिक और पारलौकिक, जीवन के लिये, तथा मोक्ष के लिये, नियमबद्ध, मर्यादित, कर देना, प्रकृति के विकृतियों की संस्कृति कर देना, नैसर्गिक भावों का संस्कार परिष्कार कर देना—इतना ही काम सनातन-आर्य-वैदिक-मानव-बौद्ध धर्म का है। इसी से यह सर्वसंग्राहक है, किसी का भी अत्यन्त विरोधी नहीं। 'यह ही'—ऐसा कभी नहीं कहता; 'यह भी'—ऐसा ही कहता है; पक्ष में भी इतना अंश ठीक है, प्रतिपक्ष मे भी इतना अंश ठीक है। मैले के लिये भी 'खाद' रूपेण खेत मे परमोपयोगी स्थान है; वह भी पौधो का 'खाद्य' है। सर्वव्यापी परमात्मा किसी का अत्यन्त विरोधी नहीं हो सकता; प्रत्युत सब का अनुरोधी, पोषक, है।

विष्टभ्यऽहं इदं कृत्स्नं एकांशेन स्थितो जगत्। (गीता)

'मै' ही तो इस सारे जगत् को, जगद्-अन्तर्वर्त्ती समस्त विरुद्ध भावों को, अपने एक अंश से, ध्यान के, संकल्प के, अवधारण के, बल से, धारे हूँ (हूँ)।' यही विवेक, यही लोच, यही लचीलापन, यही विवेकपूर्वक संकोचविकासशीलता, यही विभुता, यही व्यापकता, इस धर्म की प्रबलता का मुख्य कारण भी, और मुख्य लक्षण भी, है। काल के प्रवाह से, युगपरिवर्तन से, मनुष्य-समाज मे रागद्वेषादि से प्रयुक्त दुर्भावों की वृद्धि से, स्वयं धर्माधिकारियों और ज्ञानप्रवर्तकों

मे स्वार्थांधता, अधर्म, और अज्ञान की वृद्धि और तपोबल की हानि से, जितना ही इस विवेक और इस लोच के भाव का ह्रास हुआ, उतना ही इस धर्म का बल क्षीण होता, और फैलाव और घेरा घटता, गया है ।

'मानवधर्म्म' शब्द का अर्थ ।

इस धर्म का नाम मानवधर्म है— इस लिये कि मानव मात्र इस के अन्दर आ सकते हैं, क्या, हैं ही । यदि इस के रक्षकों को सद्बुद्धि होती, तो आज, जो मजहबी झगड़े इस देश को हजार बारह सौ वर्ष से अस्त-व्यस्त कर रहे हैं, वे न होते, और "आ सेतोः आ हिमाद्रेश्च" एक यह मानवधर्म ही विराजमान होता । मनु का आदेश है,

> एतद्देशप्रसूतस्य सकाशाद् अग्रजन्मनः
> स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्, पृथिव्यां सर्वमानवाः ।
> ब्राह्मणः, क्षत्रियो, वैश्यः, त्रयो वर्णाः द्विजातयः;
> चतुर्थः एकजातिस्तु शूद्रो; नास्ति तु पञ्चमः ।

'मनुष्यमात्र, सब देश, सब जाति, के, चार ही राशि मे, अपने स्वभाव-प्रभूत गुण-कर्म के अनुसार, विभक्त होते हैं; इन मे तीन, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, द्विज हैं; इन का पहिला जन्म माता से दूसरा जन्म आत्म-विश्वास से, होता है; चौथा, शूद्र, एक-ज होता है, जिस को आत्म-ज्ञान न हो; पांचवें प्रकार का मनुष्य कहीं नहीं है । उन सब को, भारतवर्षीय अग्रजन्मा, तपस्वी, विद्वान्, अध्यात्मवित्, अतः ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, अग्रऽासनऽर्ह, मनुष्य धर्मोपदेश करे ।'

सो, दूरदेशवर्तियों के उपदेश की कथा तो दूर रही, समीपवर्ती ही रोज़ रोज़ 'जात बाहर' किये जा रहे हैं, दूसरों को जहाँ अपनाना चाहिये वहाँ अपने हटाये जा रहे है । यहाँ तक दुर्बुद्धि, क्षुद्रता, दंभ, लोभांधता, और क्रूरता बढ़ गई है, कि, बलात्कारेण दूसरे धर्मों के चिन्ह पहिराये हुए आदमियों को, अपने ही भाइयों को, ये लोग 'शुद्ध' कर के अपने में वापस लेने से इनकार करते रहे हैं । यदि ये लोग चातुर्वर्ण्य का मर्म समझते होते, तो जिस किसी का स्पर्श, भारतवर्ष से, अथवा भारतवर्षीय से, होता, वही चातुर्वर्ण्य के अन्तर्गत किसी न किसी वर्ण

मे शामिल हो जाता, जैसा बौद्ध काल के अन्त तक होता रहा। जैसे पंजाबी, बंगाली, गुजराती, महाराष्ट्रीय, आदि, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, होते हैं, वैसे ही ईरानी, अरबी, तुर्की, जर्मन, फ्रेंच, रूसी, अंग्रेजी, चीनी, जापानी, बर्मी, आदि भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, बना लिए गये होते। जैसे उपासना के अवान्तर भेदों मे सैकड़ों शैव, शाक्त, वैष्णव, स्मार्त आदि भेद हैं, वैसे ही अल्लापंथ, ईसापंथ, यहोवापंथ, आदि भी होते—और सब ही परमात्मोपासना के प्रकार मात्र समझे जाते।

अपना दोष।

यह मानवधर्म तो ऐसा संग्राहक है कि, जहाँ पश्चिमवालों की परार्थ-बुद्धि बहुत उड़ान उड़ कर भी, भ्रातृभाव, brotherhood, 'ब्रदरहुड', ही तक पहुँची, वहाँ इस ने सब वर्णों के मनुष्यों मे अङ्गाङ्गिभाव सिद्ध किया। भाई भाई तो भी अलग होते है; पर मुख, बाहु, ऊरू, पाद—ये तो अलग हो ही नहीं सकते। किन्तु हमारे दुर्भाग्य ने, हमारे आन्तर तमस् ने, हमारी बुद्धि पर आवरण डाल दिया है, और उस को ऐसा विक्षिप्त कर दिया है कि हम दिन को रात और रात को दिन समझने लगे हैं। जहाँ परस्पर अंगों मे घनिष्ठ प्रेम, स्नेह, परस्पर सेवा सहायता होना चाहिये, वहाँ परस्पर अहंकार, तिरस्कार, ईर्ष्या, द्रोह, छल, कपट, छूत, अछूत, आदि का व्यवहार होता है। इसी के कारण हमारी भारी दुर्दशा हो रही है। महा भ्रांति से, हम नित्य शिकायत करते हैं, कि दूसरे देश के, दूसरे धर्म के, लोग हमारी यह दुर्दशा कर रहे हैं; असल मे यह सब दुर्दशा अपनी हम आप ही कर रहे हैं। जब दूसरों की बुराई करने को जी चाहे तब अपना मुँह स्वयं आइने मे देखना चाहिये।

राजन् !, सर्षपमात्राणि परछिद्राणि पश्यसि;
आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यसि। (म. भा.)
सुलभाः पुरुषाः, राजन् !, सततं प्रियवादिनः;
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता, श्रोता च, दुर्लभः (रामायण)

विदुर ने धृतराष्ट्र से कहा है, 'हे राजा !, दूसरों के सरसों बराबर छेद बड़ी बारीक निगाह से देखते हो; पर बेल के बराबर भी अपने छेद देख कर भी

नहीं देखते हो' । विभीषण ने रावण से कहा है, 'हे राजा !, सदा मीठा बोलने वाले चापलूस खुशामदी बहुत मिलते हैं, दवा के ऐसी कड़ुई पर हितकारी बात बोलने वाले भी और सुनने वाले भी कम मिलते हैं' । यदि हम वर्णाश्रम धर्म का मर्म समझते, और उस का पालन, पोषण, रक्षण, करते, तो स्यात् ईश्वर दूसरे धर्मों को उत्पन्न ही न करता, और उन धर्मों को, दंड के द्वारा हमारा शिक्षण शोधन करने को, इस देश मे न भेजता ।

मानवधर्म के दूसरे नाम । नाम-समन्वय ।

इस धर्म के अन्य नामो पर भी विचार कीजिये ।

इस को 'आर्य धर्म' भी कहते हैं । 'आर्य' शब्द का अर्थ है, ऋजुबुद्धि का, सत्यबुद्धि का, मनुष्य, तथा कृषिजीवी भी, और आत्मवशी । "अर्यः स्वामिवैश्ययोः" (पाणिनि); स्वामी, मालिक, को, और वैश्य को, 'अर्य' कहते हैं । 'अर्यः एव आर्यः; ऋ गतौ'; ऋ-धातु का अर्थ गमन है ।

निवारणार्थं अर्त्तीनां, अर्यते सततं तु यः,
आर्तैः; त्राणे समर्थश्च; सः आर्यः इति कथ्यते ।

'आर्त, दुखी, लोग अपनी अर्त्ति पीड़ा के निवारण के लिये, जिस के पास सदा जाते हों, जो उन की सहायता करने मे समर्थ हो, और उन का त्राण करता हो—ऐसे को आर्य कहते हैं' । ऐसे मनुष्यों का निश्चय किया और धारण किया हुआ धर्म आर्य-धर्म है ।

इसी का एक अभिधान 'वैदिक धर्म' भी है । 'वेदयतीति वेदः' । कार्यों और कारणो के सम्बन्ध को बताने वाले सच्चे ज्ञान का नाम 'वेद' है । 'अनन्ता वै वेदाः' यह तैत्तिरीय श्रुति है । इस विस्तृत अर्थ मे, (विद् धातु से निकली हुई) जितनी सच्ची विद्या हैं, सभी वेद की अंगोपांग हैं, उस के शरीर की अंश अवयव हैं, उस से पृथक् नही हैं; सभी सच्चे 'सायंस' उस मे शामिल हैं । जब 'सायंस' और शास्त्र की तथ्य बातें पुरुष की, मनुष्य की, रची नही हैं, तो प्रत्यक्ष ही वे अपौरुषेय हैं । दो और दो मिल के चार होता है, यह बात स्पष्ट ही पुरुष-कृत नहीं है, पुरुष-दृष्ट मात्र है ।

आर्षं धर्मोपदेशं तु, वेदशास्त्राऽविरोधिना,
यः तर्केणाऽनुसंधत्ते, स धर्मं वेद, न इतरः। (मनु)
हेतुभिर् धर्मं अन्विच्छेत्, न लोकं विरसं चरेत्। (म. भा, शांति.)

'वेद-शास्त्र अर्थात् वेदान्त, अध्यात्मशास्त्र, परम प्रत्यक्ष, प्रतिक्षण प्रत्यक्ष, अहं-तत्त्व, आत्मतत्त्व, के ऊपर प्रतिष्ठित है'। "नहि कश्चित् संदिग्धेऽहं वा नाऽहं वा" (भामती) 'यह सन्देह कोई नहीं करता कि मैं हूँ या नहीं हूँ ?' इस परम प्रत्यक्ष 'अहं' का न कभी अपलाप हुआ, न होता है, न होगा। सो, 'ऐसे दृढ़मूल अध्यात्मशास्त्र के अनुकूल तर्क से, ऋषियों के कहे हुए धर्मों के हेतुओं का अनुसंधान, जो करता है, बिना हेतु को समझे काम नहीं करता, केवल ऋषि, ऋषि, शास्त्र, शास्त्र, वेद, वेद पुकारता ही नहीं, वही तो धर्म को जानता है; दूसरे लोग धर्म को नहीं जानते।'

ऐसे हेतुयुक्त, कार्यकारणपरम्परासूत्र से सूत्रित, सम्बद्ध, सुव्यूढ़, ज्ञान को, पश्चिम देश में 'सायंस' कहते हैं। यहाँ उस का व्यापक नाम 'वेद' है, विद्या भी, शास्त्र भी। पहिले कह आये हैं,

यदा भूतपृथग्भावं एकस्थं अनुपश्यति,
तत एव च विस्तारं, ब्रह्म संपद्यते तदा। (गीता)

'एक परमात्मा में सब भूतों को प्रतिष्ठित, तथा सब भूतों का उसी एक से विस्तार, जब मनुष्य पहिचान लेता है, तभी उस का ब्रह्म, वेद, ज्ञान, सम्पन्न होता है, और वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है'। पश्चिम के शब्दों में, पहिले अंश को यथा कथञ्चित्, 'मेटाफिज़िक', और दूसरे को 'सायंस', कहते हैं। पर दोनों ही 'सायंस' कहे जायं तो भी उचित है।

जो एक विशेष शब्द-समूह को, विशेष रूप से, ऋग्वेद, यजुर्वेद, आदि विशेष विशेष नाम से, पुकारते हैं, यह विशेष कथा है। सामान्य नाम 'वेद' के अन्तर्गत ये विशेष नाम हैं। तो, अब, ऐसे 'सायंस', ऐसे 'वेद', के मूल तत्त्वों को ले कर; ऐसे कारण से ऐसा कार्य होता है, ऐसे आचरण से ऐसा फल, सुखात्मक अथवा दुःखात्मक, दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष शारीर आदि, अथवा अदृष्ट बौद्ध संस्कार आदि, होता है; इन तथ्यों को ध्यान में रख कर, देश-काल-निमित्त के अनुसार, यह मानव

धर्म चलता है, और सब प्राणियों का 'धारण' करता है, 'धारणाद् धर्मः'; इस लिये इस को 'वैदिक धर्म', 'सायंटिफिक् रिलिजन्', भी कहते हैं।

इस को 'बौद्ध-धर्म' भी कहते हैं, क्यों कि इस के सब नियम, सब शास्त्र, सात्विक 'बुद्धि' के अनुसार बनाये गये हैं, और इस मे सब संशयों के निर्णय के लिये, 'शास्त्र' शब्द पर अन्धविश्वास से नहीं, किन्तु इसी सात्विकबुद्धि से, काम लिया जाता है।

बुद्धौ शरणम् अन्विच्छ, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च, कार्यंऽकार्ये, भयऽभये,
बंधं मोक्षं च या वेत्ति, बुद्धिः सा, पार्थ !, सात्विकी। (गीता)

कृष्ण का गीता मे परमोपदेश है कि, सात्विक बुद्धि की शरण लो, बुद्धि के नाश से मनुष्य का नाश हो जाता है। सो आज काल यह तामस दुर्बुद्धि फैली है कि, संस्कृत पढ़े लोग भी कह देते हैं कि, 'धर्म मे बुद्धि को स्थान नहीं', 'जो पोथी मे लिखा है वही धर्म है, और वह बदल नहीं सकता', इत्यादि। साथ ही इस के, अपने मतलब के समय पर यह भी 'पुराण'-श्लोक, कलिवर्ज्य प्रकरण का, पढ़ दिया करते हैं।

एतानि, लोकगुप्त्यर्थं, कलेः आदौ, महात्मभिः,
निवर्तितानि विद्वद्भिः, व्यवस्थापूर्वकं, बुधैः।

'कलियुग के आरम्भ मे, लोक के हित के लिये, विद्वान्, बुध, बुद्धिमान् महात्माओं ने, इन इन आचारों को बंद कर दिया, उन का निवर्त्तन कर दिया'। क्यों, भाई !, कलियुग के आदि मे, पुराने, शास्त्र मे उक्त, धर्मों का, बुद्धिमान् महात्माओं ने निवर्त्तन, और शास्त्र मे अनुक्त नये धर्मों का प्रवर्तन, बुद्धि के बल से किया तो, आज ऐसा क्यों नहीं हो सकता ? केवल 'शास्त्र' पुकारने वाले ना-समझों, अथवा स्वार्थी मतलबियों, के बुद्धिद्वेष और स्वतो-व्याहत वाक्यों की दशा यह है !

इस को 'सनातन-धर्म' इस लिये कहते हैं कि जो एक ही वस्तु सनातन है अर्थात् 'आत्मा, परमात्मा, 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः अचलोऽयं सनातनः', (गीता), उसी पर, उसी के ज्ञान की नीव पर, यह धर्म खड़ा किया गया है, और प्रतिष्ठित है, इस लिये स्वयं मुख्य-मुख्य अंश मे सनातनवत् स्थिर है। कच्ची बुनियाद

के दूसरे धर्म, रोज उठते, रोज गिरते, रहते हैं, जो आत्मज्ञान, मानवप्रकृति के ज्ञान, को ले कर नहीं चलते। 'मुख्य अंश' याद रखना चाहिये। घर की नीव, दीवार, खंभे, छत, नहीं बदलेंगे, पर बर्तन, बिछौना, पीढ़ा, चौकी, मेज़, कुर्सी, आदि सामग्री, स्थिर नहीं है; वह तो रोज बदलती ही रहैगी; उस को भी सनातन करने का यत्न करना बड़ी भूल है।

इस को 'इस्लाम'-धर्म, फारसी अरबी के शब्द मे, भी कह सकते हैं; क्योंकि अल्ला की वहदत को, परमात्मा की एकता को, यह नितरां 'तस्लीम' करता है, स्वीकार करता है, मानता है, और सब जीवों, की, संसार मात्र की, 'सल्म' 'सलामत', शान्ति, भलाई, चाहता है।

इस को ग्रीक और अंग्रेजी भाषा के शब्द मे 'क्रिस्टियानिटी' भी कह सकते हैं, क्योंकि 'क्रिस्टास्' शब्द का अर्थ 'अभिषिक्त', 'स्नात' है। 'बप्तिस्मा' का एक अर्थ जलसिंचन, सींचना, अभिषेक, है। पर अस्ल अर्थ यह है कि जब तक आत्मज्ञान के जल से जीव का सिंचन नहीं होता, जब तक वह आत्माऽनुभव मे नितरां स्नात, निष्णात, नहीं होता, तब तक वह सच्चा 'क्रिसच्चियन', 'क्रिस्टास्', 'क्राइस्टास्', सच्चा 'द्विजन्मा', 'रि-जेनरेट', re-generate, नहीं होता।

न ह्यनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते।
या वेदबाह्याः स्मृतयः, याश्च काश्च कुदृष्टयः,
सर्वास्ताः निष्फलाः प्रेत्य, तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः।
उत्पद्यंते च्यवंते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्;
तानि अर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च। (मनु)

'जो अध्यात्म को नहीं जानता वह सच्ची उचित क्रिया नहीं कर सकता, और सच्चे उत्तम फल को नहीं पा सकता। वेद से बाह्य, अध्यात्म शास्त्र के विपरीत, स्मृतियाँ और दृष्टियाँ, क़ायदे, कानून, दर्शन, जो हैं, वे सब अनृत, मिथ्या, झूठे, निष्फल दुष्फल हैं; बर्साती छत्राकों (गुच्छियों, कूकरमूतों) के से, आज पैदा हुए तो कल मर जाते हैं। जो दर्शन और जो धर्म आत्मा को ले कर चलते हैं; आत्मा के स्वभाव, आत्मा की प्रकृति, को ध्यान में रख कर, जीवात्मा के बहिष्करण और अन्तःकरण की बनावट के प्रतिकूल नहीं, किन्तु अनुकूल, नियम

बनाते हैं; उसी की नीव पर जीवन की विधि और समाज के व्यूह को उठाते हैं; वे ही स्थिर और सुफल हैं।'

इस लिये, विद्यार्थी, जब गुरुकुल मे ब्रह्मचर्य पूर्ण कर चुकता है, तब दीक्षान्त के समय, इस आत्मज्ञान का स्मरण उसे कराया जाता है, कि संसार में जा कर, गृहस्थी उठा कर, इस के अनुसार, अपना, अपने परिवार का, और अपने समाज का उपकार और सु-धारण करै। 'सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायात् कुशलाद् भूतेः मा प्रमदः।' 'विद्या ददाति विनयं' के विनय शब्द के अर्थ पर विशेष ध्यान रखना चाहिये; 'विशेषेण नयनं'; विशिष्ट उत्तम रीति से जीवन का नयन, ले चलना, निबाहना। सांसारिक माया, आत्मा की माया, के तीन मुख्य अवयव हैं, देश, काल, क्रिया; बंधे समय पर, बंधे स्थान मे, बंधी क्रिया करना—यह 'विनयन' का, 'डिसिप्लिन्,' 'ट्रेनिङ्', 'आर्डर्लिनेस्', (discipline, training, orderliness), का, तात्त्विक रुप है; इस से सब जीवन-प्रबंध सुखमय होता है; इस के विरुद्ध आचरण से, दुःखमय, अस्त-व्यस्त, निर्मर्याद, अशिष्ट बर्बरों के ऐसा, हो जाता है।

आत्मा का स्वरूप। तद्विषयक मतों का समन्वय।

प्रमाद न हो, इस लिये एक चेतावनी और देना आवश्यक है। आत्मा का स्वरूप परम प्रत्यक्ष है, सभी 'मैं' 'मैं' कहते हैं, तथापि यह स्वरूप परम गूढ़, परम रहस्य, भी है। यदि किसी भी देश-काल से अवच्छिन्न परिमित पदार्थ को 'मैं' का आत्यन्तिक स्वरुप समझ लिया, तो "महती विनष्टिः!", भारी विनाश, सुख का, शान्ति का, सज्-ज्ञान का होगा; यहाँ बड़े सूक्ष्म विचार, विवेक, और सम्यग्-दर्शन की आवश्यकता है।

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया, दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति। (उप.)

'छूरे की धार से भी अधिक तीक्ष्ण और दुर्गम यह आत्मदर्शन का पथ है; इस पर बहुत सावधानी से चलना चाहिये।' कोई कहता है, आत्मा एक ही है; कोई कहता है, आत्मा असंख्य अनेक हैं; कोई कहता है, अणु-परिमाण हैं; कोई, अति महान्; शरीर के साथ साथ उत्पन्न और नाश होता है; जितना शरीर का

परिमाण उतना ही आत्मा का; नहीं, हृदय मे ही रहता है, पर संकोच-विकास-शील हैं; कई जन्म लेता है; नहीं, एक ही शरीर के साथ जीता मरता है; मन ही आत्मा है; प्राण ही आत्मा है; शून्य ही आत्मा है; क्षणिक विज्ञान ही आत्मा है; भोक्ता है, कर्त्ता नहीं; देह से भिन्न है; भोक्ता भी है, कर्त्ता भी है; व्यापक है; अव्यापक है; जीवात्मा और परमात्मा भिन्न हैं; नहीं, एक ही है; इति प्रभृति ।

उपनिषत् मे कथा है; इन्द्र और विरोचन, दोनो, प्रजापति के पास गये ।

हंत, तं आत्मानं अन्विछामो, यं आत्मानं अन्विष्य सर्वांश्च लोकान् आप्नोति, सर्वांश्च कामान् । (छान्दोग्य)

'पितामह ! उस आत्मा की खोज मे हम फिर रहे हैं, जिस आत्मा को पा कर सब लोक और सब अभीष्ट काम मिल जाते हैं; सो आप बताइये कि वह कहाँ कैसे मिलेगा' ।

प्रजापति ने कहा, 'गुरुकुल मे वास करो' । बत्तीस वर्ष दोनो ने वास किया । पुनः प्रजापति के पास आये, कहा, 'नहीं जाना' । प्रजापति ने कहा, 'नाँद में पानी भर के देखो, जो देख पड़े वही आत्मा है' ।

विरोचन ने देखा । अपने शरीर ही को आत्मा जान, चले गये । देहऽात्म-वादी हुए । शरीर की ही, उत्तम भोजन पान माला फूल गहने कपड़े से, पूजा अर्चा की । आसुरी संपत् के अधिकारी हुए । थोड़े ही दिनो मे अति उद्दण्डता के कारण मारे गये ।

इन्द्र ने भी अपना मुँह पानी मे देखा । सन्तोष न हुआ । तरह तरह की शंकाएँ मन मे उठीं । पुनः प्रजापति के यहाँ गये । आज्ञा हुई—'गुरुकुल मे और बसो' । बत्तीस बरस और बसे, और फिर जा कर पूछा । उत्तर मिला, 'स्वप्न मे जो पदार्थ स्वच्छन्द विचरता है, वही आत्मा है' । फिर भी शङ्का हुई । और भी बत्तीस बरस वास कर के विचारते रहे । आदेश हुआ कि, 'सुषुप्ति की चेतना ही आत्मा है' । फिर भी कुछ शंका हो गयी । और पाँच वर्ष परिश्रम किया । एक सौ एक वर्ष के विचार के पीछे इन्द्र की सब शंका निवृत्त हुई, आत्मलाभ हुआ, अमर हो गये, अर्थात् अमर तो थे ही, पर यह ज्ञान, यह निश्चय, प्रत्यक्ष हो गया कि, जिस चेतना से यह शरीर, जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति (तीन वास) तीनो

अवस्था मे, चेतित है वह (तुर्यावस्था की, चौथे वास की) चेतना, वह आत्मा, अजर अमर है। अमरत्व के विश्वास ही का लाभ तो अमरत्व का लाभ है। भूली हुई बात को याद कर लेना, यह पहिचान (प्रत्यभिज्ञान) लेना कि मैं सदा अमर हूँ, यही अमर हो जाना है, यही मृत्यु की शंका मे, भय से, मोक्ष है।

एक सौ एक वर्ष-संख्या का अर्थ कई तरह से लोग लगाते हैं। अपना मतलब इस स्थान पर इतना ही है कि आत्मा का स्वरूप, 'स्व' का रुप, ठीक ठीक पहिचानना चाहिये, इस मे एक सौ एक, क्या एक हजार एक, भूल, शंका, प्रश्न, होने का संभव है। और यदि एक भी गहिरी भूल हो गई तो आत्मलाभ तो होगा नहीं, बिरोचन के ऐसी, शरीर की हानि हो जायगी।

शतं च एका च हृदयस्य नाड्यः; तासां मूर्धानं अभिनिःसृता एका; तथा ऊर्ध्वं आयन् अमृतत्वं एति; विष्वङ् अन्या निष्क्रमणे भवंति। (उपनि०)

'हृदय से १०१ नाड़ियाँ निकलती हैं; उन मे से एक, मूर्धा को जाती है; शरीर छोड़ने के समय, यदि उस से ऊपर को चढ़े, तो जीव अमृतत्व पाता है; अन्य सब नाड़ियाँ, संसार के विभिन्न पक्षों की ओर जाती और ले जाती हैं'। अंतर्मुखता एक है; बहिर्मुखता नाना है।

यदि 'अहं ब्रह्मास्मि' का अर्थ 'पराया माल अपना,' आराम-तलबी, बद-माशी, और गुफ्तखोरी समझा, तो 'वेशधारियों' के मारे देश की मुसीबत हो जाती है। यदि अहंकार को आत्मा समझ लिया, यदि अभिमान को आत्म-सम्मान, आत्मगौरव, जान लिया, निर्मर्यादता को स्वतन्त्रता, उच्छृङ्खलता धृष्टता को आत्मवशता, अविनीतता और दुर्विनीतता को स्वाधीनता, यदि टर्रैपन को बहादुरी, समझ लिया, तब तो स्वराज के ठिकाने अराजक, हुल्लड़शाही, का उत्पात मचेगा, राम-राज के स्थान मे राम-सेना-राज वानर-राज होगा, और सुखी होने की जगह हम लोग महा दुःख में गिरेंगे, और गिर रहे ही हैं, गिरे ही हैं। ऐसे ही मिथ्या वेदान्त से तो भारतवर्ष की वर्तमान महा दुर्दशा हुई और अधिकाधिक होती जाती है।

भारतवर्ष की स्वराज की लड़ाई, जो बीसियो वर्ष से रुक अथवा बिगड़ रही है, उस मे मुख्य कारण यही है कि अब तक 'स्व' के सच्चे सामाजिक तथा दार्श-

निक, आध्यात्मिक, तथा राजनैतिक, स्वरूप पर विचार ही नहीं हुआ है। अधिकांश भारतीय नेताओं और नीतों ने, विरोचन के ऐसा, पच्छिम के देशों मे प्रचलित स्वराज के रूपों को ही स्वराज का सच्चा स्वरूप समझ रखा है। अथवा, अपने ही अपने मुँह को विरोचनवत् 'स्व' समझ लिया है, और उसी के राज को 'स्वराज' मानना और बनाना चाहते हैं। स्वराज का अर्थ, हिन्दू तो हिंदू-राज, मुसलमान तो मुसलमान-राज, जमींदार जमींदार-राज, काश्तकार काश्तकार-राज, ब्राह्मण ब्राह्मण-राज, अब्राह्मण अब्राह्मण-राज, क्षत्रिय क्षत्रिय-राज, पूंजीवाला पूंजीपति राज, श्रमजीवी श्रमजीवी-राज, इत्यादि, अपने मन मे कर रहा है। फल इस का—परस्पर घोर अविश्वास, द्रोह, कलह, ईर्ष्या-मत्सर, छल, दंभ, बढ़ रहे हैं, कार्य-शक्ति घट रही है, स्वराज पास आने के ठिकाने दूर हटा जाता है।

सन् १८५७ मे, 'सिपाही युद्ध' के समय, एक बड़े राजा ने दूसरे बड़े नवाब से कहला भेजा, कि अगर हम तुम मिल जायें तो विदेशियों के पैर उखड़ जायंगे, देश से भाग जायंगे। नवाब साहब ने राजा बहादुर से पूछ भेजा, कि विदेशियों के हट जाने के बाद दिल्ली के तख्त पर आप बैठोगे या मै। इस के बाद और बात-चीत नहीं हुई, विदेशी देश मे रहे, और दिल्ली के तख्त पर बैठे रहे, न राजा बैठे न नवाब। यदि पहिले राजा से यह जवाब देते बनता कि अब स्वदेशी विदेशी के भी झगड़े छोड़ो, न तुम तख्त पर बैठो, न मैं, न कोई तीसरा विदेशी या स्वदेशी, ख्वाह-म-ख्वाह, बल्कि ऐसे ऐसे भले आदमी, निस्स्वार्थ अर्थात् सर्वस्वार्थी, परार्थी, और परमार्थी, "अकामः सर्वकामो वा", जिन पर तुम को भी और मुझ को भी और सब प्रजा को भी विश्वास और श्रद्धा हो, कि ये हमारे देश और समाज के अंतर्यामि-स्थानीय उत्तम 'स्व' हैं, (अधम 'स्व' नहीं), ऐसे आदमियों की एक सभा 'तख्त' पर, धर्मासन श्रेष्ठासन पर, बैठेगी, अर्थात् धर्म का आम्नान व्यवसान व्यवस्थापन निर्णयन निर्माण करेगी, और उस धर्म को, उस क़ायदे क़ानून को हम भी आप भी सभी मानेंगे—यदि ऐसा उत्तर देते बनता तो स्यात् आज भारतवर्ष का इतिहास दूसरा ही होता।

यही दशा इस समय उपस्थित है। 'स्व-राज' 'स्व-राज' सब पुकारते हैं। 'स्व' का अर्थ ठीक ठीक जानते ही नहीं, विचारते ही नहीं। आत्मज्ञान की

कितनी आवश्यकता, राजनीति के क्षेत्र मे, है, इस का प्रत्यक्ष प्रमाण हमारे सामने मौजूद है, कि बिना इस के सब कार्य अस्त-व्यस्त हो गया है। १९४६ मे, ब्रिटेन से, तीन बड़े मंत्री भारत आये; तीन महीना दिल्ली शिमला मे रहे; कांग्रेसियों और मुस्लिम लीगियों से अनन्त बक बक करते रहे; कोई समझौता न हो सका, सब की खिन्न बढ़ाकर, स्वयं खिन्न हो कर, वापस गये। 'स्व राज' के सच्चे रूप पर बात ही न हुई।

मनु का बचन पहिले कह आये हैं,

न हि अनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते।

ईसा मसीह ने भी यही बात कही है, कि यदि मनुष्य सारे संसार की सब वस्तुओं को पा ले पर अपने आप को, अपने आत्मा को ही, खो दे, तो उस को क्या लाभ हो सकता है? वह कोई वस्तु नहीं पावेगा, और यदि पावेगा भी तो शीघ्र ही फिर खो देगा। इस देश मे तो 'आत्म-विद्या' का नाम ही 'राज-विद्या' रख दिया था; पर वह सब बात नितांत विस्मृत हो गई है। दार्शनिकों मे प्रथा है, कि अन्य सब ज्ञान कर्मपरक हैं, पर आत्मज्ञान आत्मपरक ही है; और एक दृष्टि से यह नितांत सत्य भी है; पर दूसरी दृष्टि से देखिये, तो आत्मज्ञान, यदि कर्मपरक नहीं, तो सब ज्ञानो से अधिक, अथवा वही अकेला, कर्म-शोधक, धर्म-शोधक, कर्तव्य-बोधक है। स्वयं भगवद्गीता ही इस का प्रमाण है। योगवासिष्ठ के मुमुक्षु प्रकरण के एकादश अध्याय मे विस्तार से इस का वर्णन किया है, कि राजों का मोह हटाने को, और उन को कार्यक्षम बनाने को, इस राज-विद्या का अवतार हुआ।

राजविद्या, राजगुह्यं, पवित्रं इदं उत्तमम्,
प्रत्यक्षाऽवगमं, धर्म्यं, सुसुखं कर्तुम् अव्ययम्। (गीता)

'यह विद्या प्रत्यक्षाऽवगम है, प्रत्यक्ष से ही इस का अवगम, ज्ञान, होता है' इस बात को अपने सामने का इतिहास कहिये, इतिवृत्त कहिये, सिद्ध कर रहा है। यूरोप के देशों के राष्ट्र-सञ्चालक अपनी कार्यकुशलता, व्यवहारचतुरता, पर धन्यम्मन्य हैं, पर घोर महायुद्ध मे पड़ गये। उन की सब चतुरता का फल यही हुआ कि प्रायः सब के सब अपना घर तबाह कर बैठे हैं, अपने कुल कुटुम्ब के

होनहार उत्तम युवाओं को युद्ध मे मरवा कटवा चुके हैं, और रो रहे हैं। जो कम रोते हैं वे वही है जिन को, अपने अधीन दुर्बल और दीन देशों का प्राण चूसने सोखने का अवसर मिला हुआ है; ये पराधीन, परवश, विवश, बेबस, बेकस, बेचारी जातियाँ रो रही हैं, छटपटा रही हैं, अपना उद्धार कुछ भी कर नहीं सकतीं; अपने दुष्कर्मों के कारण।

इन सब बातों से आप निश्चय कीजिये कि आत्मज्ञान की गति, मनुष्य के जीवन के प्रत्येक अंश और विभाग में है; और प्रत्येक मे उस के द्वारा कल्याण की वृद्धि हो सकती है। मानवधर्म की तो सारी सभ्यता शालीनता इसी अध्यात्म-विद्या की नीव पर स्थापित है। इस लिये 'आत्मा' के, 'स्व' के, सच्चे तथा उत्तम रूप को, तथा 'राज' के रूप को, बड़े विवेक से निश्चय करना चाहिये।

श्वेताश्वतर उपनिषत् मे रूपक बाँधा है,

> द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते,
> तयोः एकः पिप्पलं स्वादु अत्ति, अनश्नन् अन्योऽभिचाकशीति।

'एक ही पेड़ अर्थात् शरीर पर दो चिड़ियाँ बैठी हैं; एक तो उस के फल खूब खा रही है, दूसरी केवल साक्षी हो कर देख रही है'। संसारलोलुप, बुभुक्षु, बहिर्मुख, स्वार्थी अवस्था, जो इस शरीरवान् जीवरूप आत्मा की है, वही पहिली चिड़िया है; जो इस की परार्थी और परमार्थी अन्तर्मुख अवस्था, संसार-लोभ से विमुख, निवृत्तिमार्गी है, वही दूसरी चिड़िया है। प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक कुल, प्रत्येक समाज, मे, ये दोनो तरह के पक्षी मौजूद हैं। यदि खाने वाले पक्षी का, अधम 'स्व' का, 'खुदी' का, 'नफ़्सि-अम्मारा' का, राज हुआ, तो वह व्यक्ति, वह कुल, वह समाज डूबा। यदि निस्स्वार्थी, परमार्थी, साक्षी, लोकहितैषी पक्षी का, उत्तम 'स्व' का, 'खुदा' का, 'नफ़्सि-लव्वामा और 'नफ़्सि-रहमानी' का, राज हुआ, तो समाज का अभ्युदय हुआ।

> दण्डो हि सुमहत् तेजो, दुर्धरश्च अकृतात्मभिः;
> धर्माद्विचलितं हंति नृपम् एव सबांधवम्।
> ज्येष्ठः कुलं पालयति, विनाशयति वा पुनः;
> यो ज्येष्ठो ज्येष्ठवृत्तिः स्यात्, मातेव स पितेव सः। (मनु)

'दण्डशक्ति, 'कम्पल्सिव् फ़ोर्स', (compulsive force) अग्नि के समान बड़ा तेज है। जो आत्मा को नहीं पहिचानता, अपनी आत्मा से दूसरों का हाल नहीं समझ सकता, वह इस का उचित सञ्चालन नहीं कर सकता। यदि धर्म से दण्ड विचलित होता है, तो स्वयं राजा को, उस के कुल कुटुम्ब बन्धु-बान्धवों सहित, नाश कर देता है। जेठा ही घर को बनाता भी है, बिगाड़ता भी है; जो जेठे की वृत्ति से जेठा रहे, वह माता पिता के समान है।'

एक गृहस्थी भी तो एक छोटा राष्ट्र है। एक राष्ट्र भी बड़ी गृहस्थी ही है। दोनो के उत्तम प्रबन्ध के लिये प्रबन्धकर्त्ता आत्मवित् चाहिये, अध्यात्म का, 'पुरुष' की 'प्रकृति' का, मनुष्य के स्वभाव का, जानकार चाहिये। शारीर प्रकृति का भी, मानस प्रकृति का भी।

सैनापत्यं च, राज्यं च, दण्डनेतृत्वमेव च,
सर्वलोकाधिपत्यं वा, वेदशास्त्रविद् अर्हति। (मनु)

'सेनापति का, राजा का, दण्डनेता न्यायाधीश प्राड्विवाक् का, किम्वा समस्त संसार के अधिपति का, पद, अध्यात्मवेत्ता को ही मिलना उचित है; क्योंकि ऐसा ही जीव इन सब का काम ठीक ठीक चला सकता है।'

यहाँ पर एक गुर्वर्थ विवेक, मानवधर्म मे, और किया है। राष्ट्र का मूल और मुख्य कार्य है, धर्मों का, क़ानून कायदों का, आम्नान, व्यवसान। इन का प्रवर्त्तन दूसरा कार्य है। मानवधर्म मे यह मुख्य कार्य 'राजा' के हाथ मे नहीं रक्खा, प्रत्युत 'शिष्ट' पुरुषों के हाथ मे रक्खा है। दूसरा, प्रवर्त्तन का, क्षत्रियों के।

अनाम्नातेषु धर्मेषु, कथं स्याद् इति चेद् भवेद्,
यं शिष्टाः ब्राह्मणाः ब्रूयुः, स धर्मः स्याद् अशंकितः।
धर्मेण अधिगतो यैस्तु वेदः स-परिबृंहणः,
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः, श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः।
इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्;
बिभेति अल्पश्रुताद् वेदो, मां अयं प्रहरिष्यति। (मनु)

'जब कोई नयी अवस्था उत्पन्न हो, और नया प्रश्न उठै, कि क्या करना चाहिये जिस के सँभालने मे, निर्णय करने मे, आम्नाय से, श्रुति-स्मृति से, उपलब्ध

क़ायदे क़ानून से, सहायता न मिले, तो शिष्ट ब्राह्मण जो कुछ विचार कर के कह दें, वही नया धर्म माना जाय। शिष्ट वे हैं जिन्हों ने धर्मानुसार इतिहास-पुराण सहित वेद को जाना है, और जो वेद में कहे सुने को प्रत्यक्ष कर के दिखा सकते हैं। इतिहासपुराण सहित, इस लिये, कि बिना उन के, वेद का अर्थ ठीक नहीं समझ पड़ता। वेद का अर्थ वही समझ सकता है जो बहुश्रुत है'। "नह्येकमेव शास्त्रं जानानः किंचदपि शास्त्रं जानाति", ऐसा सुश्रुत में कहा है, 'एक ही शास्त्र को जो जानता है वह किसी शास्त्र को भ' नहीं जानता'। "तस्माद् बहुश्रुतः शास्त्रं विजानीयात् प्रयत्नतः", 'बहुश्रुत हो कर, एक शास्त्र को अच्छी तरह जाने'। इतिहास ही में तो सांख्य योग वेदांत के सिद्धांतों के जीवत् उदाहरण मिलते है; बिना ऐसे उदाहरणों के, वे सिद्धांत समझ में नहीं आते। इतिहास पुराण की ऐसी महिमा है कि उन को छांदोग्य उपनिषत् में पञ्चम वेद कहा है। सो इधर सैकड़ों वर्ष से संस्कृत पढ़ने वालों ने इतिहास के लिखने पढ़ने की ओर से सर्वथा मन हटा लिया है।

शिष्ट के लक्षणों में मुख्य लक्षण अध्यात्मज्ञान है।

चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्षत्, त्रैविद्यमेव वा,

सा ब्रूते यं स धर्मः स्याद्; एको वाऽध्यात्मवित्तमः। (याज्ञवल्क्य)

'धर्मनिर्णेता कौन हो? चार अथवा तीन विद्वानों की, वेद धर्म के, वेद के, जानने वालों की, समिति; अथवा एक ही अध्यात्मशास्त्र में निष्णात विद्वान्।'

जिस ने सच्चे 'स्व' को पहिचाना है, और इस कारण स्वयं निस्स्वार्थ हो गया है, वही सच्चे 'स्व-राज' के बनने बनाने में सहायता कर सकता है, और वही, ब्रह्मचर्य की समाप्ति के अनन्तर, गृहस्थी में प्रवेश कर के, गृहस्थी को भी अच्छी तरह पाल सकता है: दार्शनिक और व्यावहारिक स्वराज का ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी लिये पुनः-पुनः कहता हूँ कि 'स्व' को ठीक-ठीक पहिचानिये। पश्चिम में 'सायंस' के विद्वान् भी अब अध्यात्म की ओर कई कई रास्तों से चले आ रहे हैं; वे भी पहिचानने लगे हैं, कि 'द्रष्टा' की उत्पत्ति 'दृश्य' से नहीं हो सकती; द्रष्टा ही, दृश्य की सत्ता का प्रमाता है। 'सायंस' का, शास्त्र का, स्वरूप ही यह है कि वैदृश्य में सादृश्य पहिचाना जाय; और इस प्रकार से कार्य और

कारण के सम्बन्ध का निश्चय किया जाय। जब इस से और आगे बढ़ कर नानात्व में एकत्व देख पड़ने लगे, तब 'सायंस' का परिणाम, 'सायंस' की, शास्त्र की, समापत्ति, समाप्ति, अध्यात्मदर्शन में हो जाय; 'ब्रह्म संपद्यते तदा'। इस ओर, अन्य देशों के लोग बढ़े आते हैं। इस देश की तो यह पैतृक सम्पत्ति है; पर हम लोग इसे भूले बैठे हैं; और इसी से 'हिन्दू धर्म' और 'हिन्दू समाज' का दिन-दिन ह्रास हो रहा है। आत्मा ही सनातन, चिरन्तन, नित्य, शाश्वत, अजर, अमर है। जो धर्म, जो समाज, उस को, उस की बुद्धि को, पकड़े रहेगा, और जब तक पकड़े रहेगा, वह धर्म, वह समाज, तब तक, और तभी तक, स्वयं अजर, अमर सनातन बना रहेगा। जो उस को छोड़ेगा, उस के विरुद्ध चलेगा, वह तत्काल नश्वर और अनित्य हो जायगा।

यदि इस आत्मज्योति का प्रकाश, राजनीति के जटिल प्रश्नों पर डाल कर, विचारशील नेतागण 'स्व-राज' का विवरण इस प्रकार कर दें, कि जो ऐसे ऐसे गुणवाले, निस्वार्थी, लोकहितैषी, अनुभवी, विद्वान् भारतवासी मनुष्य हैं, वे ही धर्म-परिषत् के सदस्य चुने जायँगे, चाहे वे किसी 'मज़हब' के हों, या किसी कौम के हों, हिंदू या मुसलमान या ईसाई या अंग्रेज या फ़रासीसी या पुर्तगाली आदि—तो बहुत-सा द्रोह सद्यः मिट जाय, और शांत भाव से शासन-प्रबन्ध के विशेष अंगों पर विचार प्रवृत्त हो। पुराना श्लोक है,

न सा सभा यत्र न संति वृद्धाः,
वृद्धा न ते ये न वदंति धर्मं,
नासौ धर्मो यत्र सत्यं हिनस्ति,
सत्यं न तद् यत् छलमभ्युपैति। (म० भा०)

'वह सभा नहीं जिस में अनुभवी वृद्ध नहीं, वे वृद्ध नहीं जो धर्म न कहें, वह धर्म नहीं जो सत्य के विरुद्ध हो, वह सत्य नहीं जिस में छल कपट मिला हो।'

(पृ० ४९-५० पर) पूर्वोक्त उपनिषत् के शब्दों से आचार्य का जो अंतिम उपदेश समावर्तमान स्नातक को होता है, उस का भी यही अर्थ है। 'अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा धर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्, तदा ये तत्र ब्रह्मनिष्ठाः, अध्यात्मवित्तमाः, अरूक्षाः, सत्य-हित-प्रियं-वदाः, संमर्शिनः,

स.हिष्णवः, निराग्रहाः, हठरहिताः, स्नेहिनः, लोकहितैषिणः धर्मकामाः, धार्मिकाः, निस्स्वार्थाः स्युः, यथा ते वर्त्तेरंस्तथा त्वं वर्त्तेथाः ।'

प्रिय स्नातक सज्जनो—आप लोगों को, जो समावृत्त हो रहे हो, संसार मे वापस जा कर, अपनी अपनी गृहस्थी संभालना होगा, तथा अवश्यमेव, थोड़ा या बहुत, पास से या दूर से, किसी न किसी प्रकार से, इस 'स्वराज' के साधन मे भाग लेना होगा। इस वास्ते विशेष कर के, और सामान्य रीति से भी, सभी व्यवहारों मे उपयोगी होने के कारण, मै ने इस समय आप लोगों का ध्यान इस आत्मज्ञान की ओर दिलाया है, जो वैदिक-धर्म, निर्विवाद, सर्व-सम्मति से, ज्ञान की पराकाष्ठा है। 'वेदऽन्त' शब्द का अर्थ ही है, 'जहाँ वेद का, ज्ञान का, अन्त हो, समाप्ति हो, सम्पन्नता हो'। अब इस व्याख्यान को, पुनर्वार मनु के श्लोक और छांदोग्य उपनिषत् के शब्द पढ़ कर, समाप्त करता हूँ, और आशा करता हूँ, और हृदय से मनाता हूँ, कि आप लोग इस आत्मज्ञान से सम्पन्न हो कर भारतवर्ष के सच्चे उत्तम 'स्व' बनें, और अपने को, तथा दूसरों को, पारमार्थिक तथा राजनीतिक 'स्वराज' का लाभ कराने मे समर्थ हों।

सर्वेषाम् अपि चैतेषां आत्मज्ञानं परं स्मृतम् ;
तद् हि अग्र्यं सर्वविद्यानां, प्राप्यते हि अमृतं ततः ।
आत्मैव देवताः सर्वाः, सर्वम् आत्मनि अवस्थितम् ;
आत्मा हि जनयति एषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ।
सर्वम् आत्मनि सम्पश्येत्, सच्च असच्च, समाहितः ;
सर्वम् आत्मनि संपश्यन्, न अधर्मे कुरुते मनः । (मनु)

आत्मैव इदं सर्वमिति, सः वा एषः एवं पश्यन्, एवं मन्वानः, एवं विजानन् आत्मरतिः, आत्मक्रीडः, आत्ममिथुनः, आत्माऽऽनन्दः, स स्वराड् भवति । (छां०)

३. चित्रगुप्त ।

(काशी के कुछ प्रमुख कायस्थ सज्जनो ने एक छोटा सार्वजनिक पुस्तकागार, 'चित्रगुप्त पुस्तकागार' के नाम से, विशेष कर विद्यार्थियों की सहायता के लिये, बनाया । उस के अष्टम वार्षिकोत्सव पर, तिथि कार्तिक शुक्ल २, यमद्वितीया, सौर २-७-१९८२, के दिन, मुझ को सभापति नियुक्त किया । उस रूप से जो व्याख्यान किया, उसका आशय यह है)

ॐ । जीवैः कृतानि कर्माणि, पापपुण्यादिकानि वै,
सर्वाणि सुविचित्राणि, चित्रगुप्तस्तु गोपति । ॐ

सज्जनो !—जब आज की सभा के सभापतित्व के लिये निमंत्रण मिला तब मैं संकट मे पड़ गया । अन्य कारण तो थे ही, एक विचार यह उठ रहा था, कि चित्रगुप्त जी के सम्बन्ध के उत्सव में, प्रायः उस दल वा जाति के किसी सज्जन को सभापति होना चाहिये, जो अपने को विशेष रूप से उन का वंशज समझती है, अर्थात् हमारे कायस्थ भाई । पर निमंत्रयिता सज्जनो ने नहीं माना । मै ने भी अपनी शंका का समाधान यों कर लिया कि, चाहे कोई अपने को, विशेष रूप से, उन की संतान मानै या न मानै, तत्त्वतः सभी मनुष्यों को अनगिनत बेर उन से काम पड़ चुका है, और जब तक मोक्ष न पावेंगे तब तक अनगिनत बेर और भी काम पड़ेगा । इस लिये सभी मनुष्य, उन के वंशज कहिये तो, संबंधी कहिये तो, हुकमी बंदे कहिये तो, अथ च तद्रूप कहिये तौ भी, तत्त्वतः हैं । ऐसा समाधान अपने मन का कर के आप के सामने उपस्थित हुआ हूँ ।

यमद्वितीया का अर्थ ।

आज यम-द्वितीया है । इस देश में प्रथा है कि आज बहिन अपने भाइयों को भोजन करावै । पुराणों मे लिखा है कि आज के दिन यम ने अपनी बहिन

यमुना के यहाँ भोजन किया। उसी का अनुकरण सब को करना चाहिये। नकल मे क्या अकल ? हेतु का पता मुझे ठीक नहीं चला। मै ने यों अपने मन को समझाया कि वर्षा ऋतु के पश्चात्, शरत् मे, पहिले, इस देश मे बीमारी अधिक हुआ करती थी। आज काल, जब मनुष्य की बुद्धि ने, रेल, जहाज, कल, कारखाने, बिजली, गेस, बर्फ़, नल, नहर, तार, डाक, आदि के द्वारा, ऋतु-देवताओं की रुकावटों को जीत लिया है, और उन के विशेष गुणों को, जब चाहे, जहाँ चाहे, पैदा कर ले सकते हैं, तो सब काम बारहो महीना होते रहते हैं, रात मे भी दिन का काम उज्ज्वल से उज्ज्वल रोशनी बाल कर किया जाता है, बरसात मे भी रास्ता बन्द नहीं होता। और तरह तरह की बीमारी भी, नयी-नयी, व पुरानी भी, बारहो महीना पैदा होती और फैलती रहती हैं। पहिले ऐसा नहीं था। सब बातों के लिये ऋतु निश्चित थे। बीमारी के लिये भी। 'कार्तिकी वैद्यमातरौ' ऐसी प्रसिद्धि है। आश्विन और कार्तिक, इन दो महीनो मे वैद्य लोगों का रोजगार ख़ूब बढ़ता है, ये दो महीने वैद्यों का ऐसा पालन करते हैं जैसे माँ अपने बच्चों का। इस पर भी विशेष यह है,

> कार्त्तिकस्य दिनान्यष्टौ, अष्टौ आग्रायणस्य च,
> यमस्य दशनाः हि एते, लघ्वाहारी तु जीवति।

कार्तिक के अन्त के आठ दिन और अगहन के आदि के आठ दिन, ये यम की दंष्ट्रा हैं, जो कम खाय वही जीऐ। इस शिक्षा की याद दिलाने के लिये, यमराज और उन की बहिन यमुना का, कार्तिक शुक्ल द्वितीया को स्मरण करना उचित ही है। सर्वसविता सर्वप्रकाशक सर्वज्ञानमय सूर्यदेव की पत्नी 'संज्ञा' से, वैवस्वत मनु, यम, और यमी वा यमुना (नदी) की उत्पत्ति हुई। संज्ञा की अपर रूप 'छाया' से सावर्णि मनु, शनैश्चर, और तपती (नदी) की उत्पत्ति, तथा संज्ञा ही के एक और अन्य रूप, 'अश्विनी', से, दो अश्विनीकुमारों की उत्पत्ति—इस सब का, क्या आध्यात्मिक, क्या आधिदैविक, क्या आधिभौतिक अर्थ है, यह कहना कठिन भी है, और यहाँ उस विचार के प्रसार का अवसर भी नहीं है। यमराज धर्मराज के मीरमुंशी, पेशकार, सरिश्तादार, हेड क्लर्क, मुख्य लेखक, श्री चित्रगुप्तजी ही का विचार करना आज उपयुक्त है।

यम के भाई अश्विनीकुमार का अर्थ ।

तौ भी इस ओर जिज्ञासा बढ़ाने के हेतु इतनी सूचना उचित है—'अश्नन्ति विषयान्, अथवा आशु वहन्ति विषयान् प्रति, इति अश्वाः, इन्द्रियाणि'। जो विषयों के पास मन को, और मन के पास विषयों को, शीघ्र ले जायँ, जो विषयों को चक्खें, वे अश्व, इन्द्रियगण। इन्द्रिययुक्त शरीर का, अश्विनी का, रूप, जब संज्ञा ने, बुद्धि ने, धारण किया, तब सूर्य के, आत्मा के, जीव के, सङ्ग से, दक्षिण और वाम नासिका के श्वास-प्रश्वास रूपी दो प्राणवायु उत्पन्न हुए। ये ही अश्विनीकुमार, परम वैद्य, हैं। "प्राणायामैर्दहेद् दोषान्", "प्राणायामः परं बलं"। यम के भाई भी हैं, यम से बचाने वाले भी हैं, इन्हीं के नाम से, अधिक बीमारी के महीने, आश्विन (वा कुमार, कुँवार) कार्तिक, प्रसिद्ध है।

चित्रगुप्त की उत्पत्ति ।

प्रथा यह है कि चित्रगुप्त ही आदि 'कायस्थ', हुए। कई पुराण ऐसे हैं जिन के आदि अन्त का पता ठीक नहीं चलता, जैसे पद्म, भविष्य, स्कन्द, आदि। इस से यह सुविधा है कि जब किसी नई बात के लिये विशेष प्रमाणादि की आवश्यकता होती है, तब ढूँढ़ने खोजने से, (!) इन के एक दो अपूर्व अध्याय, चतुर कार्यकुशल पण्डितजन को, अपने घर में, मिल ही जाते हैं ! चार वर्णों की उत्पत्ति तो वेद ही में कह दी गयी। उस में 'कायस्थ' नाम नहीं। पर जाति तो देश में उपस्थित हो गयी। किन्हीं का कहना है कि, जैसे 'शकों' की एक शाखा राजपूत हो गयी, दूसरी शाखा, 'शाकद्वीपी' ब्राह्मण हो गई, वैसे ही एक अन्य शाखा भी, भारतवर्ष में, शस्त्रवृत्ति छोड़ कर, शास्त्रवृत्ति को, तत्रापि विशेष कर राज्यप्रबन्ध-सम्बन्धी कार्यालयों में, पहिले शक राजाओं, पीछे सभी राजाओं, की अधीनता मातहती में, लेखक और कर्मचारी की, ('करण' शब्द भी इस के लिये देख पड़ता है) वृत्ति को ओढ़ कर, नाम के अक्षर उलट फेर कर 'कायस्थ' हो गयी। इस जाति के मूल स्थान का नाम, उस की भाषा में, तथा ग्रीक भाषा में, 'स्काइथिया' था। किन्हीं ने 'शकाइथिया' में से 'शक' रख लिया। किन्हीं ने

उस शब्द को उलट पुलट, 'काइस्थिया' बना कर, 'कायस्थ' बना लिया। किन्हीं का विचार है कि, 'काय' नाम संस्कृत में व्यूहयुक्त, संघातयुक्त (आर्गैनाइज्ड) शरीर का भी है, तथा संग्रथित जनसमूह, कार्यशाला, 'ग्राफ़िस', दफ्तर का भी है। तो 'काये तिष्ठति', दफ्तर वाले, कार्याधिकारी, 'आफ़िशल' का नाम अन्वर्थ 'कायस्थ' उचित ही है। गुप्त-साम्राज्य के समय के, ४थी ५वीं शती ई० के ताम्र-पत्रों मे, बिहार प्रान्त मे, 'कायस्थ' शब्द, इस अर्थ मे, प्रयोग किया हुआ, मिला भी है। परमात्मा और जीवात्मा को भी, संस्कृत मे, कायस्थ कहते हैं। प्राचीन समय मे, जब भारतीय समाज मे यह प्राण, यह शक्ति, यह बुद्धि थी कि बाहर से आई हुई जातियों को अपना लेते थे, और उन के स्वभावगुण-ऽनुकूल उन को समाज मे स्थान और कर्म दे कर समाज का अङ्ग बना लेते थे, और छूआछूत के ढोंग के मारे मरे नहीं जाते थे, तब ऐसा अक्सर होता था। बहुतेरे 'व्रात्य' के समूह 'शालीन' कर लिये गये, और चातुर्वर्ण्य मे उन का समावेश हुआ। आश्चर्य नहीं कि जब दो सहस्र वर्ष पहिले 'स्काइथ' जाति बाहर से आई, तब एक शाखा तलवार-बहादुर होने के कारण क्षत्रियों मे मिल गयी और दूसरी शाखा कलम की होशियार होने के कारण, किन्तु सर्वथा ब्राह्मण-वृत्ति की अभिलाषा न कर के, एक अनिश्चित रूप से नये नाम से विख्यात हो गयी, जिस के व्यक्ति अपनी अपनी विशेष प्रकृति, प्रवृत्ति, ज्ञान, और आचार विचार के अनुसार, कभी क्षत्रियों की ओर, कभी वैश्यों की ओर, कभी शूद्रों की ओर, झुकते रहे। तथा इसी जाति की एक तीसरी शाखा, जिस ने सर्वथा ब्राह्मण-वृत्ति अङ्गीकार की, वह प्रायः 'शाकद्वीपी' ब्राह्मण हो गयी।

इन्हीं भेदों के अनुसार, समय समय पर, पुराणो मे भी अध्याय बनते गये। पर जब तक इन के बनाने वालों मे अध्यात्मज्ञान की कला बाक़ी रही, तब तक कुछ न कुछ उस की भी लपेट, ये लोग, इन आख्यानो मे रखते गये।

कहीं (वह्निपुराण मे) लिख दिया है,

> शूद्रात् कनीयसी जातिरभवद् विप्रसेवकः,
> ब्रह्मपादांशतो जन्म-जातः कायस्थनामभृत्।

शूद्र से भी छोटी जाति ब्राह्मणो की सेवा करने वाली, (जब ब्राह्मण नवीन

'पुराण' लिखेंगे, तो यह लिखना आवश्यक ही है !), ब्रह्मा के पैर के बचे खुचे अंश से (क्योंकि पूरे पैर से तो शूद्र निकल ही चुके थे !) निकल पड़ी, और उस का नाम कायस्थ हुआ। क्यों यह नाम हुआ, 'ब्रह्मदेवपादांशस्थ' नहीं, यह नहीं लिखा है ! अथ च, यह भी लिखा है,

मसीशायादीक्षिताय क्षत्रवैश्योपमाय च ।

मसी, रोशनाई, का ईश, पर अ-दीक्षित उपनयनादि संस्कार से रहित, क्षत्रिय और वैश्य के तुल्य । यह 'पुराण' तब मिला होगा, जब राजमंत्री के पद पर पहुँच कर किसी कायस्थ सज्जन ने अपनी जाति के उत्पत्ति की खोज की होगी। संस्कृत भी उक्त श्लोकों की ऐसी कच्ची है कि किसी कच्चे पंडित के ही बनाए ये क्षेपक जान पड़ते हैं । पद्मपुराण, सृष्टि खंड, मे, कथा कुछ विस्तार से, और रस से भी, यों कही है,

क्षणं ध्यानस्थितस्यास्य सर्वकायाद्विनिर्गतः,
दिव्यरूपः पुमान्, हस्ते मसीपात्रं च लेखनीं,
चित्रगुप्तः इति ख्यातो; धर्मराजसमीपतः,
प्राणिनां सदसत्कर्मलेख्याय, सः निरूपितः,
ब्रह्मणा, अतींद्रियज्ञानी देवाग्न्योर्यज्ञभुक् स वै ।
ब्रह्मकायोद्भवो यस्मात्, 'कायस्थो' वर्ण्यते ।
नानागोत्राश्च तद्वंश्याः कायस्थाः भुवि संति वै ।

ब्रह्मा जी ध्यान मे मग्न हुए, उन के समग्र सम्पूर्ण कार्य से, शरीर से, एक दिव्य पुरुष उत्पन्न हुआ, हाथ मे क़लम दवात लिये हुए । ब्रह्मा जी ने नाम उस का 'चित्रगुप्त' रख दिया, और यमराज के पास, मुख्य कारकुन पेशकार और महाफ़िज़ दफ्तर की हैसियत से तैनाती कर दी—'सब प्राणियों के सत् और असत् कर्म की, पुण्य और पाप की, बही, रजिस्टर, लिखो' । अतींद्रिय ज्ञान दिया, अग्नि तथा अन्य देवताओं के ऐसा यज्ञ मे भाग दिया । ब्रह्मा के काय से उत्पन्न हुए, इस से कायस्थ कहलाये । उन के वंश का विस्तार पृथ्वी पर हुआ, और कई गोत्र हो गये ।

भविष्य पुराण मे यही कथा अधिक विस्तार से, भीष्म और पुलस्त्य के संवाद

के रूप से, कही है। चातुर्वर्ण्य उत्पन्न कर के, ब्रह्मा समाधिस्थ हुए; थोड़ी देर बाद,

तच्छरीरान्महाबाहुः, श्यामः, कमललोचनः,
लेखनीच्छेदनीहस्तो, मसीभाजनसंयुतः,
निःसृत्य,दर्शने तस्थौ, ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः। इत्यादि।

क़लम और क़लमतराश चाकू और रोशनाई की दवात लिये हुए, ब्रह्मा के शरीर से ये निकले। चार जातियाँ तो एक एक अंग से निकलीं, पर ये समग्र काय से निकले, तो औरों से अधिक संपूर्ण और उत्तम ही इन को समझना चाहिये। ठीक भी है; जब एक ही 'स्काइथ' वंश की शाखाएँ, राजपूत क्षत्रिय, तथा हिसाब-किताब-आदि-लेखन-दक्ष-वैश्य-वत् कायस्थ, तथा शाकद्वीपी ब्राह्मण, तथा शूद्रवत् साधारण बुद्धिवाले, सभी हैं। जिस समय यह पुराण लिखा गया, उस समय 'फ़ौंटेन् पेन' का प्रचार नहीं था, नहीं तो, 'फ़ौंटेन्-पेन-विभूषितः' इतना ही लिख देने से सब काम चल जाता; अलग अलग क़लम, चाकू, रोशनाई, दवात का नाम न लिखना पड़ता। काग़ज़ का किसी कारण से ज़िक्र नहीं किया है। आज काल मुन्शी जी काग़ज़ भी रक्खा करते हैं। अस्तु।

इन्हों ने ब्रह्मा जी से अर्ज़ की कि मेरा नाम रखिये। उन्हों ने फ़र्माया,

मच्छरीरात् समुद्भूतः, तस्मात् कायस्थसंज्ञकः,
चित्रगुप्तेति नाम्ना वै, ख्यातो भुवि भविष्यसि।
धर्माधर्मविवेकार्थं, धर्मराजपुरे, सदा,
स्थितिर्भवतु ते, वत्स!, ममाज्ञां प्राप्य निश्चलां।

मेरे शरीर से उत्पन्न हुए हो, इस लिये कायस्थ संज्ञा होगी; तुम्हारा विशेष नाम 'चित्रगुप्त' संसार मे प्रसिद्ध होगा। धर्मराज के यहाँ, धर्म और अधर्म के विवेक करने के लिये, तुम्हारा सदा वास होगा।

इन का वंश।

इन का वंश बहुत बड़ा,

चित्रगुप्तान्वये जाताः, शृणु, तान् कथयामि ते।

श्रीभट्टाः, नागराः, गौडाः, श्रीवत्साश्चैव, माथुराः ,
अहिफणाः (फेणाः), सौरसेनाः, शैवसेनाः तथैव च ।

इत्यादि द्वादश "शुद्धवंशजाः" । आज काल, एक गोत्र, कायस्थों का, अपने को 'सकसेना' कहता है । अजब नहीं जो यह 'शक-सेना' का निकटतर रूप हो, जिस को नवीन 'पुराण-कार' ने 'शैव-सेना' (शक्ति-सेना) कर दिया है ।

बंगाल मे, घटकराम जी ने, इस पुराण की पूर्ति, 'कुलदीपिका' नाम के ग्रन्थ मे, कर के, कायस्थ-वंश के विस्तारक सत्तासी पद्धतिकार लिखे हैं । इन की उत्पत्ति, प्रसिद्ध पाँच कान्यकुब्जीय ब्राह्मणो के भृत्यों से कही है ।

वसुः, घोषः, गुहो, मिश्रः, दत्तः, नागश्च, नाथकः ,
दासः, देवः, तथा सेनः, पालितः, सिंहः एव च । इत्यादि ।

महाराष्ट्र देश मे, 'प्रभु' आदि कायस्थ जातियों की उत्पत्ति, राजा चित्रसेन से कही जाती है । इन चित्रसेन को, स्कंद पुराण की प्रतियों मे, कहीं चन्द्रसेन कर के लिखा है ।

इन की उत्पत्ति का दूसरा प्रकार ।

स्कंदपुराण का प्रकार, पद्म और भविष्य के प्रकार से भिन्न है । चन्द्रसेन राजा की गर्भवती भार्या ने, परशुराम के भय से, दाल्भ्य ऋषि के आश्रम मे शरण ली । परशुराम खोजते हुए पहुँचे । दाल्भ्य से परस्पर नमस्कार निमन्त्रण हुआ । साथ ही भोजन हुआ । परशुराम ने कहा, जो माँगू सो वर दीजिये । दाल्भ्य समझ गये । कहा, बहुत अच्छा, पर जो मै भी मागूँ वह आप भी दीजिए । बहुत अच्छा । तो माँगिये । चन्द्रसेन क्षत्रिय का गर्भस्थ पुत्र मुझ को दीजिये । लीजिये, पर उस का प्राणदान आप मुझे दीजिये । मुश्किल हुई । समझौता हुआ । जीयै तो सही, पर क्षत्रियवृत्ति न करे, खड्ग न चलावै, लेखनी से और जिह्वा से युद्ध करै ।

प्रार्थितश्च त्वया, विप्र !, कायस्थो गर्भः उत्तमः ,
तस्मात् कायस्थः इत्याख्या भविष्यति, शिशोः, शुभा ।

माता के 'काय' में स्थित उत्तम गर्भ की आप ने प्रार्थना की, इस लिये बालक का नाम 'काय-स्थ' होगा।

परशुराम जी को यह कैसे मालूम हो गया कि चन्द्रसेन की भार्या के गर्भ में पुत्र ही है, कन्या नहीं ऐसी शंका करने का काम ही नहीं। परशुराम जी परशु भी चलाते थे, और दिव्यदृष्टि भी चलाते थे।

कायस्थों की उपास्य देवता 'बगलामुखी' का अर्थ।

कायस्थों के लिये, पुराणों में, उपास्य देवता, देवी, का 'बगलामुखी' रूप विशेष कर के कहा है। बगलामुखी का स्वरूप यह है कि वैरी की जिह्वा को एक हाथ से पकड़ लिया है, और दूसरे हाथ से मुद्गर से उसे मार रही है। मामूली बातचीत में भी बड़े वावदूक के लिये कहते हैं कि, 'जनाब, वे तो ज़बान पकड़ लेते हैं, मुंह बन्द कर देते हैं'। जो लोग, आज काल का नया रोज़गार, वकालत का पेशा, करते हैं, उन के लिए यह गुण बहुत उपयोगी है। और,

जिन की रही भावना जैसी,
प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।

जिस की जो ही उत्कट इच्छा रहती है, उसी के अनुकूल वह अपने इष्ट देवता का स्वरूप बना लेता है, और उस के ध्यान से अवश्य कुछ न कुछ उस के हृदय को बल मिलता है। बगलामुखी की उपासना के फल लिखे हैं,

वादी मूकति, रंकति क्षितिपतिर्, वैश्वानरः शीतति,
क्रोधी शाम्यति, दुर्जनः सुजनति, क्षिप्राऽनुगः खञ्जति,
गर्वी खर्वति, सर्वविच्च जड़ति, त्वन्मंत्रेणाऽयंत्रितः,
श्रीनित्ये! बगलामुखि! प्रतिदिनं, कल्याणि! तुभ्यं नमः।
मंत्रं वादिनियंत्रणं, त्रिजगतां जैत्रं च चित्रं च ते;
त्वं नामग्रहणेन, संसदि, मुखस्तम्भो भवेद् वादिनाम्;
मातर्!, भंजय मे विपक्षवदनं, जिह्वां चलां कीलय,
ब्राह्मीं मुद्रय, नाशयाऽशु धिषणां, उग्रां गतिं स्तम्भय;
शत्रूंश्चूर्णय, देवि!, तीक्ष्णगदया, गौरांगि!, पीताम्बरे!

विघ्नौघं, बगले !, हर, प्रणमतां, कारुण्यपूर्णेक्षणे ! इत्यादि ।

'जो आप की उपासना करैगा उस का प्रतिपक्षी दुश्मन यदि वादी है तो गूँगा हो जायगा, जमीदार राजा है तो रंक हो जायगा, आग है तो ठंढा पानी, क्रोधी है तो शांत, दुर्जन है तो सुजन, तेज़ दौड़ने वाला है तो लंगड़ा, गर्व वाला अभिमानी है तो खर्व छोटा दीन हो जायगा, अथ किम्, जो सर्वज्ञ है वह भी आप के मंत्र से मंत्रित होकर जड़ मूर्ख हो जायगा। हे देवी ! तू मेरे प्रतिवादी के मुख का स्तंभन कर दे, अथवा उस को तोड़ ही दे, जिह्वा में कील ठोंक दे, ब्राह्मी (ज्ञान-वाहिनी नाड़ी) को मूद दे, बुद्धि को नाश कर दे, उग्र गति को बिलकुल रोक दे ; शत्रुओं को गदा से चूर कर दे, सब विघ्नो को दूर कर दे, हे करुणा-पूर्ण-हृदये !' । करुणापूर्ण हृदय का और इन सब कार्यों का क्या सम्बन्ध है, यह उपासक ही जानता होगा। 'ग़रज़मन्द बावला' । दुर्जन को सज्जन बना दे, इतना ही अंश तो इस प्रार्थना का शुद्ध सात्त्विक है, और इस में सब कुछ दूसरी प्रार्थनीय बातों का भी तात्त्विक लाभ सध जाता है। सदा यही होता रहा, और आज भी हो रहा है, कि जब दो राष्ट्रों मे युद्ध होता है, तो दोनो के शास्ता और धर्म-गुरु (राजा, राजमंत्री, पादरी, मौलवी, पंडित) यही प्रार्थना बड़े ऊँचे स्वर से करते हैं कि 'हे अल्लाह अकबर, परमेश्वर, आल्-हाइयस्ट गाड्, यह तो तुझ को निश्चय है ही कि हमारा ही पक्ष सच्चा है, और हमी तेरे भक्त हैं, सो हमी को रिपु के ऊपर तू विजय दे !'

यदि दो उपासक, एक ही देवी के, आपस ही मे भिड़ जायँ तो देवी को भी कठिनाई होती ही होगी, कि किस की जय करावें और किस की पराजय। प्राय: जो अधिक पूजा पाठ जप आदि रूपी दाम दे, उसी को, नीलाम मे, 'जय' मिलती होगी। जब भिन्न धर्म वाले आपस मे लड़ते हैं, या दो राजा या राष्ट्र आपस मे लड़ते हैं, तो दोनो ही अपने अपने को परमेश्वर का एक मात्र अढ़तिया गुमाश्ता ठेकेदार बताते हैं। यह सब केवल राजस तामस बुद्धि का उद्गार है । इस लिये, 'क्रोधी शाम्यति, दुर्जनः सुजनति.' यही प्रार्थना सर्वाभीष्ट होने योग्य है । और वाग्मिता, जो बगलामुखी का आध्यात्मिक अर्थ है, वह प्रशंसनीय गुण है ही । 'सदसि वाक्पटुता, युधि विक्रमः ।'

शतेषु जायते शूरः, सहस्रेषु च पंडितः ,
वक्ता दश सहस्रेषु, संतोषी नैव दृश्यते ।

सैकड़ों मे एक शूर, सहस्रों मे एक पंडित, दसियों सहस्र मे एक वक्ता वाग्मी होता है ; संतोषी तो कहीं देख ही नहीं पड़ता ।

चित्रगुप्त जी की पूजा का फल ।

यह तो हुए बगलामुखी देवी की पूजा के फल । श्री चित्रगुप्त जी की पूजा के भी विचित्र फल कहे हैं। सौदास राजा की कथा पुराणो मे कही है। सौदास राजा से, और उन के पुरोहित वसिष्ठ जी से, अनायास ही लड़ाई हुई । राजा का कोई क़सूर नहीं था। जब वसिष्ठ जी राजा के घर आये, और उन के लिये दस्तूर के अनुसार मांस पकाया गया, तो एक दुष्ट राक्षस ने, जो राजा का वैरी था, याजक और यजमान मे, राज-गुरु और राजा मे, लड़ाई लगवाने के लिये, बावर्चीखाने मे नर-मांस, छल से, पशु-मांस के स्थान मे रखवा कर, पकवा दिया। वसिष्ठ जी के आगे परोसा गया। उन्हों ने दिव्यदृष्टि से या जिह्वा से पहिचाना कि नर-मांस है ; पर अफ़सोस कि उसी दिव्य दृष्टि से यह नहीं पहिचाना, कि एक दुष्ट राक्षस का काम है। जल्दबाज़ी से राजा सौदास को शाप दे दिया, कि तू राक्षस हो जा और नर-मांस खा। राजा को क्रोध हुआ, कि बिना दोष ऐसा शाप क्यों दिया, और उन्हों ने भी अपने हाथ मे जल उठाया, वसिष्ठ को प्रतिशाप देने के लिये। पर फिर सोचा कि नहीं, ये अपने किये का फल स्वयं पावेंगे। जल अपने पैर पर डाल दिया। पैर काले हो गये। 'कल्माषपाद' नाम भी हो गया। क्षत्रिय ने ब्राह्मण से अधिक क्षमा, विचार, धैर्य दिखाया। फिर वसिष्ठ के शाप से राजा के ऊपर राक्षसी पागलपन सवार हुआ। मांस पकवाने, खाने, खिलाने वालों मे, जल्दबाजी प्रमाद उन्माद का सम्भव होना क्या आश्चर्य है ! होना ही चाहिये। बहुत मद्य मांस खाने पीने वाले राष्ट्रों मे ही, राक्षसी आसुरी प्रकृति वालों मे ही, घोर-तर राजस तामस वृत्तियां और युद्ध हुआ करते हैं। वसिष्ठ जी को मांस-भोजिता और अति त्वरा और अविचारित-कार्य-कारिता का फल मिला। पागल राजा उन के सौ लड़कों को मार कर खा गया। राज मे बड़ा

उपद्रव हुआ। वह समय ही बड़ा क्रूर और अद्भुत, इस भारतवर्ष मे, हो गया है। क्षत्रियों और ब्राह्मणो मे बड़े युद्ध हुए। 'मिलिटरिस्ट-सायंटिस्ट,' 'सोल्जर-प्रीस्ट'[1], सौदास-वसिष्ठ, वसिष्ठ-विश्वामित्र, आडी-बक, जमदग्नि-कार्त्तवीर्य, कार्त्तवीर्य-परशुराम, भार्गव-हैहय, भार्गव-तालजंघ, आदि के नाम से ये घोर संग्राम प्रसिद्ध हैं; जो राम-राज्य स्थापन होने पर शांत हुए। यह राजा सौदास कल्माषपाद, कभी घूमते फिरते एक स्थान पर जा निकले जहां चित्रगुप्त जी की पूजा होती थी। उस समय मन कुछ शांत था, पूजा मे शरीक हो गये। उन का मन्त्र जपा।

मसीभाजनसंयुक्तः, सदा चरसि भूतले,
लेखनीछेदनीहस्तः, चित्रगुप्त !, नमोऽस्तु ते।
चित्रगुप्त ! नमस्तुभ्यं, नमस्ते धर्मरूपिणे,
भव त्वं पालको नित्यं, नमः, शांतिं प्रयच्छ मे।

कुछ दिनो पीछे जब राजा का शरीर छूटा तो यमदूत यमधानी को ले गये। मुक़द्दमा पेश हुआ। चित्रगुप्त जी से, इशारे से बात हुई। राजा ने याद दिलाई कि मै ने आप की पूजा की है। फिर क्या कहना है! चित्रगुप्त जी ने ऐसी खूबी से चुन चुन के मिस्ल के काग़ज़ सुनाये, कि धर्मराज ने अपने पुलिस वालों को ही खूब डांटा, कि तुम सब झूठे मुक़द्दमे बनाते हो, और हुक्म दिया कि इन को फौरन् विष्णुलोक मे ले जाओ। पीछे से, चित्रगुप्त ने, मुँह-लगुए ढीठ तो थे ही, धर्मराज से अपनी करतूत क़बूल भी दी। वे भी, ख़फा होने का बेफ़ायदा कोशिश न कर के, हँस पड़े। आज काल भी, दफ्तरों मे और कचहरियों मे, अकसर ऐसा होता ही रहता है। 'हाकिम' साहबान की ऐंठन बेचारी प्रजा के ही लिये है; पेशकारों, दफ्तरवालों और पुलिस वालों से उन की कुछ नहीं बसाती; जो सेक्रेटरी लोग चाहते हैं, वही मिनिस्टर महाशय को, अथ च गवर्नर और गवर्नर-जनरल महाशय को भी, करना पड़ जाता है। सरीही उन की आँखों मे धूल डाल देते हैं। पर यमराज धर्मराज जो चित्रगुप्त से अधिक ख़फ़ा न हुए, उस मे विशेष कारण था; वह आगे कहा जायगा। वे

1. Militarist-scientist, soldier-priest.

ऐसे कान के पतले, आँख के कमजोर, मोम की नाक वाले नहीं हैं। यम हैं, अन्तर्यामी हैं, चित्रगुप्त के भी यमयिता हैं, चित्रगुप्त भी उन्हीं के एक रूपान्तर ही हैं।

कायस्थ जाति सहित समस्त हिन्दू-समाज के ह्रास का हेतु।

चित्रगुप्त जी के वंशों का वर्णन तो ऊपर किया। आज काल के संयुक्त-प्रान्त मे, तथा बङ्गाल मे, कायस्थ वंश अधिकतर पाया जाता है। प्रायः १९०५ ई० मे, श्री शारदाचरण मित्र (कलकत्ता हाई कोर्ट के भूत-पूर्व जज] ने बड़ा यत्न किया कि दोनो प्रान्तों को शाखाओं का परस्पर खान-पान शादी-ब्याह हो। इन्ही महाशय ने, एक और यत्न, नितान्त उत्तम, किया; भारत के सब प्रान्तो की सब भाषाएँ, भिन्न होती हुई भी, एक लिपि मे, नागरी लिपि मे, लिखी जाँय; 'एक-लिपि-विस्तारिणी परिषत्' की स्थापना की; एक त्रैमासिक पत्र चलाया, जिस मे हिंदी, बंगला, गुजराती, मराठी, तामिल, तेलुगू, कन्नड़, मलयाली, आठ प्रान्तीय भाषाओं के लेख, नागरी अक्षरों मे छपे। दो मे से किसी कार्य मे कृतार्थ नहीं हुए। हमारे देश के दुर्भाग्य अभी बहुत बलवान् हैं। जिस देश के, जिस समाज के, धर्मरक्षकों की यह घोषणा हो, कि धर्म मे बुद्धि को स्थान नहीं, ऐसे बुद्धिद्रोही बुद्धिहीन देश और धर्म का भाग्य क्यों न फूटे ?

जो अकेले रोटी खायँगे, वे परायों की जूती भी अकेले रह कर खायँगे।

आज बारह सौ वर्ष से, यह हिन्दू समाज और हिन्दू-धर्म, परायों की जूतियाँ खाता चला आता है; सिकुड़ता ही चला जाता है; अब भी इस की बुद्धि नहीं सँभलती। परस्पर घृणा से ही मरा जा रहा है। यह नहीं समझ सकता कि जो अकेले रोटी खायगा, उस को पराये की जूती भी अकेले रहने से ही, परस्पर प्रीति-हीन अतः निस्सहाय होने से ही, खानी पड़ेगी। हम सब इसी बहादुरी मे चूर

और मस्त हैं, कि मै तो अपने सगे भाई का भी छूआ पानी नहीं पीता। इस प्रान्त के कायस्थों मे, जैसे और जातियों मे, अजब अजब रस्में चल पड़ी हैं।

अनन्त जाति, अनन्त आचार, परस्पर विरुद्ध, सभी 'सनातन धर्म' !

यदि हिन्दू कहने कहलाने वाली हज़ारों जाति उपजातियों की अलग अलग विचित्र विचित्र रीति रस्मों का, आचार-विचारों का, संग्रह कर के छापा जाय, तो स्यात् इस टिड्डी दल, इस भेड़ी धसान, की अन्धांध आँखें कुछ खुलें। जैसे "उघरे पटल परसुधर मति के," स्यात् उन की बुद्धि को वह फल हो जो देशाटन से होता है। स्यात् वे समझने लगें कि कितना अंश अकृत्रिम अध्यात्म-बुद्धि-सम्मत आचार है, सचमुच 'सनातन-धर्म' कहाने योग्य है, और कितना अधिकतर कृत्रिम, बनावटी, मिथ्या, कपोल-कल्पित और अब इस समय मे परम हानिकारक 'ढोकरिया पुराण', धर्माभास, 'मिथ्या-धर्म', 'कपट-धर्म' कहाने योग्य है।

वर्णोत्कर्ष का अर्थ।

कुछ दिनो से, संयुक्त प्रान्त के कायस्थों मे यह भाव उठा है, कि हम लोग क्षत्रिय हैं और समझे जायँ। कुछ लोगों का यह विचार है, कि इस प्रकार से जातियों को अपना उत्कर्ष करना उचित और स्वाभाविक है। कुछ जातियाँ, जो 'नीची' समझी जाती हैं, अपने को 'ब्राह्मण' बना रही हैं, कुछ 'क्षत्रिय', कुछ 'वैश्य', इत्यादि। पर ऐसे विचार मे, एक भारी भ्रम है; वर्णों की उच्च-ऽवचता, जन्मसिद्धता, अपरिवर्तनीयता, मान ली जाती है; यह यत्न नहीं किया जाता कि एक या कई आदमी पहिले एक वर्ण के थे, अब अपने कर्मों से उन्हों ने अपने वर्ण का इसी जन्म मे परिवर्तन कर लिया, और अपने को दूसरे वर्ण का बना डाला; बल्कि यह कहा जाता है कि सदा काल से हम और हमारे पुरखा, और पुरखों के पुरखा (पुरुष्, पूर्व पुरुष) इस दूसरी जाति ही के थे, और ऊँची है और उस नीची जाति के न थे, न हैं, जिस के नाम से

हमारी प्रसिद्धि है। यह भाव सर्वथा हानि-कारक, राजस-तामस स्पर्धा-वर्धक, सामाजिक-कार्य-बाधक है। वर्णव्यवस्था का अर्थ, सब के सुविधा सहायता के हेतु से, सामाजिक-कर्म का विभाग, "कर्माणि प्रविभक्तानि", ('डिविझन् आफ़ लेबर') है।[1] दल-गत या व्यक्ति-गत उच्चत्वऽभिमान, उत्कृष्टत्व-विशिष्टत्व-ऽभिमान, उस का अर्थ नहीं। ऐसी वर्णव्यवस्था, व्यक्तिशः, गुणकर्मानुसार ही हो सकती है, और होनी चाहिये ; समूहशः, समुदायशः, नहीं। जो पोथी पत्रा का, ज्ञान-संग्रह-प्रचार का, 'ब्रह्मसंचय-ब्रह्मवितरण' का, कर्म करे, अध्यापन, याजन, प्रतिग्रह वृत्ति से जीविका करे, उस का नाम ब्राह्मण। जो सिपाहीपन, दुर्बल-रक्षण, 'क्षतात् त्राण' करे, और ज़मीदारी आदि वृत्ति से जीविका करे, उस का नाम क्षत्रिय। जो अन्न-वस्त्रादि का, धन-धान्य का, संचय-वितरण करे, कृषि गोरक्ष्य-वाणिज्यऽादि वृत्ति से जीविका करे, उस का नाम वैश्य। जो औरों की सेवा सहायता कर के, उन के कहने से 'आशु द्रवति', जल्दी दौड़े, उन के 'शुचं द्रावयति,' शोक को दूर करे, उन से अन्न-वस्त्र, भृति रूप से, भरणार्थ, पावे, उस का नाम शूद्र; चाहे जन्म कैसे ही हुआ हो। यह वर्णतत्त्व, वर्णरहस्य, वर्णोपनिषत्, वर्णमूल, वर्णसिद्धान्त, सामुदायिक नामपरिवर्तन से सफल नहीं होता।

यदि समुदाय का ही नाम बदलना है, तब तो वह प्रकार सब से उत्तम है जो मेरे ज्येष्ठ भ्राता, श्री गोविन्ददास जी कहा करते थे, सब 'ब्राह्मण' बन जायँ। कनौजिया, सनाढ्य, काश्मीरी, गुजराती, महाराष्ट्र, यदुवंशी, सोमवंशी, चौहान, शीशोदिया, श्रीवास्तव, माथुर, अग्रवाल, घूसवाल, माहेश्वरी, आभीर, कुंभकार, मालाकार, चर्मकार आदि 'ब्राह्मण'; जैसे कनौजिया वा द्राविड़ 'ब्राह्मण', वैसे ही राठौर 'ब्राह्मण', माली 'ब्राह्मण', नापित 'ब्राह्मण'। यों राष्ट्रीय जाति का नाम तो एक हो जायगा, तथा स्यात् एकता का भाव भी फैलेगा। किन्हीं स्मृतियों में दशविध ब्राह्मण, जिन मे क्षत्रिय ब्राह्मण, वैश्य ब्राह्मण, शूद्र ब्राह्मण, भी शामिल हैं, कहे भी हैं। पर संदेह यह है कि यदि ऐसा लोगों ने अपने को कहना आरंभ किया, और सब से अपने को 'उच्चतम' जाति भी मान लिया

1. Division of labour.

तो भी परस्पर संघर्ष, द्वेष, प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या कैसे मिटेगी; कर्म विभाग और वृत्ति विभाग, जो वर्ण विभाग का अत्यावश्यक अंग है, कैसे सधैगा ?

इस लिये मैं तो 'चित्रगुप्त' जी से, आज, उन की पूजा के दिन, हृदय से यही प्रार्थना करता हूँ कि वह सात्त्विक, आध्यात्मिक, बुद्धि दीजिये, जिस से आप के सच्चे स्वरूप को पहिचान कर, यह भारतीय महा-जन समुदाय, जो वसिष्ठ-सौदास के अन्योऽन्यकृत पागल-पन से अंधा और अति दुर्दशाग्रस्त हो रहा है, फिर आप के हृदयस्थ 'गुप्तचित्र' की पूजा उपासना करे, सद्बुद्धि पावे, और नरक से बच कर विष्णु लोक के सुख का अनुभव करे ।

चित्रगुप्त का आध्यात्मिक अर्थ ।

ऐसी बुद्धि के जागने के लिये, चित्रगुप्त का आध्यात्मिक अर्थ जानना उचित और उपयुक्त है ।

जैसे 'माया' शब्द, पदों का व्यत्यास कर के बना है, वैसे ही चित्रगुप्त शब्द भी । 'या-मा', जो नहीं है, जो असत् हो कर भी सत् के ऐसी भासती है, वह 'माया' । तथा 'गुप्त-चित्र' का ही नाम 'चित्र-गुप्त' ।

महाभारत के अनुशासन पर्व के १९३ अध्याय मे चार पाँच श्लोक मिलते हैं । जैसे खान मे बहुत सा मिट्टी-पत्थर खोद कर थोड़ा सा सोना, चाँदी, जवाहिर मिलता है, वैसे ही इतिहास पुराण मे बहुत से आख्यान माहात्म्यऽादि मे से थोड़े से अध्यात्म-रहस्य-विषयक श्लोक मिल जाते हैं । यम कहते हैं,

> किंचिद् धर्मं प्रवक्ष्यामि, चित्रगुप्त मतं, शुभम् ;
> श्रूयतां चित्रगुप्तस्य भाषितं, मम च प्रियम् ।
> रहस्यं, धर्मसंयुक्तं, शक्यं श्रोतुं महर्षिभिः ,
> श्रद्दधानेन मर्त्येन, आत्मनो हितमिच्छता ।
> नहि पुण्यं, तथा पापं कृतं किंचिद् विनश्यति ;
> पर्वकाले च यत् किंचिद् आदित्यं चाऽधितिष्ठति ।
> प्रेतलोकं-गते मर्त्ये, तत्तद् सर्वं विभावसुः ,
> प्रतिजानाति पुण्यात्मा, तच्च तत्र उपयुज्यते ।

जो कुछ कर्म संसार मे होता है, पुण्य अथवा पाप अथवा अन्य, उस सब का चित्र, सूर्य की 'विभा' मे, प्रभा मे, सदा 'गुप्त', रक्षित, बना रहता है। 'विभा' है 'वसु' धन, जिन का, वे ही 'विभावसु,' ज्योतिर्मय सूर्य द्युस्थानी, तथा विद्युत् अन्तरिक्षस्थानी, तथा अग्नि भूस्थानी ; एक ही के तीन रूप। यह रहस्य वे लोग सुन समझ सकते हैं जो आत्मा पर श्रद्धा करते हैं, सब लोक का आध्यात्मिक हित चाहते हैं, अत एव महर्षिवत् हैं।

इसी भाव के श्लोक आश्रमवासिक पर्व, अ० १६, मे भी हैं।

अविप्रणाशः सर्वेषां कर्मणां, इति निश्चयः।
कर्मजानि शरीराणि, शरीराकृतयः, तथा
महाभूतानि नित्यानि; भूतऽधिपतिसंश्रयात्।
तेषां च नित्यसंवासो, न विनाशो वियुज्यताम्।

संसार की सब वस्तु, पञ्चभूत, द्रव्य, गुण, कर्म, चित्तवृत्ति, आदि, नश्वर और अनित्य होती हुई भी, नित्य इस अर्थ मे हैं, कि उन का संश्रय आश्रय भूतों के अधिपति परमात्मा पर है। जो नित्य पर आश्रित है, वह अनित्य कैसे ? जो वस्तु नित्य से छू गई, नित्य सनातन शाश्वत आत्मा परमात्मा के ध्यान मे आ गई, वह भी नित्य हो गई, चाहे कैसी ही अनित्य हो। पर अनित्य तो प्रत्यक्ष है; इस विरोध का परिहार, इन प्रतिद्वन्द्वियों का समन्वय, कैसे ? तो स्मृति के द्वारा, चेतयति,स्मरति, इति चित्तं। ब्रह्मा का अर्थ महद्-बुद्धि। जिस पदार्थ को सांख्य वेदान्त मे त्रिगुणात्मक बुद्धितत्त्व, महत्तत्त्व, के नाम से कहा है उसी का पौराणिक रूपक ब्रह्मा-विष्णु-शिव की त्रिमूर्ति है।

मनो महान् मतिर्ब्रह्मा विष्णुः शम्भुश्च वीर्यवान्—
पर्यायवाचकैः शब्दैर्महान्आत्मा विभाव्यते। (शान्तिपर्व)
उपलब्धिस्तथा ब्रह्मा पूर्बुद्धिः ख्यातिरीश्वरः,
प्रज्ञा चितिः स्मृतिः संविद् त्रिपुरं च उच्यते बुधैः।
विद्यते स च सर्वस्मिन्, सर्वं तस्मिंश्च विद्यते,
तस्मात् संविद् इति प्रोक्तो महान् वै, बुद्धिमत्तरैः। (वायुपुराण)

यही महद्बुद्ध्यात्मक ब्रह्मा, महानात्मा, समष्टि बुद्धि, पूर्व कल्प की स्मृति

के अनुसार, नयी सृष्टि की कल्पना करती है। सृष्टि फिर फिर उपजती है, मिटती है। बात वही रहती है। यह अनादि-प्रवाह-सत्ता ही अनित्य की नित्यता है। परमात्मा की स्मृति मे, महद्बुद्धि मे, अत एव प्रत्येक जीव के चित्त मे, हृदय मे, सब वेद, सब ज्ञान, सदा बना रहता है। यही तथ्य 'गुप्तचित्र' अथवा 'चित्रगुप्त' है। 'फ़ोटोग्राफ', 'फ़ोनोग्राफ', 'सैनेमा' आदि, इस वैज्ञानिक तथा दार्शनिक रहस्य के प्रत्यक्ष उदाहरण और प्रमाण हैं। पाश्चात्य वैज्ञानिकों के मत से, 'इनडिस्ट्रक्टिबिलिटी आफ़ मैटर्', 'कान्सर्वेशन् आफ़ एनर्जी', 'ट्रान्स-म्युटेशन् आफ़् फ़ोर्स ऐण्ड फ़ार्म',[1] शक्ति-आत्मक और द्रव्य-आत्मक मूल प्रकृति के रूपों का परिवर्तन परिणमन विकरण होता है, मूल का नाश नहीं होता—ये मत भी इसी रहस्य के प्रकाशक हैं। गीता का श्लोक प्रसिद्ध है,

न असतो विद्यते भावो, न अभावो विद्यते सतः।

उपनिषत् के बहुधा वाक्य हैं, 'स सर्वज्ञः, सर्ववित्, सर्वसाक्षी', इत्यादि। थियासोफ़ी की पुस्तकों मे इस अनादि अनन्त चित्र को 'आस्ट्रल लैट्' और 'आकाशिक रेकर्ड',[2] आदि नाम से कहते हैं। पाश्चात्य वैज्ञानिक लोगों का कहना है कि 'लैट्', ज्योति, एक सेकंड मे एक लाख छियासी हज़ार मील की गति से सतत दौड़ती रहती है, और प्रतिक्षण प्रत्येक वस्तु के फ़ोटोग्राफ चित्र को चारो ओर ले जा रही है। दूर के तारों मे रहने वाले जीव, इस क्षण मे, यदि उन की दृष्टि ऐसी तीव्र हो तो, इस पृथ्वी की उस अवस्था का दृश्य देखेंगे जो कई वर्ष पहिले की हो। इत्यादि।

यमस्य दूताश्च तथैव पार्षदाः नारायणस्य, अथ गणाः शिवस्य,
सूर्यस्य रश्मीन् अवलंब्य,सर्वे भूतानि यच्छन् विचरंति सर्वदा।

सूर्य की किरणों पर महावेग से चारो ओर विचरते हुए, यम के दूत, नारायण के पार्षद, शिव के गण, सब जीवों का नियमन करते हैं; यच्छन्, यच्छन्तः, यमयन्तः, नियमयन्तः।

---

1. Indestructibility of Matter, Conservation of Energy, Transmutation of Force and Form.

2. Astral light, akashic record.

परमात्मा के उत्कृष्टतम प्रत्यक्ष स्वरूप, सविता, सूर्य, सावित्री गायत्री के अधिष्ठाता, हैं। "सर्वप्रवह्लिकानामाश्रयः," (निरुक्त), सब अद्भुत आश्चर्य 'पहेलियाँ', उन मे हैं। 'अप्सरा' 'गन्धर्व' आदि सब सूर्य की किरणों के ही भेद हैं। "आपः सरन्ति आभिः इति अप्सरसः, सूर्यस्य रश्मयः; गां धयंतीति गंधर्वाः, सूर्यस्य रश्मयः।" जो पानी खीचैं वे किरणै 'अप्सरा'। जिन मे से दिव्य सूक्ष्म सुन्दर राग निकलै वे किरणै 'गंधर्व', इत्यादि।

आश्चर्याणामनेकानां प्रतिष्ठा भगवान् रविः ;
अतो भूताः प्रवर्त्तन्ते सर्वे त्रैलोक्यसंश्रयाः। म० भा०, शांति, अ० ३७२)

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।
त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वमेव प्रत्यक्षं विष्णुरसि।
त्वमेव प्रत्यक्षं रुद्रोऽसि। (उपनिषत्)

सब भूत सूर्य से ही निकलते हैं। सूर्य ही प्रत्यक्ष ब्रह्मा हैं, हिरण्यगर्भ हैं, विष्णु हैं, शिव हैं। सब सौर सम्प्रदाय की स्मृतिरूप, बुद्धिरूप हैं। जैसे एक व्यक्ति को अपने पाप याद कर के कभी न कभी अवश्यमेव पश्चात्ताप अपनी स्मृति के द्वारा होता है; जैसे पुण्य का स्मरण कर के वैसे ही पश्चाद्धर्ष होता है, वैसे इन जगत्स्मृतिरूप देवता के द्वारा दंड और पुरस्कार भी, सूक्ष्म और स्थूल शरीर मे, जीव को मिलता है। इस का उपबृंहण तो बहुत है, थोड़े मे सूचना मात्र यहाँ की जा सकती है।

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता, परो ददातीति कुबुद्धिरेषा ;
स्वयं कृतं स्वेन फलेन युज्यते, शरीर हे ! निस्तर यत् त्वया कृतम्।

(गरुड़ पुराण)

स्थूल शरीर को छोड़ने के बाद, सूक्ष्म शरीर से, जीव, यमलोक को जाता है, और अपने शरीर से कहता है, 'हे शरीर!, सुख दुःख को देने वाला कोई दूसरा नहीं है ; अपना किया अपना ही फल पाता है ; जो तू ने किया है, उस का अब निस्तार कर !'

इस का भी अर्थ यही है कि जैसे ध्वनि की प्रतिध्वनि होती है, बिम्ब का प्रतिबिम्ब होता है, वैसे ही अपने किये कर्म का, अन्तरात्मा की प्रेरणा से ही,

पुण्यात्मक वा पापात्मक क्रिया वो क्षोभ की प्रतिक्रिया प्रतिध्वनि प्रतिक्षोभ होता है। उस का भी मूल कारण यही है कि सर्वव्यापक आत्मा एक है, इस लिये जो दुःख इस बुद्धि से दिया जाता है कि 'दूसरा' कोई है, वह 'दूसरा' कोई वस्तुतः न होने से, 'अपने आप' को वापस आता है।

क़ानून जानने वाले लोगों का कहना है कि हर क़ानून के लिये 'सैन्क्शन', sanction, नियंता, निग्रहीता, नियोजक शक्ति, प्रतिभूः, अर्थात् दण्ड, चाहिये। यह शक्ति कई प्रकार की होती है। सामाजिक—"परस्परभयात्केचित् पापाः पापं न कुर्वते"। राजकीय, धार्मिक, क़ानूनी—"राजदण्डभयात् केचित् पापाः पापं न कुर्वते"। पारलौकिक—"यमदण्डभयात् केचित् पापाः पापं न कुर्वते"। पर इन सब का मूल प्रवर्त्तक प्रयोजक आत्मा ही है, "सर्वेषामेव दण्डानां आत्मा मूलप्रयोजकः"। कोई तो एक दूसरे के परस्पर भय से, पाप नहीं करते, कोई राजदण्ड के भय से; कोई यमदण्ड के भय से; पर, अन्ततो गत्वा, सब भयों का मूल प्रयोजक आत्म-दण्ड का भय है।

वेद के वाक्य, "अग्ने नय सुपथा राये," "अग्निमीळे पुरोहितं," "अग्न आयाहि वीतये", "अग्निर्वै देवानां मुखं," ये सब इसी ज्योतीरूप आत्मा के द्योतक हैं। बाह्य अग्न्यादि भी आत्मस्वरूपत्वेनैव अभिलषित हैं। "अग्रे नयति" इति अग्निः, जो आगे ले चले। इसी लिये पद्मपुराण के श्लोक मे चित्रगुप्त के लिये कहा है, "अतींद्रियज्ञानी देवाग्न्योर्यज्ञभुक् स वै"। यमराज धर्मराज जो पुण्यऽपुण्य का फलदान करते है, वे सूर्य के पुत्र इसी कारण से हैं कि वे भी सूर्य के रूपांतर ही हैं।

> न यमं यम इत्याहुर्, आत्मा वै यम उच्यते;
> आत्मा संयमितो येन, यमस्तस्य करोति किम्? (मनु; म० भा०)

यम को यम नहीं कहते, आत्मा ही का नाम यम है। जिस ने आत्मा का संयमन कर लिया, बाहिरी यम उस का क्या कर सकता है?

> यमैश्च, नियमैश्चैव, यः करोतिआत्मसंयमम्,
> स ऽऽदृष्ट्वा तु मां याति परं ब्रह्म सनातनम्।

यम स्वयं कहते हैं कि जो यम-नियमो से आत्मसंयम करता है, वह मेरे पास आये बिना, मुझ को देखे बिना, सनातन ब्रह्म मे लीन हो जाता है।

चित्रगुप्त जी ब्रह्मा अर्थात् सूर्य के समग्र काय से उत्पन्न हो कर यम के मुख्य लेखक हैं, उस का भी अर्थ यही है। इसी लिये उत्तरगीता मे कहा है,

कायस्थोऽपि न कायस्थो, कायस्थोऽपि न जायते,
कायस्थोऽपि न भुंजानः, कायस्थोऽपि न बाध्यते।

यह आत्मा, काय मे, शरीर मे, स्थित हो कर भी, शरीर मे नहीं है; शरीर रूप से जन्मता हुआ भी नहीं जन्मता, खाता, पीता, सुख दुःख भोगता हुआ भी, नहीं भोगता; शरीर के बंधनो से बद्ध हो कर भी, बद्ध नहीं, बाधित नहीं है।

एक ही देव के सब देव रूपांतर हैं, उसी से प्रकट होते हैं, उसी मे लीन हो जाते हैं। दुर्गा-सप्तशती मे इस का रूपक बहुत अच्छा बांधा है। मुख्य तात्त्विक देवी, चेतना, चित्, चिति है, अर्थात् आत्मा वा आत्मबुद्धि है।

या देवी सर्वभूतेषु चेतना इति-अभिधीयते,
चिद्रूपेण च या कृत्स्नम् एतद् व्याप्य स्थिता जगत्।
चयानत्, सर्वभावानां सदा सर्वत्र सर्वथा,
चितिः; चित्तं, तथा च अस्याः, स्थानं आविष्कृतेः ननु।
यत् तत् सत्त्वगुणं, स्वच्छं, स्वांतं, भगवतः पदम्।
यद् आहुर्वासुदेवाऽख्यं, चित्तं तन् महदात्मकम्। (भागवत)
स्वांतं हृन् मानसं मनः (अमर कोष)।

अधिभूतस्वरूपेण तस्यैव महान् इति संज्ञा, अध्यात्मरूपेण चित्तं, उपास्य-रूपेण वासुदेवः, अधिष्ठाता तु तस्य क्षेत्रज्ञः (चितिः)। (श्रीधरी टीका)

सब अनंत भावों का उस मे सदा संचय बना रहता है, इस लिये उस को चित्-शक्ति कहते हैं। उस के विशेष आविष्कार के स्थान का नाम चित्त। स्वांत, हृन्, मानस, मन, ये भी उसी चित्त के नामांतर हैं। वही पदार्थ अधि-भूतरूप से महान्, अध्यात्मरूप से चित्त, उपास्य रूप से वासुदेव कहलाता है। सब का अधिष्ठाता क्षेत्रज्ञ चित् है।

डाक्टरी किताबों मे ऐसा वर्णन मिलता है कि कभी कभी आदमी डूब गये

हैं, समझा गया कि मर गये; बहुत देर के बाद चिकित्सकों के यत्न से फिर होश में आये। उन्हों ने अपना अपना अनुभव कहा है। एक क्षण तो भारी पीड़ा हुई। ऐसा जान पड़ा कि मस्तिष्क में आग लग गयी। इस के बाद बेहोशी और शांति। फिर अपने जीवन का समस्त इति-वृत्त, जैसे 'सैनेमा' में, आँख के सामने आया। फिर बेहोशी हो गयी। फिर इस संसार में पुनर्वार जागरण हुआ और मर कर जीये। यदि न लौटते, तो जीवन के इतिवृत्त में से, पुण्य और पाप की मीज़ानें ले कर, प्रेतलोक और पितृलोक में फल का अनुभव कर के, दूसरा जन्म यहाँ लेते।

यं यं वापि स्मरन् भावं, त्यजति अन्ते कलेवरं,
तं तमेव एति, कौंतेय !, सदा तद्भावभावितः। (गी०)

जैसे, दिन भर काम कर के, सोने के समय, काम-काजी आदमी, दिन के काम की मन में उद्धरणी कर के, कल सबेरे क्या करूँगा यह विचार कर, सो जाता है, और रात्रि में स्वप्न तरह तरह के देख कर, सबेरे उठ कर, वही पूर्व-विचारित काम आरम्भ करता है, वही दशा मरण, तदनन्तर सूक्ष्मलोकऽनुभव, और पुनर्जन्म की, बृहत्परिमाण से है। 'स्मरन्' शब्द यहाँ भी गीता के श्लोक का स्मरणीय है। चेतयति, स्मरति। 'चित्रगुप्त' का 'चित्र' भी प्रायः चित् का ही रूपान्तर है; जो 'चयनीय' है, 'चित्त' में 'संचित' है, 'चित्रित' है।

यह सब सार्वदिक सार्वकालिक शाश्वत चित्र आकाश में व्याप्त हैं, जैसे अंधकार में भी अति सूक्ष्म प्रकाश; परमात्मा की त्रिकाल-व्यापिनी त्रिकाल-संग्राहिणी बुद्धि-रूप हैं, और बुद्धि तो परमात्मा का रूपान्तर ही है; इस लिये परमात्मा की, 'खं ब्रह्म' की, आकाश रूपिणी 'काय' है और 'काय-स्थ' है।

चित्रगुप्त की व्याख्या, सूफ़ियों ने भी बहुत अच्छी की है।

लौहि महफ़ूज़स्त दर् मानी दिलत्;
हर् चि मी ख्वाही शवद् ज़् हासिलत्।
दर हक़ीक़त् ख़ुद तु ई उम्मुल् किताब;
ख़ुद, ज़ि ख़ुद, आयाति-ख़ुद रा बाज़ याब।

'लौहि महफ़ूज़', छिपा हुआ चित्रपट, 'हिफ़ाज़त से महफ़ूज़', गुप्त,

रक्षित---यह तो तुम्हारा दिल, तुम्हारा 'हाफ़िज़ा', तुम्हारी स्मृति, चित्त ही है। जो कुछ चाहो सब इसी से तुम को मिल सकता है। सब किताबों की माता (सर्वज्ञानमय वेद की माता, महद्-बुद्धि, अक़्लि-कुल) तुम आप ही हो। अपने आपे के सम्बन्धी आयतों को, सूक्तों को, ऋचाओं को, अपने आपे में से, आत्मा में से, ही खोज निकालो। मनुष्य की स्मृति, मनुष्य का हृदय, चित्त, ही तात्त्विक वास्तविक आध्यात्मिक 'महाफ़िज़-इ-दफ़्तर', 'रेकार्ड-कीपर', मूल 'चित्रगुप्त' है। "सर्वासां विद्यानां हृदयं एव एकऽयनं", "हृदि अयं तस्माद् हृदयं", (उप०); अपना हृदय ही सब विद्याओं का भांडार है; 'अयं', आत्मा, हृदय में है, इसी से इस का नाम 'हृदय' है।

यह जो व्याख्या की गयी, इस का यह मतलब न समझना चाहिये कि तत्तद्भावऽभिमानी, तत्तद्भूतऽभिमानी, परमात्मा की तत्तत्कला के अभिव्यंजक, व्यक्तिरूप मूर्त देवता नहीं ही हैं। यह मतलब नहीं है। "आत्मैव देवताः सर्वाः", वैसे ही 'आत्मैव मानवाः सर्वे' भी। पर मनुष्य के व्यक्तित्व और मूर्तत्व में, और देवों के मूर्तत्व व्यक्तित्व में, भेद है। उस के विस्तार में पड़ने का यह अवसर नहीं। निष्कर्ष यह कि सब से अधिक उपयोगी मूल अर्थ, 'चित्रगुप्त' का, आध्यात्मिक है।

यदि 'चित्रगुप्त' का तात्त्विक स्वरूप ऐसा है, तो सौदास राजा का, उनकी पूजा अर्चा कर के, धर्मराज यमराज से विष्णुलोक पाना कुछ अनुचित नहीं हुआ। जिस ने चित्रगुप्त के वास्तविक रूप को पहिचान कर उन की भक्ति की, उस ने सब पापों के पश्चात्ताप, प्रख्यापन, और प्रायश्चित्त के मार्ग पर पैर धरा। और गीता में कृष्ण ने कहा ही है कि कैसा भी दुराचारी हो, पर पश्चात्ताप, प्रख्यापन, प्रायश्चित्त कर के 'मैं' की, आत्मा की, 'अनन्य' भक्ति करै, तो जानो कि वह साधु हो गया, अब उस का व्यवसाय, निश्चय, पुण्यात्मक ही है। इस लिये, हे अन्तर्यामी स्वरूप, सब का हाल जानने वाले, चित्रगुप्त! आप को नमस्कार है। आप सब के कार्य के भीतर स्थित 'कायस्थ' हो, सब के साक्षी हो, विचित्र लेखक हो, सब वस्तुओं, कार्यों, अनुभवों के अनंत चित्रों को सदा गुप्त सुरक्षित रखते हो, (गुप् रक्षायां), यम के हृदयरूप हो, यम का

सब कार्य करते हो, सब के पालक हो, आप को पुनर्वार नमस्कार है, आप सब को शांति दो।

अपि चेत् सुदुराचारो, भजते मां अनन्यभाक्,
साधुरेव स मंतव्यः, सम्यग्व्यवसितो हि सः।
चित्रगुप्त ! नमस्तुभ्यं आत्मस्वान्तस्वरूपिणे,
गुप्तसर्वस्वचित्राय, सर्वान्तर्यामिणे नमः।
काये स्थिताय सर्वेषां, साक्षिणे सर्वकर्मणाम्,
लेखकाय विचित्राय, यमकार्यकराय च,
यमस्य हृदयायैव, नमस्ते धर्मरूपिणे,
सर्वेषां पालकोऽसि त्वं, नमः शान्तिं प्रयच्छ नः !

॥ ॐ ॥

॥ ॐ ॥

४. सब धर्मों मज़हबों की तात्त्विक एकता ।

सर्व-धर्म-समन्वय ।

(विशेषतः हिन्दू-मुस्लिम-ईसाई की)

[बनारस मे, तारीख़ १३-१४-१५ अक्टूबर १९२३ ई० को, संयुक्तप्रान्त (मुमालिक मुत्तहिदा) की राजनीतिक (सियासती) कान्फ़रेन्स हुई । स्वागत-समिति (कमेटी इस्तिक़बालिया) के सभापति (सद्र) की अवस्था (हैसियत) से मुझे व्याख्यान (खुतबा) करना पड़ा । उसका आशय (मज़मून) यह है ।]

ॐ परमात्मने नमः ।

बिस्मिल्लाह अर्रह्मानर्रहीम ।

सज्जनो, दोस्तो !,

मैं स्वागतकारिणी समिति की ओर से आप लोगों का हृदय से धन्यवाद देता हूँ, दिल से आप लोगों का शुक्रिया अदा करता हूँ, कि आप लोग तकलीफ़ उठा कर, कष्ट सह कर, यहाँ पधारे हैं, तशरीफ़ लाये हैं। हम लोगों से आप की सेवा कुछ नहीं बन सकी है, आप को आराम देने का हम लोग कुछ इन्तिज़ाम नहीं कर सके हैं, इस का हमें बहुत अफ़सोस है, और इस के लिये हम आप से माफ़ी मांगते हैं।

क्षमापन ।

इन्तिज़ाम अच्छा न हो सकने के कई कारण, सबब, हैं। न्यौता तो ज़रूर परसाल से ही दिया हुआ था, पर आप जानते हैं कि काम की भीड़ कैसी रही। गया कांग्रेस (दिसम्बर, १९२२) के बाद यहाँ म्यूनिसिपल् इलेक्शन् हुए, उस के

बाद बोर्ड के काम का बोझ नये मेम्बरों पर, जो कांग्रेस कमेटी के भी कार्य-कर्त्ता थे, बहुत बड़ा आ पड़ा, और मेरे ऊपर चेयरमैन का काम रख दिया गया। कौंसिल के मसले पर (कि कांग्रेस के सदस्य, नई लेजिस्लेटिव कौंसिलों मे जायँ या नहीं) जो मतभेद सारे देश मे हो रहा था, उस से भी बड़ी परीशानी थी, और कांग्रेस के काम से जनता का मन उचट रहा था। बम्बई मे आल् इंडिया कांग्रेस-कमेटी बैठी, एक राय क़ायम हुई ; उस को उलटने के लिये (विशाख-पत्तन) विजागापट्टम मे बैठक हुई, मगर 'स्पेशल' कांग्रेस करने की राय ही क़ायम रही। कहाँ हो, इस मे दिक्क़तें पेश आईं ; बम्बई मे बैठक करने की बात हुई ; फिर बनारस मे बैठक करने की भी एक बार बात हुई ; फिर इलाहाबाद मे ; अन्त मे दिल्ली मे जलसा करना निश्चय हुआ। इसी ओर सब का मन लगा हुआ था कि देखें दिल्ली मे क्या होता है। बनारस के आदमियों ने दिल्ली जाने के पहिले प्रांतीय कान्फ़रेन्स के लिये कुछ ध्यान देना शुरू किया, और 'रिसेप्शन कमेटी' की एक दो बैठकें हुई; और इन्तिज़ाम की कुछ तजवीजें भी सोची विचारी गईं ; पर मन दिल्ली की तरफ़ खिंचा था। दस बारह दिन दिल्ली मे लग गये। सफ़र से, और ख़ास कर वहाँ की बहसों और हुज्जतों से, निहायत थक कर लोग घर को लौटे। किसी किसी तरह समझौता हो गया, इस की तो, खुशी ज़रूर हुई, पर बीमारी का ज़ोर बहुत बढ़ा। घर घर मे 'लँगड़ा' बुखार—काम करने वालों मे अक्सर बीमार और गिरस्ती के झगड़ों से परीशान—वक्त निहायत तङ्ग—शहर का रोज़गार भी मन्दा—उस से शहर वालों को भी ज़्यादा तकलीफ देने की हिम्मत कम—इन वजहों से हौसिले बहुत पस्त हो रहे थे। और हम मे से जो लोग कुछ बूढ़े हैं या हो चले हैं, वे तो यह सोचने लगे कि अभी तो दिल्ली मे 'स्पेशल' कांग्रेस हुई ही है, और दूसरी, दो महीना बाद, कोकनाडा मे होगी, अगर कुछ दिनो के लिये यह जल्सा मुल्तवी कर दिया जाता तो अच्छा। पर हमारे जवान काम करने वालों ने हिम्मत बाँधी, और ज़ोर दिया कि बंधी तारीख़ों मे जल्सा होना ही चाहिये। यह इन लोगों की हिम्मत व मिहनत का नतीजा है कि बनारस के लोगों को प्रान्त भर के प्रतिनिधियों, नुमाइन्दों, के दर्शन करने का सौभाग्य, खुश-क़िस्मती, आज मिल रही

है। पर ज़रूर है कि हम लोगों से कुछ भी खातिरदारी आप लोगों की नहीं बन पड़ी है ; इस से फिर फिर क्षमा, मुआफ़ी माँगता हूँ।

स्वागत कारिणी समिति के सभापति की हैसियत से तो मुझे और कुछ कहने की ज़रूरत नहीं है। मिहमानदारी ही की फ़िक्र हम को करनी है। कांफरेंस का जो राजनीतिक काम है उस के बारे मे, जल्से के सभापति मश्विरा अपने व्याख्यान मे देते हैं; ऐसी रिवाज है हम सब को भारी दुःख है कि जिन हर्-दिल-अज़ीज़, सर्वप्रिय, सज्जन, जवाहिरलाल जी को, हम लोगों ने सभापति निश्चय किया था, वे नाभा के क्लेशों के बाद, प्रयाग मे आ कर बहुत बीमार हो गये हैं, और यहाँ नहीं आ सके। इसी से हमारा सारा जल्सा फीका मालूम हो रहा है। उन्हों ने इस बीमारी की हालत मे भी अपना व्याख्यान लिख कर भेज दिया है। हमे उसी से सब्र (सन्तोष) करना पड़ेगा। मै यही कह कर अपना वक्तव्य समाप्त करना चाहता था ; पर एक दस्तूर यह भी चला आता है, कि स्वागत समिति का सभापति भी कुछ अपनी राय कहा करे ; इस दस्तूर को मानता हुआ, दो बातों पर मै अपने कुछ खयाल आप के सामने रक्खूँगा, और आप का खयाल, उन की तरफ़ रुजू कराऊँगा।

स्पेशल कांग्रेस के आगे दो झगड़े।

दिल्ली की कांग्रेस, कौंसिल के झगड़े का निपटारा करने के लिये बुलाई गई, पर वह बैठने न पाई थी कि एक और ऐसा झगड़ा देश मे नये सिर से उठा, यानी मज़हबी झगड़ा, जिस के आगे कौंसिलों का झगड़ा बच्चों का खेल हो गया, और सारा काम कांग्रेस का, जो उस छोटे झगड़े से रुक रहा था, इस बड़े झगड़े से बिल्कुल बन्द ही हो गया। इस लिये दिल्ली की कांग्रेस के आगे बजाय एक के, दो भारी मसले आ पड़े।

कौंसिलों की बात।

दोनो बातों पर उस ने समझौता कर दिया। कौंसिल की बात मज़हबी झगड़ों की बात के मुक़ाबिले कम ज़रूरी है। इस लिये थोड़े मे मै उस की चर्चा

पहिले कर देता हूँ। देश की हालत देखते हुए यह ज़रूर था कि स्वराज पार्टी के जो लोग 'नान-को-आपरेशन' की तबीयत, असहयोग की दृढ़ता का भाव, सत्य पर आग्रह का, सत्याग्रह का, 'स्पिरिट आफ आपोज़िशन', अन्याय के विरोध का भाव, ले कर, कौंसिलों मे जा कर, क़िस्मत-आज़माई करना चाहें, उन को मौक़ा दिया जाय, उन के रास्ते मे कांग्रेस की किसी दूसरी पार्टी की ओर से कोई रुकावट न डाली जाय। यह धीरे धीरे साफ़ होता जाता है कि स्वराज पार्टी क्या तरीक़ा अख़्तियार करेगी। सम्भव है, मुमकिन है, कि लोकमान्य तिलक जी के प्रकार, 'रेसपान्सिव् नान-को-आपरेशन्', यानी पारस्परिक-असहयोग, को बर्तें। मेरा निज का ख़याल हमेशा यही रहा है कि अगर कौंसिल मे लोग जायँ तो इसी 'पालिसी', नीति, को पकड़ें। भारतवर्ष के राजनीतिक नेताओं मे बहुत से अच्छे अच्छे लोग हो गये हैं, जिन्हों ने अपने वक़्त मे अच्छे अच्छे काम किये और देश को आगे बढ़ाया। पर दो ही नेता ग़ैरमामूली हुए हैं, अर्थात् तिलक जी और गांधी जी, जिन्हों ने नये प्रकार, कहने ही के नहीं, बल्कि कुछ करने के भी, निकाले। इन दोनों नेताओं की राय मानने के योग्य है। और देश काल अवस्था के अनुसार, इन मे जरूरी घटाव बढ़ाव कर दिया जाय, तो इन मे कोई विरोध, कोई इख़्तिलाफ़, भी नहीं रहता। बल्कि सिर्फ़ काम का बँटवारा हो जाता है। कौंसिलों के भीतर से, स्वराज दल वाले, नौकरशाही पर दबाव डालते रहें, और अगर बन पड़े और मौक़ा मिले तो 'टोटल् आब्स्ट्रक्शन्' आदि भी करने की कोशिश करें; और बाहर से सत्याग्रह दल के लोग भी यथासंभव, ख़ास ख़ास बातों को ले कर, ख़ास ख़ास जगह, असहयोगात्मक सत्याग्रह के ज़रिया से भी, जनता के हक़ों की रक्षा करें, और नौकरशाही पर दबाव डालें, जैसा नागपुर में हुआ। इस तरह दोनों दल, एक दूसरे का विरोध न कर के, एक दूसरे की सहायता कर सकते हैं। किन्हीं लोगों ने यह एतराज़, यह आपत्ति, किया है कि तिलक जी ने 'पारस्परिक सहयोग' (रेस्पान्सिव को-आपरेशन) कहा था, 'पारस्परिक-असहयोग' (रेस्पान्सिव नान्-को-आपरेशन) नहीं। पर उन के राजनीतिक शिष्य श्री केलकर जी ऐसे नेता ने स्वयं 'पारस्परिक असहयोग' शब्द को

मान लिया है। स्पष्ट, साफ़ है कि मतलब अभिप्राय है दोनों का बिल्कुल एक है।

परस्पर सहयोगऽसहयोग।

बात तो यह है कि 'पारस्परिक', बाहमी, शब्द के मानी ही यह हैं कि तुम हमारे फ़ायदे की बातों मे हमारे साथ सहयोग, मवालात, करोगे तो हम भी तुम्हारे फ़ायदे की बातों मे तुम्हारे साथ सहयोग करेंगे, और अगर तुम हमारे फ़ायदे की बातों मे हमारे साथ असहयोग, तर्क-इ-मवालात, करोगे तो हम भी तुम्हारे फ़ायदे की बातों मे तुम्हारे साथ असहयोग करेंगे—यह अर्थ हर तरह से 'रिस्पांसिव' (जवाबी, बाहमी, उत्तरात्मक) शब्द से ही पैदा होता है, चाहे आप उस के साथ 'सहयोग' ('को-आपरेशन') शब्द लगावैं, चाहे असहयोग ('नान-को-आपरेशन')। ये दोनो एक ही चीज़ के दो पहलू (पक्ष) हैं। पर, हां, ज़माने के लिहाज़ से, परिस्थिति की, समय की, दृष्टि से, इस समय असहयोग के पहलू पर ज्यादा ज़ोर देने की ज़रूरत है। यह ख़ूब याद रखना चाहिए, क्यों कि इस को हम लोग कभी कभी भूल जाते हैं, कि महात्मा गांधी जी ने भी असहयोग का अर्थ सम्पूर्ण और सर्वथा असहयोग कभी नहीं किया। खास ख़ास बातों मे ही असहयोग उन्हों ने बताया। स्कूल कालिज से असहयोग को एक तरह से उन्हों ने स्वयं रोक दिया। खद्दर प्रचार ही पर सब से बड़ा ज़ोर उन का रहा। जेल मे पैर रखने से पहिले अंतिम शब्द उन का 'खद्दर' ही रहा।

वेदव्यास और ईसा।

ईसा मसीह ने कहा है कि 'जैसा तुम चाहते हो कि लोग तुम्हारे साथ व्यवहार करैं, वैसा तुम उन के साथ व्यवहार करो'। यही अर्थ महाभारत मे अधिक पूरा किया है।

न तत् परस्य कुर्वीत, स्याद्अनिष्टं यद्आत्मनः;
यद्यद्आत्मनि च इच्छेत, तत् परस्यऽपि चिंतयेत्।

पर यह नियम आत्यंतिक रीति से सन्यासी के ही लिये है, गृहस्थ के लिये नहीं। गृहस्थ इस को कुछ शर्तों से, कम कर के ही, बरत सकता है। और गांधी जी के असहयोग में इस नियम का अनुकरण नहीं है। वह तो चीज़ ही दूसरी है। तिलक जी की 'पालिसी' के नियम को, पुराने संस्कृत के शब्दों को थोड़ा सा बदल कर, यों कह सकते हैं कि "शठं प्रति (शठं नहीं) हठं कुर्यात्, सादरं प्रति सादरं"। तुम्हारे साथ जैसा दूसरे करैं, वैसा तुम भी उन के साथ करो; पर हाँ पालिटिक्स मे 'शांति' से, बिना हाथा-पाई के, बिना अस्त्र-शस्त्र के, और जायज़, उचित, अमन के उपायों से—यह शर्त भी लगा कर। इतना समझ लेने पर, गांधी जी और तिलक जी की पालिसी मे अन्तर बहुत थोड़ा रह जाता है। उसूल का नहीं, बल्कि केवल विषयों का, कि किस किस बात मे, किस किस अवस्था मे असहयोग किया जाय। यथा, गांधी जी कौंसिलो का सर्वथा त्याग ही उचित समझते हैं, और तिलक जी के अनुयायी कौंसिल-प्रवेश मात्र के सहयोग को उचित समझते हैं, और वहाँ जा कर यथाशक्ति गवर्मेंट के स्वार्थों से असहयोग और प्रजा के हित की बातों म गवर्मेंट से सहयोग।

इन सब बातों को विचार कर, यदि कौंसिल के विषय मे भी कुछ असहयोगी लोग तिलक जी की नीति आज़माना चाहे तो अनुचित नहीं।

भक्ति-वफ़ादारी की क़सम।

'लायल्टी, वफ़ादारी, राजभक्ति, की क़सम, शपथ, जो कौंसिलों मे लेनी पड़ती है, उस के बारे मे कुछ मित्रों को बड़ा संदेह है, और संदेह होना उचित ही है। पर उस संदेह को शांत करने का उपाय यह है कि जो लोग कौंसिलों मे जायँ वे पहिले से भी इश्तिहार कर दें, और बाद मे, आपस के सलाह मशिवरे से, उचित उपाय और मौक़ा विचार कर, कौंसिलों के भीतर भी इस बात को ज़ाहिर कर दें, कि वफ़ादारी और भक्ति दो-तरफ़ा होती है, यक-तरफ़ा नहीं; हम आप के भक्त और वफ़ादार तब तक हैं जब तक आप भी हमारे भक्त और वफ़ादार हैं। और भी; वफ़ादारी के मानी यह नहीं है कि राजा हो या प्रजा हो, मालिक हो या नौकर हो, छोटा हो या बड़ा हो, अपना हो

या पराया हो, किसी की भी अनुचित बातों और कारवाइयों मे भी हम केवल 'हाँ में हाँ' मिलावेंगे, और उस के खराब कामों मे भी मदद देंगे। बल्कि यह कि उस को नेक राय, सलाह, परामर्श, देंगे, अच्छी राह दिखावेंगे, बुरे रास्ते मे जाने से रोकेंगे; जो ही हर भले आदमी का हर दूसरे आदमी के साथ सच्ची वफ़ादारी का फ़र्ज़ है। अगर कुछ ऐसी घोषणा और इश्तिहार का बन्दोबस्त कर लिया जाय तो प्रायः इस शंका का समाधान हो जायगा।

मज़हबी झगड़ा।

अब मैं दूसरे और भारी झगड़े का ज़िकर करूँगा। (१) खद्दर, (२) 'नान-वायोलेंस', अहिंसा, शांति, (३) अछूतोद्धार, (४) मज़हबी एका, ये चार चीजें स्वराजकी जड़ बुनियाद हैं—ऐसा महात्मा गांधी जी हमेशा कहते रहे हैं। खद्दर के मानी रोज़गारी स्वराज; अछूतोद्धार के मानी, मुहब्बत और इंसानियत का, झूठे अहङ्कार, ग़र्रा, और झूठी पवित्रता, तहारत, के ऊपर स्वराज; शांति के मानी, बुद्धि अक़ल का हाथ पैर पर स्वराज; मज़हबी एका के मानी दिल की नेकनीयती का बदनीयती के ऊपर स्वराज। जितनी जाँच कीजिये उतना ही निश्चय से, यक़ीनन्, मालूम होगा कि मज़हबी एका होना, मज़हबी झगड़ों का मिटना—यह दूसरी सब भलाइयों की जड़ बुनियाद है।

हर आदमी अच्छी तरह जानता है, और हर आदमी मुँह से कहता भी है, कि जब तक ये आपस के मज़हबी झगड़े जारी रहेंगे, तब तक स्वराज नहीं ही मिल सकता। पर कुछ ऐसी माया है कि यह सब जानते, मानते, बखानते हुए भी, लोग, धर्म-मज़हब के नाम से एक दूसरे का काम बिगाड़ने का जतन, यत्न, कोशिश करते ही हैं; और अपना भी काम बिगाड़ते ही हैं।

इस फ़साद का मूल कारण, असली वजह।

इस झगड़े की जो सूरत इधर हुई है, जो बड़े बड़े फ़साद कई बड़े शहरों और क़स्बों मे हुए हैं, उन को यहाँ बयान करने बखानने की ज़रूरत नहीं। शुक्र का, धन्यवाद का, मक़ाम है, अवसर, है कि दिल्ली की 'स्पेशल' कांग्रेस के

बाद कोई नये फ़साद, उत्पात, उपद्रव, नहीं सुने गये हैं। वहाँ के समझौते का कुछ असर देश मे हुआ, ऐसा मालूम होता है। खास कर उस घोषणा, एलान्, का, जो दोनो मज़हबों के एक सौ मज़हबी तथा राजनीतिक नेताओं के दस्तखत से, मिल कर हुआ। और वह समझौता हर तरह से ग़नीमत है। पर उस को स्थिर, मुस्तहकम, करने के लिये, उस की जड़ मज़बूत करने के लिये, उस को क़ायम रखने के लिये, कुछ और काम की भी ज़रूरत है। और मै दिल से उम्मीद आशा करता हूँ कि वह काम इस कान्फ़रेन्स मे शुरू कर दिया जायगा। मैं ने गया की कांग्रेस मे उस को पेश करने की कोशिश की थी। और मुझे यक़ीन है कि अगर वहाँ यह काम शुरू कर दिया जाता तो इन फ़सादों की नौबत न आती। दिल्ली मे भी मै ने नेताओं का ध्यान इस ओर दिलाने का जतन किया, और आप से भी वही अरज़ करता हूँ।

'स्वराज' शब्द के अर्थ मे भूल।

स्वराज के मीठे लफ्ज़ के पीछे सब लोग मिल कर दौड़े। स्वराज की ठीक ठीक शक्ल सूरत पहिचानने की कोशिश नहीं की। उमेद की थी कि थोड़ी मिहनत से, थोड़े वक्त मे, बड़ी चीज़ मिल जायगी। जब नहीं मिली तो हम लोग एक दूसरे को इलज़ाम देने लगे, और आपस मे लड़ने लगे। हमेशा का दस्तूर है कि जब काम नहीं बनता तो काम करने वाले एक दूसरे को दोष देने लगते हैं। जैसा नीति जानने वालों ने कहा है, "यदि कार्यविपत्तिः स्यात् मुखरस्तत्र हन्यते", जब काम बिगड़ता है तब पेशवा नेता पहिले मारे पीटे जाते हैं। इस लड़ाई की दो सूरतें हुईं। जो शाइस्ता पढ़े लिखे लोग थे उन मे तो सत्याग्रह और कौंसिल के मसलों पर काग़ज़ी और ज़बानी लड़ाई शुरु हुई। और यह लड़ाई जब ज्यादा बढ़ी, तब दूसरे दलों गरोहों मे, जिन्हों ने भीतर भीतर यह समझ रक्खा था कि स्वराज के मानी हमारे ही मज़हब वालों का राज, वह ग़लत मानी वाले स्वराज का बिगड़ा हुआ जोश, आपस की हाथा-पाई, मारपीट, और लूटपाट मे उबल पड़ा।

धर्म-मज़हब के मानी मे भूल।

इस की खास वजह यह है कि जैसा हम लोगों ने स्वराज का मतलब नहीं समझा है, वैसा ही मज़हब-धर्म की भी असल शकल नहीं पहिचानते हैं। अब तक हम लोग एक दूसरों को यही कहते आये कि लड़ो मत, लड़ो मत, मेल करो, मेल करो, नहीं तो स्वराज नहीं पाओगे। इस तरह, स्वराज की मिठाई की लालच से ही जो मेल किया जायगा, वह कब तक ठहर सकेगा? जब तक 'मज़हबों' का मेल नहीं किया जायगा, उन के सिद्धांतों उसूलों का एका, वहदत, तौहीद, व इत्तिहाद, सब को न दिखाया जायगा, तब तक 'मज़हब-वालों' का भी सच्चा मेल कभी नहीं होगा। और जब तक स्वराज की सच्ची शकल सब को नहीं बताई जायगी, और उस का तसफ़ीया समझौता नहीं कर लिया जायगा, तब तक मज़हब वालों धर्म वालों मे, और गरोह-गरोह में, हिन्दुस्तानी-यूरोपीयन मे, हिन्दू-मुसलमान मे, ब्राह्मण-अब्राह्मण मे, स्त्री-पुरुष मे, प्राचीन-नवीन मे, वृद्ध-युवा मे, मालिक-नौकर मे, पूँजीवाल-श्रमजीवी मे, जमींदार-काश्तकार में, दूकानदार-ख़रीदार मे, ज़ात-ज़ात मे, रोज़गार-रोजगार मे, अहल्कार-ग़ैरअहल्कार मे, धनी-निर्धन मे, खेतिहर-मज़दूर मे, पुराणवादी-भविष्यवादी मे, शास्त्रवादी-बुद्धिवादी मे, श्रद्धावादी-युक्तिवादी मे, हमेशा आपस मे बे-एतबारी अविश्वास और अन्-एका और विरोध तफ़र्क़ा बना रहेगा, और दिली मेल और एका से स्वराज के लिये कोशिश न की जायगी; जिस दिली एका के बिना, स्वराज सपने मे भी हम को नहीं मिल सकता है; बल्कि खुले तौर से या छिपे तौर से एक दूसरे का काम रोका जायगा, और जो कुछ एका और मेल होगा वह सिर्फ़ ऊपरी, दिखनावती, बनावटी, और चन्द-रोज़ा होगा। लेकिन, धर्म मज़हब की अस्लियत, तत्त्व, मर्म, पहिचानने से, सब धर्मों मज़हबों का मेल ही मेल देख पड़ेगा; और स्व-राज मे, 'स्व' की अस्ली-सच्ची सूरत पहिचानने से, धर्म-मज़हब की भी अस्लियत मालूम हो जायगी, मज़हबी झगड़े भी मिट जायँगे, और सियासी तफ़र्क़े, राजनीतिक झगड़े, और गरोह गरोह के आपस के शक शुबहे भी रफ़ा हो जायँगे, जिन्हीं परस्पर

अविश्वासों की वजह से हमारी स्वराज की लड़ाई रुक रही है; क्यों कि इस वक़्त हर एक आदमी या गरोह, स्वराज का अर्थ अपने मनमाना लगा रहा है, और भीतर भीतर समझता है कि स्वराज होने पर हम दूसरों को दबावैंगे, या डरता है कि दूसरे हम को दबावैंगे, और इसी लिये सच्चे दिल से काम मे मदद नहीं देता, गो मुँह से सब के सब, यहाँ तक कि अहलकार और यूरोपियन भी, कहते और क़बूलते हैं कि हिन्दुस्तान को स्वराज मिलना ही चाहिये।

मतलबी यारी और असली यारी।

मतलब की यारी, मतलब के साथ बनेगी और बिगड़ेगी ; बल्कि यह कहना चाहिये कि उस मे सदाक़त, सत्यता, निश्छलता नहीं हो सकती ; और इस लिये मतलब को भी बिगाड़ेगी और आप भी बिगड़ैगी ही; बनेगी नहीं। बहुत मोटी बात है, एक ही रोटी अगर आप का भी और मेरा भी लक्ष्य मक़सद है, तो तीसरे से छीनने के लिये तो ज़रूर हम आप मेल कर लें, पर छीन लेने के बाद क्या हालत होगी ? आप खाओगे या मै ? इस पर तो फिर हमारे आप के बीच लाठी चलेगी ? यूरोप की हालत आँख के सामने है। जर्मनी को हराने तक बड़ा मेल था, अब घूराघूरी है[1] इस लिये, रोटी किस चीज़ को कहते हैं, और उस का कैसे आपस मे बटवारा होगा, स्वराज की क्या शकल होगी, कि जिस से किसी गरोह की भी रोटी एक बारगी और सब की सब न मारी जायगी, यह पहिले से ही समझ लेना ज़रूरी है। और इसी समझने के लिये, मतलब की यारी छोड़ कर, असली यारी पकड़ना चाहिये। और स्वराज्य के लिहाज के बिना भी, सब मज़हबों के माननेवालों मे आपस मे मेल इस वास्ते होना चाहिये, कि सब धर्मों, सब मजहबों, के असली उसूल,

---

१ पहिले विश्व-युद्ध (१९१४–१९१८ ई०) के बाद यह १९२३ ई० की हालत थी ; सितम्बर १९३९ मे फिर, पहिले से भी अधिक दारुण और अधिक विस्तीर्ण विश्व युद्ध शुरू हो गया, जो १९४५ ई० मे समाप्त हो कर भी समाप्त नहीं हुआ है।

तत्त्व, सिद्धान्त एक हैं। खुदा परमात्मा एक है; उसी ने सब इन्सानो को बनाया है, और सब इन्सानो के दिल मे बैठा हुआ है; सिर्फ़ खुदी के पर्दे ने उस खुदा को हम से छिपा रक्खा है, स्वार्थ ने परमार्थ को ढाँक दिया है; जो फ़र्क़, भेद, है, वह केवल नामो का ही है। जब हम सब ऐसा समझेंगे, और समझावैंगे, तभी सच्ची यारी होगी, और तभी स्वराज्य वगैरह सभी नेमतैं, उत्तम वस्तु, सहज मे मिल जायँगी।

जैसा ईसा ने कहा है, 'पहिले नेकदिली हासिल करो, उस के बाद और सब चीज़ें तुम्हें आप मिल जायँगी'। खुदा को, आत्मा को, भुला कर, दुनिया की लालच और खोज करने से, दुनिया भी नहीं मिलती, और खुदा तो खोया है ही। पर यदि खुदा को, आत्मा को, सत्य को, हक़ को, आदमी पहिले खोज निकाले, तो उस की बनाई दुनिया तो आप से आप आ जायगी।

सब-धर्मों के उसूल एक हैं।

सूफ़ियों ने कहा ही है,

फ़क़त तफ़ावत है नाम ही का, दर अस्ल सब एक ही हैं, यारो ;
जो आबि-साफ़ी कि मौज मे है, उसी का जल्वा हुबाब मे है।
(हे प्यारे !, यदि भेद है, तौ नाम हि कौ भेद !
जो जल लहरत उदधि मे, वही ओस के स्वेद !)

उपनिषदों मे भी यही कहा है,

गवां, अनेक-वर्णानां, क्षीरस्य अस्ति एक-वर्णता ;
(तथैव सर्व-धर्माणां तत्त्वस्यऽपि एक-वस्तुता)।

गाय बहुत रंग की, पर दूध सब का सफ़ेद श्वेत ही ; वैसे, धर्म बहुत, भाषा बहुत, अस्ल बात, तत्त्व, वस्तु, एक ही।

मौलाना रूम ने कहानी कही है। एक रूमी, एक अरबी, एक ईरानी, एक तुर्की का सफ़र मे साथ हो गया। हज के लिये, कई दिशाओं से आते हुए, एक पड़ाव मंज़िल पर सब मिल गये। आगे चले। चलते चलते भूख लगी। एक दूसरे की ज़बान समझते नहीं थे। इशारे से बात हुई। जितने पास पैसे थे

इकट्ठा किये। क्या खरीदना चाहिये? अरबी ने कहा 'एनब' खरीदना चाहिए, तुर्की ने पुकारा 'उज़म', ईरानी बोला 'अंगूर', रूमी चिल्लाया 'अस्ताफ़ील'। हुज्जत बढ़ी, आवाज़ें ऊँची हुईं, आँखें और चेहरे सुर्ख़ हुए, त्यौरियाँ चढ़ीं, मुश्तें बँधी, मारामारी की नौबत आई। एक मेवाफ़रोश दौरा लिये उधर से निकला; उस ने हुज्जत सुनी; सब का मतलब समझा। दूकानदारों को सब तरह के आदमियों से काम पड़ता है; अपने काम लायक़, कई ज़बानों में चीज़ों के नाम जानते हैं। बोला, लड़ो मत, मेरे पास चारों के पसन्द की चीज़ें हैं, जो जिस को चाहे ले लो। दौरा आगे रक्खा। उस में एक ही क़िस्म का फल था, मगर फ़ौरन् मुश्तें खुल गईं, भवें नीची हुईं, आखों और चेहरों पर मुस्कुराहट छाई, आवाज़ों में मिठास आई। सब ने ख़ुश हो हो कर एक एक खोशा झुप्पा उठा लिया। क्या बात हुई? अंगूर ही को अरबी में एनब कहते हैं, तुर्की में उज़म, फ़ारसी में अंगूर, रूमी में अस्ताफ़ील, पहलवी में दाख, संस्कृत में द्राक्षा; अंगूर ही उस दौरे में भरे थे। इस छोटी हिकायत में सब धर्मों और मज़हबों का सत्त-सार दिखा दिया है—"फ़क़त तफ़ावत है नाम ही का, दर अस्ल सब एक ही हैं, यारो!"। ख़ुदा बड़ा मेवाफ़रोश है, उस को सब का भला मंज़ूर है, सब को मेवा देना चाहता है। सब की बोली समझता है, सब के दिल में बैठा है, पर अगर हम को 'ख़ुदा के मज़हब' 'ईश्वर के धर्म', की पर्वा नहीं, 'हमारा मज़हब' 'हमारा मज़हब' 'हमारा धर्म' 'हमारा धर्म' इसी का हमहमा अहमहमिका है, तो मेवे तो मिलेंगे नहीं, सिर ही टूटेंगे।

अल्ला-परमात्मा, ख़ुदेश्वर (ख़ुदा-ईश्वर), एक है; नाम ही बहुत हैं।

आप यक़ीन मानिये, निश्चय जानिये, जो ख़ुदा आप के और मेरे दिल में बैठा है, उस से मैं ने भी बहुत बार पूछा, और आप भी जब चाहिये पूछ सकते हैं, वह यही जवाब देता है और देगा, कि मैं अरबी समझता हूँ, संस्कृत भी, और अंगरेज़ी, फ़ारसी, ज़िन्द, हिन्दुस्तानी, चीनी, जापानी, नई, पुरानी, सभी

ज़बानों को जानता समझता हूँ। मै ही ने तो उन्हें भी और तुम्हें भी बनाया है। चाहे जिस ज़बान मे मेरा नाम लो, मुझे याद करो, मुझे पहिचानो, मुझ से दुआ मांगो, मै तुम्हारी नेक ख्वाहिशें (शुभ कामना) पूरी करूँगा"। लेकिन अगर हम इस हमहमे मे पड़े कि जो मेरे मुँह से निकले वही सब लोग कहैं, मेरी ही नक़ल सब करैं, मेरा ही मज़हब फैले, मेरी ही ज़बान बोली जाय, मेरा ही हुक्म माना जाय, तो दूसरे भी ऐसा ही झूठा और थोथा हठ और क्रोध करैंगे; और जो गढ़े हम दूसरों के लिये खोदेंगे उन मे हम .खुद गिरेंगे; जो ज़हर दूसरों के लिये बोवेंगे उस से खुद मरेंगे।

इस लिये, भाइयो, दोस्तो !, अगर हम लोग मतलबी नहीं, बल्कि, सच्ची दोस्ती चाहते हैं तो,

ऐ ब चश्मानि दिल् म बीं जुज़ दोस्त, हर् चि बीनी बिदाँ कि मज़्हरि ऊस्त।

दिल की आँख से सब को दोस्त ही दोस्त देखो, जो कुछ देखो उस को उसी अल्ला-परमात्मा का रूप जानो, जिस ने सब को पैदा किया, सब का दोस्त है, सब के दिलों के भीतर बैठा है।

यही अर्थ संस्कृत शब्दों में वेदों मे कहा है,

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मनि एव अनुपश्यति,
सर्वभूतेषु च आत्मानं, ततो न विजुगुप्सते। (ईश उपनिषत्)

जो कोई, सब को आत्मा मे, और आत्मा को सब मे, देखता है, वह फिर किसी से जुगुप्सा (नफ़रत) नहीं करता।

यही अर्थ अरबी शब्दों मे सूफियों ने कहा है,

मन् अरफ़ा नफ़्सहू फ़क़द् अरफ़ा रब्बहू। (हदीस)

जिस ने अपने को पहिचाना उस ने ब्रह्म-रब्ब को पहिचाना। ईसा ने भी यही कहा है, "ही दैट हैज़ सीन मी, हैज़ सीन दी फ़ादर", "इफ़ यी हैव सीन मी, यी हैव सीन माइ फ़ादर", "बिलीव मी, दैट आइ ऐम इन दी फ़ादर, ऐंड दी फ़ादर इज़ इन मी", जिसने 'मै' को देखा उसने जगत्पिता, जगत्सविता, को देखा; 'वह' 'मै' मे है, 'मै' 'वह' मे है[1]।

1. "He that has seen (the) Me, has seen the Father"; "If ye

इसी अर्थ को क़ुरान में दूसरे लफ्ज़ों में कहा है, "नसुल्लाहा फ़अन्साहुम् अन्फ़ुसहुम्", जो अल्ला--परमेश्वर को भूले वे अपनी नफ़्स, अपनी आत्मा, को भूले।

क़ुरान में कहा है,

अल्लाहो बि कुल्ले शयीन् मुहीत्।

अल्ला सब चीज़ों को घेरे है।

वेद-उपनिषत् में ठीक यही कहा है, "ब्रह्म ··सर्वमावृत्य तिष्ठति।"

क़ुरान कहता है, "अल्लाहो नूरुस्समावाती वल् अर्द"। खुदा के नूर से आस्मान और ज़मीन रौशन है; खुदा ही आस्मान और ज़मीन की रौशनी है, रूह है, चेतना है।

ठीक यही मज़मून वेद भी कहता है, "तमेव भांतम् अनु भाति सर्वं, तस्यैव भासा सर्वमिदं विभाति।"

इंजील (बाइबल, न्यू टेस्टामेंट) में कहा है, (ही इज़) "दि लाइट दैट लाइटेथ एवेरी मैन", (He is the Light that lighteth every man), उसी परम चैतन्य के प्रकाश से सब जीवों में प्रकाश है, चेतना है।

क़ुरान की आयत है, "हुवल् अव्वल्, हुवल् आख़िर, हुवल् ज़ाहिर्, हुवल् बातिन्, व हुवा अला कुल्ले शयीन् क़दीर"। ठीक यही अर्थ गीता के श्लोक का है,

अहं आत्मा, गुडाकेश !, सर्वभूताशयस्थितः,
अहं आदिश्च, मध्यं च, भूतानां अंतः एव च।
तद् एजति, तन् न एजति, तद् दूरे, तद् उ अन्तिके,
तद् अन्तर् अस्य सर्वस्य, तद् उ सर्वस्य अस्य बाह्यतः। (उ०)

सब भूतों, प्राणियों, जीवों के भीतर 'मैं' पैठा है, बैठा है। जिस से पूछो वही अपने को 'मैं' कहता है। 'मैं' ही सब के आगे है, सब के बीच में है, सब के पीछे भी रह जाता है। वह चलता भी है, और कभी भी नहीं चलता;

have seen (the) Me, ye have seen my Father"; "Believe me, that I am (is) in the Father, and the Father is in (the) Me."

बहुत दूर भी है, और बहुत नज़दीक भी; सब के भीतर भी है, मगर सब के बाहर। बिना 'मैं' के सहारे के, संबध के, न कोई चीज़ पैदा होती है, न ठहरती है, न मरती है। यह चीज़ पैदा हुई, इस को भी 'मैं' ही पहिचानता है। यह ठहरी है, इस को भी 'मैं' ही पहिचानता है। यह नाश हो गई, लुप्त हो गई, इस को भी 'मैं' ही पहिचानता है। इस लिये सब के आगे, सब के बीच, सब के पीछे, 'मैं' ही है। बिना 'मैं' के, संसार का संभव ही नहीं।

इंजील मे भी यही कहा है—'गाड इज़् दी आल्फा एंड दी ओमेगा', 'आइ ऐम दी फ़र्स्ट एंड् दी लास्ट'। यानी, 'मैं' परमात्मा-.खुदा-गाड् आदि अव्वल है, अन्त आखिर है, मध्य बीच है, हमारे बाहर भी है, भीतर भी (चेतना, होश, जान, की शकल मे) है। तौरेत (बाइबल, ओलड टेस्टामेंट) मे, नबी (ऋषि) इशाया ने और भी स्पष्ट कहा है, "आइ एम गाड, एंड देयर इज़ नन् एल्स"[1]। 'मैं' ही .खुदा है, और कोई दूसरा नहीं है। पारसियों की पवित्र पुस्तक 'उर्मुज़्द्-यश्त' मे कहा है, "मेरा पहिला नाम 'अहमि' (अस्मि) है।"

"ला इलाहा इल्ला अल्ला", इस कलमे का अर्थ, पहुँचे हुए, रसीदा, (ऋच्छतीति ऋषिः) सूफियों ने यही किया है कि "ला मौजूदा इल्ला हू", नहीं है कोई चीज़ सिवा उस .खुदा के। .कुरान मे फिर फिर कहा है, "हुवल् हय्यो ला इलाहा इल्ला हू," व "इन्नि अनल्लाहू, ला इलाहा इल्ला अना", वही आत्मा ही ज़िन्दा है, क्यों कि कोई है ही नहीं सिवा उस के, नहीं कोई मौजूद है सिवा 'मेरे', नहीं कोई .खुदा है सिवा 'मेरे' (अर्थात् सिवा 'मैं' के, चेतना के, आत्मा के), 'मैं' ही ऐन .खुदा है, अल्ला है। "वसेआ रब्बोना कुल्ले शयीन् इल्मा", सब चीजों मे फैला हुआ इल्म (चेतना) ही .खुदा है। सूफियों ने भी अरबी फ़ारसी में ये ही बातें कही हैं, "अन् अल् हक़्" अर्थात् "अहं ब्रह्म अस्मि", 'मैं ही सच है, परमात्मा है, अल्ला है'। "सोऽहम्", यानी वह मैं है, और मैं वह है। "हक़् तु ई", "तत् त्वमसि", सच्चा .खुदा तू ही है,

---

1. "God is the alpha and the omega"; "I am (is) the first and the last"; Bible; Old Testament; "I am (is) God, and there is Zone-Else".

तू ही वह है। "हमा ऊस्त, हमा अज़् ऊस्त, हमा अन्दर् ऊस्त", सब उसी मे है, सब उसी से है, सब वही है। प्रथमा से लेकर सप्तमी और सम्बोधन तक सभी कारक, सभी विभक्ति, ('हुरूफ़ि राब्ति', 'प्रेपोज़िशन')[1] उसी एक 'मैं' मे ही घटते हैं। और क़ुरान मे कहा है कि "लाहुल् अस्मा उल् हुस्ना", यानी सब सुन्दर नाम उसी के हैं। "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति", यह वेद का भी वचन है।

इंजील मे भी ईसा और दूसरे नबियों मुनियों ने कहा है, "आइ एण्ड् माइ फादर् आर् वन्", "यी आर् दि लिविङ्ग टेम्पल्स् आफ़् गाड्", "इन् हिम् आल् थिंग्ज़् लिव् एण्ड् मूव् एंड् हाव् देयर् बीङ्" इत्यादि ; अर्थात् मैं और मेरा पिता, उत्पन्न करने वाला, एक ही है ; तुम्हीं सब परमात्मा के ज़िन्दा मन्दिर हो ; उसी परमात्मा (चेतना) मे सब ही चीज़ें जीती हैं, बसती हैं, और उसी से अपनी सत्ता (अस्तित्व, हस्ती) पाती हैं[2]।

वेदों मे, गीता आदि मे यही बातें फिर फिर कही हैं। सिर्फ़ नमूने के लिये यहाँ कुछ वाक्यों को कहता हूँ।

यस्मिन् इदं, यतश्चेदं, येन इदं, य इदं, स्वयम्,
योऽस्मात् परस्माच्च परः, तं प्रपद्ये स्वयं-भुवं। (भागवत)

जिस मे, जिस मे से, जिस से, जो, यह सब कुछ है, और जो सब से परे भी है, उस को नमस्कार है।

"देहो देवऽालयः प्रोक्तः," "क़लबुल् इन्सान, बैतुर् रह्मान", "शिवोऽहम्," "सर्वं खलु इदं ब्रह्म, तज्जलान्", "नेह नानास्ति किंचन," "एकमेवऽद्विती-यम्," "वहदहू ला शरीकि लहू" "तौहीद-इ-ला-शरीक," "विद्धि त्वमेनं निहितं गुहायां," "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतांतरात्मा", "स वा एष आत्मा हृदि", "हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः," "यद्यद्विभूतिमत् सत्त्वं...मम तेजोंऽशसंभवम्", "ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि नामानि, सर्वाणि रूपाणि, सर्वाणि कर्माणि

1. Preposition.

2. "I and my Father are One", "Ye are the living temples of God"; "In Him all things live and move and have their being".

त्रिभर्त्ति," "स सर्वानुभूः," इत्यादि । कम विचार करने वाले, यक-बारगी ऐसी बात सुन कर घबरा न जायँ, इस लिए क़ुरान मे तो बचा कर कहा है, कि सब 'सुन्दर' नाम उसी के हैं। गीता मे भी सलाह दी है, "ताम् अकृत्स्न-विदो मन्दान् कृत्स्नवित् न विचालयेत्", कोमल बुद्धि के, कम समझने जानने वालों से, ऐसी बात नहीं कहना जिस से उनका मन उद्विग्न हो । पर उपनिषत् मे स्पष्ट कह दिया है कि सभी नाम, सभी काम, सभी रूप उसी एक 'मै' के हैं। प्रत्यक्ष भी है। 'मै' अमुक नाम वाला हूँ। 'मै' यह काम करता हूँ। अमुक रूप वाला 'मै' हूँ। सब रूपों, सब नामों, सब कामों के पीछे, सब के भीतर, 'मै' ही तो है। जो ही कोई नाम या काम या रूप है, उस का मालिक, उस का धरने वाला, करने वाला, एक 'मै' ही तो है।

संत मलूकदास ने इस अर्थ को, हिंदी पद्यों मे अच्छा कहा है,

सभहन के हम, सभै हमारे; जीव जंतु सब मोहि पियारे ;
तीनो लोक हमारी माया, अंत कतहुँ कोऊ नही पाया ;
छत्तिस पवन हमारी जाति; हमही दिन औ हमही राति ;
हमही तरुवर, कीट, पतंगा, हमही दुर्गा, हमही गंगा ;
हमही मुल्ला, हमही काजी; तीरथ बरत हमारी बाजी ;
हमरै क्रोध अरु हमरै काम, हमही दशरथ, हमही राम ;
हमही कृष्ण, हमहि बलराम; हमही रावण, हमही कंस ;
हमही मारा अपना बंस ; हमहि किया 'भारत' विध्वंस ।

यह परमात्मा सब के हृदय मे मौजूद है, इसी बात को, क़ुरान का हवाला दे कर, सूफ़ियों ने कहा है,

बावजूदे कि मुझ्दये तेरा 'नहनो अक़रब'
सफ़हे मसहफ़ पै लिखा था, मुझे मालूम न था ।

आपने यह ख़ुश ख़बर ख़ुद क़ुरान के सफ़हे पर साफ़ लिखा ही है, कि 'मै' तुम्हारे गले की नसों से भी ज़्यादा तुम्हारे नज़दीक हूँ, तौ भी मैं बेख़बर था ।

अवतार–मसीह–रसूल ।

इस्लामी कलमे का जो दूसरा जुज़ है, यानी "मुहम्मदर्रसूलिल्लाह", इस का अर्थ अगर यह किया जाय, यानी "यके अज़् रसूलानि अल्लाह," परमात्मा के भेजे हुए रसूलों, पैग़ाम-बरों, संदेश-हरों, मे से मुहम्मद भी एक है, तो किसी दूसरे धर्म वाले को भी इस से इनकार नहीं हो सकता। क़ुरान की भी यही मंशा है। फिर फिर कहा है, "वले कुल्ले क़ौमिन् हाद", सब क़ौमो के लिये 'हिदायत करने वाले' भेजे गये हैं। "ला नोफ़रिक़ो बईना अहदिम् मिन् रुसुलेह", यानी रसूलों में फ़र्क़ नहीं है, सब बराबर हैं, क्योंकि सब एक ही बात सिखाते हैं। सनातन धर्म का मसला तो मशहूर (प्रसिद्ध) ही है, कि जहाँ जहाँ जब जब ज़रूरत होती है अवतार होते है। क़ुरान मे साफ़ कहा है कि "वमा अर्सल्ना मिन् क़ब्लिका मिर् रसूलिन् इल्ला नूही इलैहे अन्नहू, ला इलाहा इल्ला अना, फ़अबुदून्", यानी परमात्मा कहता है कि मै परमात्मा ने जिस जिस रसूल को, 'भेजे हुए को', संदेश ले जाने वाले को, दुनिया मे भेजा, सब को सिर्फ़ एक ही बात सिखाने को भेजा, यानी यह कि सिवा 'मेरे', सिवा 'मै' के, सिवा आत्मा के, सिवा परमात्मा के, जो सब जीवों के भीतर 'मै' की शकल से, चेतना की, ज्ञान की, सूरत से, बैठा हुआ है, उस के सिवा कोई दूसरा ख़ुदा, दूसरी हस्ती, अस्तिता, दूसरा सत् पदार्थ, नही ही है, और इस लिये उसी परमात्मा की, 'मै' की, मेरी ही, पूजा करो, इबादत करो।

ख़ुदा और ख़ुदी की माया ।

पर नाम-रूप की माया बड़ी प्रबल (ज़बरदस्त) है। ऐन सच है कि "फ़क़त तफ़ावत है नाम ही का", तौ भी, एक आदमी अल्ला, ख़ुदा, रब्ब कहता है। एक आदमी आत्मा, परमात्मा, ईश्वर, ब्रह्म कहता है। और महज़ नाम के फ़र्क़ (भेद) से दिलों मे फ़र्क़ आता है, फ़िर्क़ाबन्दी होती है, दंगा फ़साद होता है। ख़ुदा की हमेशा जवान बीबी ख़ुदी, अपने निहायत क़दीम, बेहद बूढे, अत्यंत पुराण पुरुष, 'यक-ता' शौहर ख़ुदा को दबा लेती है। फ़रिश्ते पर शैतान ग़ालिब हो जाता है। देवता को दैत्य गिरा देता है। परमार्थ और

परार्थ को स्वार्थ खा लेता है। आत्मा को अहंकार निगल जाता है। परमेश्वर को अविद्या, बेवकूफ़ी, घेरती है। ब्रह्म को माया लपेट लेती है। नक़ल मे अस्ल ग़ायब हो जाता है। 'अल्लाहि अल् हादी', अल्लाहि 'अल् मुज़िल' हो जाता है। 'अल्-अलीम', 'जालि-जायल' का जामा पहिन लेता है। ख़ुदा की बीबी ख़ुदी ख़ुदा पर सवार हो जाती है। हिदायत करने वाला, ईज़ाल करने लगता है।

हक़ीक़त, तरीक़त, शरीयत।

जैसे सनातन-आर्य-वैदिक-मानव-बौद्ध-धर्म मे तीन अंग हैं, ज्ञान, भक्ति, और कर्म, वैसे ही ईसा-धर्म मे 'ग्नास्टिसिज़्म, मिस्टिसिज़्म, एनर्जिज़्म', और वैसे ही इस्लाम धर्म मे 'हक़ीक़त, तरीक़त, और शरीयत'।

अगर हम थोड़ा भी ग़ौर करें तो हम को मालूम हो जाय कि उसूली 'अक़ायद' यानी ज्ञानकांड और 'हक़ीक़त' की बातें तो सब मज़हबों मे एक हैं ही; 'इबादात' यानी भक्तिकांड और 'तरीक़त' की बातें भी एक ही हैं; और 'मामिलात' यानी कर्मकांड या 'शरीयत' की ऊपरी सतही बातें भी एक हैं; या एक नहीं तो एक सा जरूर हैं। और जब यह निश्चय से मालूम हो जाय, तब हमारे दिलों से यह तास्सुब, यह हठ, यह दुराग्रह, ज़रूर दूर हो जाय कि हमारी ही नक़ल सारी दुनिया ख्वाह-म-ख्वाह करे।

धर्मों मे समानता।

कोई नमाज़ के नाम से, कोई सन्ध्या के नाम से, कोई 'प्रेयर' के नाम से, उसी एक परमात्मा, अल्ला, 'गाड' (God) की याद करते हैं। कोई निन्नानबे नाम ज़ाहिर और एक नाम छिपा, तस्बीह पर जपते हैं; कोई एक सौ आठ नाम माला पर; कोई दूसरी ज़बान मे उसी के नाम 'रोज़री' पर। ये सब नाम भी, उसी एक परम-आत्मा, अल्लाहि-अकबर, की शक्तियों और व्यक्तियों, 'शुयूनात' और 'कायनात', माधुर्य और ऐश्वर्य विभूतियों, जमाली और जलाली सिफ़ात, की याद दिलाते हैं। संस्कृत मे 'सहस्र-नाम' के कई ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं (जैसे विष्णु-सहस्र-नाम, शिव-सहस्र-नाम, ललिता-सहस्र-नाम)। अरबी में सौ नाम अल्ला के कहे हैं; कई नाम, बड़ी ख़ूबी से, विरोधी द्वंद्वों, ज़िद्दैन, की

शकल के, जोड़ा-जोड़ा कहे हैं, जैसे रहमान और क़ह्हार, शिव-रुद्र; अल्बारी अल्मुमीत, कर्त्ता-संहर्त्ता; अल्अलीम, अल्मालिक, अर्रज़्ज़ाक़ का वही अर्थ है जो सरस्वती (ज्ञान शक्ति), लक्ष्मी (अर्थ-रूपिणी क्रिया शक्ति), गौरी-अन्नपूर्णा (काम-प्राण-रूपिणी इच्छा शक्ति) का है। कोई नबी रसूल पैग़म्बर के नाम से, कोई क्राइस्ट मसीहा के नाम से, कोई ऋषि, महर्षि, अवतार के नाम से, उन अच्छे इन्सानो (मनुष्यों) को ताज़ीम (आदर, पूजा) के भाव से याद करते हैं, उन की स्तुति ('हम्द', 'नात') करते हैं, जिन्हों ने अपने अपने समय मे आदमियों का बहुत बड़ा भला करने का जतन किया, उन की दुनिया और आक़बत (इहलोक और परलोक) बनाने की कोशिश की, और उन के दिलों को बदी से हटा कर नेकी की तरफ़ लगाने की फ़िक्र की। जब जब जहाँ जहाँ जिस जिस कौम मे बदी बढ़ती है, शैतान, 'सेटन', (Satan) असुर, दैत्य, राक्षस का ज़ोर ज्यादा होता है, नेकी घटती है, फ़रिश्ते, सुर, देव, 'एंजल' (angel) कमज़ोर हो जाते हैं, वहाँ वहाँ फिर से धर्म-मजहब को क़ायम और मज़बूत करने के लिये, और अधर्म को और असुरों को दबाने के लिये (अस्ल भीतरी असुर तो अहंकार काम क्रोध लोभ आदि हैं, और बाहरी वे जीव हैं जिन मे ये दोष अधिक मात्रा मे हों) परमात्मा की ओर से कहिये, उस क़ौम की रूह मे से कहिये, (क्योंकि वह रूह भी ख़ुदा का नूर ही है, रूहि-क़ौम, सूत्रात्मा, विश्वात्मा, जात्यात्मा, 'ओवर-सोल्', over-soul है), रसूल, मसीहा, अवतार, हादी, हिदायत करने वाले, सच्ची शिक्षा देने वाले, पैदा होते हैं, जो उस क़ौम के क़लब (हृदय) को, अपने क़लब के नमूने के ज़ोर से बदल देते हैं।

यद् यद् आचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरो जनः।

जो बड़ा करता है उसी की नक़ल छोटा करता है।

यह बात सभी मज़हब वाले मानते हैं कि ख़ुदा है। सब से बड़ा ख़ुदा, अल्लाह-अकबर, महा-देव, परम-ईश्वर, परम-आत्मा, पर-ब्रह्म, इन सब का अर्थ एक ही है; वह ख़ुदा एक है, वाहिद है, अद्वितीय है, ला-शरीक है—यह भी सब मानते हैं। पुण्य का फल सुख, पाप का फल दुःख, जैसा करो वैसा भरो, सज़ा-जज़ा, स्वर्ग-नरक, जन्नत-जहन्नुम, हेवन्-हेल, यह भी सब मानते हैं।

रोज़ा-व्रत, उपवास-फ़ास्ट, हज-तीर्थयात्रा-पिलग्रिमेज, (pilgrimage) और ज़कात, 'चैरिटी', (charity) धर्मार्थ दान, यह भी सब मज़हबों मे है। अगर एक मज़हब वाले 'ओम्' कहते हैं, तो दूसरे 'आमीं', और तीसरे 'एमेन्' (amen); तीनों एक ही चीज़ हैं, और एक ही मतलब रखते हैं, अर्थात्, 'हाँ', अस्ति, सु-अस्ति, अस्तु, ऐसा हो, वह परमात्मा 'मै' है, और वह 'मै' ऐसी इच्छा भावना आशा करै। हिन्दू लोग धर्म के चार मूल, चार जड़, बुनियाद, मानते हैं, श्रुति, स्मृति, सदाचार, और "स्वस्य च प्रियम् आत्मनः' या "आत्मनस्तुष्टिरेव च", या "हृदयऽभ्यनुज्ञा"। मुसलमान लोग भी मज़हब की बुनियाद चार ही मानते हैं जो क़रीब क़रीब यही चीज़ हैं, यानी, क़ुरान, हदीस, इज्मा, और क़यास। ईसा-धर्म वाले भी 'रेवेलेशन् (स्क्रिपचर)—ऐक्टा सैक्टोरम्—लर्नेड् ओपिनियन—कानशेंस; अथवा स्टेट्यूट्-ला, कस्टम्, *प्रेसीडेंट या केस्-ला, और जस्टिस, एक्विटी, और गुड-कांशेंस*[1]।

रस्म-रिवाज की समानता।

ऊपरी रस्मो और कर्मो मे भी बहुत सदृशता (मुशाबिहत, ततब्बीक़) है। कोई हिलाल और तारा टोपियों मे लगाते हैं; कोई त्रिपुण्ड्र उर्ध्वपुण्ड्र वग़ैरः, जो भी हिलाल और तारे की ही दूसरी शकलें हैं, माथे (मस्तक पेशानी) पर चन्दन आदि से बना लेते हैं; कोई सूली (सलीब) की शकल के आवेज़े कपड़ों पर लटकाते हैं, जो भी स्वस्तिका और त्रिपुण्ड्र से मिलते हैं; त्रिशूल भी इन्ही का रूपान्तर है। कोई सिर पर शिखा, चोटी, चुन्दी के नाम से बाल बढ़ाते हैं, कोई ठुड्ढी पर दाढ़ी के नाम से। कोई जनेऊ और जन्तर (यज्ञोपवीत और यन्त्र) पहिनते हैं, कोई तावीज़। कोई बुत-परस्त (मूर्त्ति-पूजक) हैं तो कोई क़ब्र-परस्त। निराकारता, एकता, वहदत के महावाक्य और कलमे पढ़ते हुए भी सभी, उस एक अकेले पर देर तक मन न जमा सकने के सबब से, शकल

1. Revelation, scripture; Acta sanctorum; Learned opinion; Conscience; or, Statute-Law; Custom; Precedent or Case-Law; and Justice, Equity, and Good Conscience.

वाली, नाम-रूप वाली, चीज़ों मे मन अटकाते ही हैं। "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे, मूर्त्तं चैव अमूर्त्तं च," यानी परमात्मा अल्ला की दो शकलें हैं, एक बे-शकल और एक बा-शकल; और सारी दुनिया ही यह दूसरा शकल है; 'हमा ऊस्त', "हर चि बीनी, बि-दां कि मज़हरि-ऊस्त", इस लिये कोई मूर्तियों की पूजा करते हैं, कोई शहीदों, पीरों, औलियों की क़ब्रों पर और ताज़ियों पर माला फूल चादर चढ़ाते हैं, और दीये जलाते हैं। जिन्हीं जीवों को कोई, देवता और दैत्य और उन के अवांतर भेद, उपदेव, सिद्ध, विद्याधर, अप्सरा, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, डाकिनी, शाकिनी, कूश्माण्ड, पूतना, प्रेत, भूत, पिशाच, आदि के नाम से पुकारते हैं, उन्हीं को, दूसरे लोग, फ़रिश्ते, मलायक, शैतान, जिन्नात, परी, 'एंजल', फ़ेयरी', 'नोम्', 'अंडाइन्', 'सिल्फ़', 'ब्राउनी', 'एल्फ़', 'पिक्सी', 'डेविल्', इम्प', 'फ़ीन्ड', 'ग़ूल', वग़ैरः के नाम से जानते मानते हैं।[1] कोई देवी देवताओं की सवारी निकालते हैं, तो दूसरे ताज़िये निकालते हैं, और ताज़ियों पर अर्ज़ियाँ लटकाते हैं। इटली देश मे, रोमन कैथलिक सम्प्रदाय के ईसाई, बैम्बीनो' अर्थात् शिशु ईसा और उन की मा मरियम देवी के जलूस निकालते हैं : रूस देश मे, ग्रीक चर्च सम्प्रदाय के ईसाई, 'ऐकोन' (eikon) मूर्त्तियों की सवारी सजाते है। सभी मन्नतें मानते हैं। सभी झाड़ फूँक मे विश्वास करते हैं। सभी गुरु-शिष्य, 'लेमैन् प्रीस्ट', (layman-priest), पीर-मुरीद, 'सेंट-डिसाइप्ल्' (saint-disciple) के रिश्तों को मानते हैं। अगर एक मज़हब वाले श्राद्ध तर्पण ब्रह्मभोज वग़ैरह करते हैं, तो दूसरे मज़हब वाले भी गुज़रे हुओं के लिये चेहलुम पर फ़ातिहा पढ़ते हैं और बारे-वफ़ात और शबि-बरात पर उन की रूह की भलाई के लिये ग़रीबों को खाना खिलाते हैं, पाक और नेक औरतों को 'कन्दूरी' खिलाते हैं। ईसाई भी 'प्रेयर फ़ार दि डेड' (prayer for the dead) और 'मासेज़', (masses) परलोकगत जीवों के लिये ईश-प्रार्थना, पढ़ते हैं। ख़ुदा को ला-मकान और निराकार कहते हुए भी, सभी उस के लिए

1. Angel, fairy, gnome, undine, sylph, brownie, elf, pixie, devil, imp, fiend, ghoul incubus, succubus, diyad, salamander, satyr, nymph etc.

खास-खास मकान बनाते हैं, मन्दिर के नाम से, मसजिद के नाम से, चर्च के नाम से; बैतुल्ला, देवालय, 'हौस आफ़ गाड' (house of God)—इन तीनों नामो के लफ़्ज़ी मानी भी एक ही हैं, ईश्वर का घर; और इन सब मकानों की शकल मे भी कुछ समानता, कुछ मुशाबिहत होती है; यानी, इस नापाक (अशुद्ध) दुनियाँ (पृथ्वी) की मैल से, आस्मान की स्वच्छता की तरफ़, ऊपर उठना चाहते हैं; शिखर के नाम से, गोपुर और कलश के नाम से, गुम्बद् और मुनारे के नाम से, 'स्टीप्ल, टावर, स्पायर' (steeple, tower, spire) के नाम से। हिन्दुओं और मुसलमानो के नाम भी हम-मानी, तुल्यार्थ, होते हैं। अब्द का मानी बंदा, दास, अल्ला का मानी ईश्वर, अब्दुल्ला का मानी ईश्वर-दास; क़ादिर मानी .कुद्रत वाला, भग-वान् मानी भी ऐश्वर्य वाला, भगवान् दास मानी अब्द-अल्-क़ादिर; ऐसे ही अब्दुलकरीम, दयालुदास; अब्दुल्‌जमील, सुन्दरदास; धर्म-पाल,रफ़ी-उद्दीन; लोक-वल्लभ =मक़बूल-आलम; अब्दुर्रहमान = शंकरदास; शिवदास = अब्दुर्रहीम; इत्यादि। मगर, निहायत अफ़सोस का मक़ाम है, कि ऐसे उमदा उमदा नाम रखते हुए भी, काम हम लोगों के, उन नामो के मानियों के मुताबिक़ नहीं होते, बल्कि अक्सर बिल्कुल बर अक्स। अगर हिन्दुओं मे विश्वनाथ-दर्शन और गङ्गा-स्नान की महिमा है, तो मुसलमानो मे काबे के मन्दिर मे जाना और ज़म्-ज़म् कुण्ड मे स्नान करना बड़ा पुण्य है। और भी सादृश्य (मुशाहिबत) देखिये। काबे के मन्दिर के अन्दर दो पत्थर हैं, एक का नाम हज्रुल अस्वद्, और एक का नाम हज्रुल यमानी, जो अब दीवार मे लगाये हैं; कहा जाता है कि पहिले फ़र्श पर ही थे; हाजी यात्री लोग इन पर बोसा (चुम्बन) देते हैं, और काबे के मन्दिर की परिक्रमा (तवाफ़) सात बार करते हैं; और उस के आगे सहन (प्राङ्गण) मे सिज्दा (दण्डवत्) करते हैं। और यह सब काम अङ्गा पैजामा कुर्ता टोपी वग़ैरा पहिन कर नहीं किया जा सकता, बल्कि नंगे सिर, नंगे पैर, एक धोती और एक उपर्ना ही पहिन कर, जिन को 'एहराम' (पवित्र वस्त्र) कहते हैं, और ये बिना सिलाई के होने चाहियें; जैसे हिन्दुओं मे, जो लोग बहुत पवित्रता (तहारत) चाहते हैं, वे स्नान कर के, रेशमी पीताम्बर उपर्ना पहिन कर, मन्दिर-यात्रा देवता दर्शन आदि

करते हैं, और ये भी बिना सिलाई के, "अ-हते वाससी", होने चाहियें। रोमन काथलिक गिर्जाघरों मे, ख़ास ख़ास तिहवारों पर, मर्यम और ईसा की पूजा, धूप-दीप, फूल-माला, से, वैसी ही की जाती है, जैसी राम या कृष्ण की, मंदिरो मे। सभी पोथी-परस्त हैं ; एक वेद को पूजते हैं, एक तौरेत इञ्जील को, एक क़ुरान को; सभी अपनी अपनी पोथियों को एक ही नाम से पुकारते हैं—ब्रह्मवाक्य, (गाड्)-स्पेल, कलामुल्ला, यानी ईश्वर-ख़ुदा-परमात्मा-अल्ला-गाड् की कही बात। मुख्य मुख्य बात भी सब में एक ही है। ख़ुद क़ुरान मे कहा है, "इन्नहू लफ़ी ज़ुबूरिल् अव्वलीन", यानी यह (क़ुरान) अगलों (प्राचीनो) के नविश्तों (लिखे ग्रन्थों) मे है। बाइबल मे, उपनिषदों मे, वही मुख्य बातें हैं, जो क़ुरान मे। हिन्दुओं मे जैसे कथा पुराण के पाठ और व्याख्यान का दस्तूर है, वैसा ही मुसलमानो मे मौलूद, ख़ुतबा, वाज़ की चाल हैं, और ईसाइयों मे 'सर्मन' की। नमाज़ के पेश्तर एक 'वुज़ू' करते हैं, तो संध्या पूजा के पहिले दूसरे 'स्नान आचमन'। एक आसन बिछाते हैं, तो दूसरे सज्जादा। एक नमाज के लिये उठने बैठने के क़ायदे रखते हैं, तो दूसरे सन्ध्या के लिये सूर्योपस्थान, अङ्गन्यास, करन्यास, दण्डवत् प्रणाम वग़ैरा के। नमाज़ मे सीने (छाती) तक हाथ उठाना चाहिये कि कान तक; संध्या मे प्राणायाम के लिये हाथ सीधे नाक तक ले जाना चाहिये, या सिर के चारो तरफ़ घुमा कर; 'गाड' त्रिमूर्त्ति 'ट्रिनिटी' (trinity) है, या एक मूर्त्ति (युनिटी, unity); कृष्ण, ईसा, मुहम्मद, का दृश्य शरीर, पार्थिव द्रव्यों का बना हुआ था, या दिव्य सूक्ष्म तत्त्वों का; राम वा कृष्ण, पूर्णावतार थे, वा अंशावतार; ऐसी ऐसी बातों पर अलग अलग फ़िर्क़ें (दल) और सम्प्रदाय बन गये हैं; ईसाइयों मे सैकड़ों, मुसलमानों मे बहत्तर, हिन्दुओं मे सैकड़ों बल्कि हज़ारों। अगर एक अज़ान की पुकार से आदमियों को जगा कर ख़ुदा की तरफ़ लगाते हैं, तो दूसरे शङ्ख घण्टा से वही काम लेते हैं; ईसाइयों में भी 'चर्च बेल्स' (church bells) होते हैं। अगर एक क़ुर्बानी करते हैं, तो दूसरे भी बलि-दान। सभी गोश्त खाते हैं, कोई एक जानवर, यानी गाय का, गोश्त हराम समझते हैं; तो कोई दूसरे जानवर, यानी सूअर का। अफ़सोस तो यह है कि दोनो मे नफ़्स्कुशी, आत्म-बलि, अपनी नफ़्स, अपने स्वार्थ और ख़ुदग़रज़ी, अपने

अहङ्कार, काम, क्रोध, वग़ैरा की क़ुर्बानी, और 'तर्कि-हैवानात', मांस-वर्जन, बहुत कम लोग करते हैं; दूसरों का ही बलिदान करते हैं; अपने भीतर जो हैवानियत, पशुता, भरी है, उस का नहीं। पर ख़ुशी का मौक़ा है कि गुनाह, पाप, 'सिन्' (sin) के धोने और मिटाने के लिये भी सभी एक ही उपाय करते, या करते नहीं तो बताते ज़रूर, हैं, पश्चात्ताप-प्रख्यापन-प्रायश्चित्त, नदम-एतराफ़-तलाफ़ी (कफ़्फ़ारा, तौबा), 'रिपेंटेंस-कन्फ़ेशन्-एक्सपियेशन्' (repentence-confession-expiation)।

पुनर्जन्म।

पुनर्जन्म के बारे मे भी यह ख़याल करने की बात है कि क़ुरान या हदीस मे कहीं इस से इनकार नहीं किया है। बल्कि कुछ कलाम ऐसे मिलते हैं जिन का इशारा, कुछ आलिम मौलवियों और सूफ़ियों के ख़याल मे, पुनर्जन्म के मानने की तरफ़ है। "अह्यातना बादे अमातना", "कुलू योह्यी हल्लज़ी अन्शा-अहा अव्वलमर्रा", यानी हम लोगों के मर जाने के बाद उसने हम को फिर जिलाया है, और जिस ने पहिले तुम को जिलाया है वही तुम को दुबारा भी जिला सकता है। "युख़्रिजुल् हय्या मिनल् मय्यती, व युख़्रिजुल् मय्यता मिनल् हय्यी", वह ख़ुदा, हयात ज़िंदगी से ख़ारिज कर के मौत मे डालता है, और मौत से ख़ारिज कर के हयात मे। "कैफ़ा तक्फ़ुरूना बिल्लाहे, व कुन्तुम् अम्वातन् फ़ा अह्याकुम्, सुम्मा युमीतोकुम्, सुम्मा योह्यिकुम्, सुम्मा इलैहे तर्जउन्", यानी तुम अल्ला से किस तरह इन्कार कर सकते हो, हालां कि तुम बे-जान थे, उस ने तुम्हें ज़िन्दा किया, और फिर तुम्हें मारेगा, और फिर जिलायेगा, और फिर उस की तरफ़ लौट कर जाओगे। यह बात गीता की सी ही है, "बहूनां जन्मनां अंते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते"। यानी बहुत जन्मो के बाद, ज्ञान पा कर, आदमी मेरे पास, परमात्मा के पास, पहुँच जाता है। एक और वाक्य क़ुरान मे मिलता है जो गीता के इस वाक्य का बिल्कुल समानार्थ वा अनुवाद ही मालूम होता है। "या अय्योहल् इन्सानो इन्नका कादिहुन् एला रब्बेका कादिहन् फ़ मुलाक़िहे लतर्कबुन्न तबक़न् अन् तबक़", यानी, ऐ इन्सान, तू अपने

रब (खुदा) की तरफ़ जाँफ़िशानी करता हुआ जाने वाला है; तबक़ पर तबक़, दर्जा ब दर्जा, तुझ को चलना है ।

और भी क़ुरान मे कहा है, "मिन्हा खलक़ना कुम्, व फ़ी हा नोईदुकुम्, व मिन्हा नुख़रुजुकुम्, एला तश्रारतीन् उखरा", यानी मै ने तुम को मिट्टी मे पैदा किया, और उसी के अंदर तुम का लौटा दूँगा, और उसी से फिर निकालूँगा, लगातार, आखिर तक, और "सुम्मा बअसूमाकुम् मिन् बादे मौतेकुम् लअल्लकुम् तुष्कुरुन्," यानी फिर मै ने तुम को मबऊस (पैदा) किया, तुम्हारे मर जाने के बाद, ताकि तुम मेरा कुछ शुक्र करो ।

कुछ लोग क़ुरान के इन लफ़ज़ों के मानी दूसरी तरह लगाते हैं । पर इस मे तो कोई शक है ही नहीं, कि खलीफ़ा हारूँरशीद के ज़माने के मोतज़िला फ़िर्क़े के लोग पुनर्जन्म को मानते थे । शैख़-उल्इश्राक़, अल ग़िज़ाली, मौलाना रूम, उमर् खय्याम, वग़ैरा, और आम तौर से सूफ़ी लोग भी, इस मे एतबार (विश्वास) करते थे । बल्कि वैदिक धर्म वालों से ज़्यादा बारीकी से इस पर विचार किया था । मनुष्य जन्म के बाद मनुष्य जन्म को नसूख़, पशु जन्म को मसूख़, वनस्पति जन्म को रसूख़, और मणि आदि पत्थर रूप मे जन्म को फ़सूख़ कहते थे । यहाँ तो एक पुनर्जन्म शब्द ही से काम चलाया । मौलाना रूम का कहना मशहूर है,

हम् चो सब्ज़ा बारहा रोईदः अम् ;
हफ़्त सद् हफ़्ताद् क़ालिब दीदः अम् ।

यानी घास के ऐसा मैं फिर फिर उगा हूँ, सात सौ सत्तर जिस्म मैंने देखे हैं । बाइबल मे भी कहीं पुनर्जन्म की तर्दीद नहीं की है; इस से इनकार कहीं नहीं किया है; बल्कि कई जगह इस के मवाफ़िक़ बातें लिखी हैं । ईसा मसीह ने एक मौक़े पर कहा कि जो इलैजा (इल्यास) नाम का नबी था, वही जान दी बैप्टिस्ट नाम के फ़क़ीर के रूप मे फिर जन्मा है । आग़ा खाँ के फ़िर्क़े के मुसल्मान आज भी तनासुख यानी पुनर्जन्म को मानते हैं, और मुहम्मद पैग़म्बर को ब्रह्मा का और अली को विष्णु का अवतार बताते हैं । ठीक ही है,

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं, श्रीमद् ऊर्जितमेव वा,
तत् तद् एव अवगच्छ त्वं, मम तेजोऽंशसम्भवम् । (गी०)

जो भी कोई आली शख्सियत दुनिया मे नज़र आवै, उस को मेरी, मैं की, खुदा की शान के किसी जलाली या जमाली ज़र्रे का इज़हार ही जानो ।

दूसरी सूक्ष्म बातों मे समता ।

वैदिक धर्म का सर्वोत्तम अंश, वेद का अंत, वेद की परा काष्ठा, वेदांत, ब्रह्म-विद्या, अध्यात्मशास्त्र, माना जाता है । यही दशा इस्लाम धर्म मे तसव्वुफ़ की, सूफ़ी मत की, है । ईसाई धर्म मे यही अंश 'मिस्टिसिज़्म' और 'ग्नास्टिसिज़्म' के नाम से प्रसिद्ध है । योग को तसव्वुफ़ मे 'सुलूक' कहते हैं; शब्दार्थ वही है ; योग के मानी जोड़ना, मिलाना, लगाना; सुलूक के मानी भी मेल करना, मिलाना, सीना ('सिल्क' से, डोरे से); जीवात्मा को परमात्मा से मिलाना, जीवात्मा को अपनी परमात्मता पहिचनवा देना । जैसे योग मे भूमि पर भूमि, काष्ठा पर काष्ठा माना है, वैसे ही सुलूक मे भी तबक़ पर तबक़, मक़ाम पर मक़ाम । सत्-चित्-आनन्द ब्रह्म का स्वभाव है; वुजूद-इल्म-शुहूद अल्ला की सिफ़त है । ईसा ने जो कहा है, "आइ ऐम दि वे, दि ट्रूथ, दि लाइफ़", इस का भी मतलब यही है कि मैं (वे, मार्ग) सत्, (ट्रूथ, सत्य) चित्, (लाइफ़, जीवन, प्राण) आनन्द (हूँ) है; शरीअत, हक़ीक़त, तरीक़त, ये तीन मार्ग वा कांड वा अंग, धर्म-मज़हब-रिलिजन के, इन्ही तीन से तअल्लुक़ व मुताबक़त रखते हैं । आरंभवादी ईजादिया, परिणामवादी शुहूदिया, विवर्त्तवादी वुजूदिया है । जीवन्मुक्त को इन्सानुल्-कामिल् या मर्दि-तमाम कहते हैं; इंजील की ज़बान मे, 'सन् आफ़ गाड', 'ईश्वर का पुत्र', ईश्वर का पार्षद; पूर्णावतार को मज़हरि-अतम्म । जप, क्रियायोग, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, समाधि आदि को, ज़िक्र, अशग़ाल, हब्सि-दम, मुराक़िबा, मुकाशिफ़ा, मुआइना वग़ैरा; यम-नियम को मुजाहिदा; ईसाई ग्नास्टिक और मिस्टिक लोग इन के नाम (अंग्रेज़ी मे) 'लिटनी', 'फ़ास्ट' 'विजिल', 'वाउज़', 'ब्रेथ-रेग्युलेशन', 'कान्टेम्प्लेशन', 'कान्सेन्ट्रेशन',

'मेडिटेशन' आदि कहते हैं ।[1] वैदिक धर्म मे सात ऊपर के लोक और सात नीचे के पाताल माने हैं, इस्लाम मे सात अर्श और सात अर्द इन्हीं को कहते हैं। जैसे भूः, भुवः, स्वः, आदि नाम हैं वैसे आलमि-नासूत (या दुनिया, या शहादा), आलमि-मिसाल, मलकूत, जबरूत, लाहूत वग़ैरा। और भी नाम इन्हीं चीज़ों के दूसरे आकार-प्रकारों के कहे हैं। जैसे वेदान्तियों ने योग साधन कर के स्थूल से सूक्ष्म आदि शरीर को, जीते जी, ("मुञ्जाद् इषीकां इव"—कठ उपनिषत्) अलग कर लेने के लिये कई शरीर, स्थूल, सूक्ष्म, कारण, अथवा पंच कोष, माने हैं; तथा बौद्धों ने स्कन्ध; जैनो ने वर्गणा, आदि; एवं सूफ़ियों ने भी कई, नफ़स, रूह, नूस्मा वग़ैरा माने हैं; और बाइबल में, 'बाडी-सोल-स्पिरिट' (body-soul-spirit) माना है। मोक्ष या निर्वाण को नजात, मेराज, फ़ना-फ़ी-अल्ला (फ़ना-फ़िल्ला, ब्रह्म लीनता) कहते हैं; ईसाई लोग इसी को 'साल्वेशन', 'बियाटिट्यूड', आदि कहते हैं। निष्कर्ष यह कि "फ़क़त तफ़ावत है नाम ही का, दर अस्ल सब एक ही हैं, यारो!"; वस्तु एक है, देखने वाले अनेक हैं; स्थान भेद से थोड़ा थोड़ा दर्शन भेद और नाम भेद हो गया है। ख़ुद क़ुरान मे साफ़ लिखा है, "इन्नहू ल फ़ी ज़ुबूर् इल अव्वलीन्", यानी प्राचीन धर्मों की धर्मपुस्तकों मे, जिन को उन धर्मों के वृद्धों बुज़ुर्गों ने लिखी है, इस क़ुरान की सब मूल और मुख्य बातें पहिले लिखी जा चुकी हैं। वही वही बातें, दूसरी मनुष्य जाति के लिये, दूसरे काल, दूसरे देश, दूसरी अवस्था मे, दूसरी भाषा मे लिखी गईं। इस लिये अब भाषा बदल कर थोड़े हेर फेर से, इस देश, काल, अवस्था, जाति के प्रयोजनो के अनुसार, फिर से कही व लिखी जाती हैं; पर मुख्य और मूल बातें वही हैं, जो अगले ज़मानो मे भी फिर फिर कही जा चुकी हैं।

नासमझी मे भी समता।

मुख्तसर यह कि अगर 'चश्मानि दिल' से, हृदय की आँख से, मुहब्बत और

---

1. "I am the way, the Truth, the Life"; son of God; litany, fast, vigil, vows, breath-regulation, contemplation, concentration: meditation.

नेकी की निगाह से, देखिये, तो आप को सब एक ही, और एक से ही, देख पड़ेंगे, सब दोस्त ही दोस्त नज़र आवेंगे, और सब की दुनिया भी और आक़बत भी बनैगी।

"हमा ऊस्त" (सब वही है) से "हमा दोस्त" का नतीजा निकलता ही है।

एवं तु पंडितैर्ज्ञात्वा, सर्वभूतमयं हरिं,
क्रियते सर्वभूतेषु भक्तिः अव्यभिचारिणी। (विष्णु पुराण)

जब सब हरि-मय, आत्म-मय है, ख़ुदा ही ख़ुदा है, तब सब से भक्ति प्रीति होनी ही चाहिये। द्वेष किस से कीजिये? जब कोई दूसरा हो तब न? सब तो अपने ही हैं, आप ही हैं! लेकिन अगर भेद-बुद्धि की, ख़ुदी और अहंकार की, स्वार्थ और शेखी-मशीख़त की घमंड, हठ, दुराग्रह, तास्सुब की, और अहमह-मिका हमहमा की आँखों से देखियेगा, और इसी भूल मे मस्त रहियेगा कि मेरा मज़हब सब से अच्छा और बाक़ी सब ख़राब हैं, और दूसरे मज़हब वालों को जैसे हो तैसे, अक़ल और हिकमत और दलील से नहीं, बल्कि छल-बल और ज़बरदस्ती से, अपने मज़हब मे लाना चाहिये; अगर हम लोग ऐसा ख़याल करेंगे तो दूसरों का भी, और ख़ाहमख़ाह अपना भी, काम बिगाड़ैंगे।

अस्ल बात यह जान पड़ती है कि पढ़े लिखे या अनपढ़ भी, जब साफ़-साफ़ यह कहते शर्माते हैं कि हम दूसरों से अच्छे हैं, पर अहंकार भी उन का साथ ही ज़ोर करता ही है, तब उस अहंकार का, ग़ुरूर का, इस बहाने से स्वाद (ज़ायक़ा) लेते हैं, कि हमारा ईश्वर, हमारा अल्ला, हमारा यहोवा, हमारा गाड, सब दूसरों के देवताओं से बड़ा है, हमारी पोथी, वेद, या तौरेत, या इंजील, या क़ुरान, सब दूसरी किताबों पुस्तकों से उमदा है, हमारा अवतार पूर्ण परमात्मा है, हमारा मसीहा ख़ुदा का इकलौता बेटा है, हमारा नबी ख़ातिमुन्नबूअत है, नबीपन को ख़तम कर देने वाला है, सब फ़रिश्तों से भी और आदम (आदि मनु) से भी बढ़ कर है, ख़ुदा के बराबर नहीं तो उस के बाद दूसरे दर्जे में वही है। वाह, वहदत की ख़ूबी! बेवक़ूफ़ी मे भी सब मज़हब वाले यकसाँ हैं! जब अहंकार ज़्यादा ज़ोर करता है तब तो यह भी सभी कह देते हैं कि हमी ब्रह्मदेव के मुख्य पुत्र हैं, हमी (यहूदी) यहोवा (ख़ुदा) के ख़ास

चुने हुए (चोज़न् रेस) हैं, हमी क़ुरैशी (जाति, जिस मे मुहम्मद पैग़म्बर पैदा हुए) खास खुदा के प्यारे बल्कि ठेकेदार या मालिक (स्वामी) ही हैं, हमी (ब्राह्मण, भू-सुर, भू-देव, ब्रह्म के टुकड़े, ज़मीन पर चलते फिरते देवता) ब्रह्म-गाड्-अल्ला की शान हैं; मगर भाइयो ! दोस्तो ! हम लोगों को इस अहंकार और गरूर के धोखे मे नहीं पड़ना चाहिये । परमात्मा-खुदा अल्ला, अनंत, ला-इन्तिहा, "अनएँडिङ्" है और वही हमारी आप की रूह है, रूह-उल्-रूह है, सूत्रात्मा है, विश्वात्मा, जगदात्मा, विराडात्मा, परमात्मा, है । इस मे से अनगिनत अवतार और मसीह और रसूल आये, आ रहे हैं, और आते रहेंगे । अपने अपने देश और ज़माने के लिए सब ने अच्छी अच्छी बातें सिखायी और सिखा रहे हैं और सिखावैंगे । सब की मुनासिब इज़्ज़त, आदर, करना चाहिये । यह कभी खयाल मे नहीं लाना चाहिये कि जो किसी एक ने कोई खास तरीका किसी देश-काल-अवस्था, मुल्क-ज़माना-हालत, के लिये बताया, वही, ज़बर्दस्ती से, सब आदमियों से, सब जगह, सब हालतों मे, मनवाया जाय, और बाक़ी सब की बातें मिटा दी जायँ । और सर्वोपरि यह सदा याद रखना चाहिये कि मुख्य धर्मतत्त्व, ज्ञानसार, परमगुह्य, सब ने एक ही सिखाया, अर्थात्, 'मैं' जीवात्मा, ही परमात्मा है । "इन्नि अनल्लाहू, ला इलाहा इल्ला अना", "अहं ब्रह्म, नान्यद् आत्मनः (अपश्यत्)" ।

इस तौर से यदि देखा जाय, कि मुहम्मद का असल अर्थ हक़ीक़ति-मुहम्मदी, यानी अक़लि-कुल, अर्थात् महान् आत्मा, महत्तत्व, बुद्धितत्त्व, है, तब तो यह कहना ठीक हो जाता है कि जो जीव उस तक पहुँचा वही मुक्त हुआ, नबी, परमर्षि, हुआ, खातिमुन्नबूअत हुआ, खुदा का इकलौता बेटा, ब्रह्मस्वरूप, हो गया ।

मज़हब मे ज़बरदस्ती नहीं ।

सभी मज़हब वालों ने, कभी न कभी, दूसरे मज़हब वालों को अपने मज़हब मे लाने के लिये, ज़बरदस्ती से, जब्र से, बलात्कार से भी, कोशिश की है, किसी ने कम, कम किसी ने ज़्यादा, किसी ने बहुत ज़्यादा । मगर मज़हब मे ज़बरदस्ती की कार्रवाइयाँ चाहे थोड़े दिन के लिये कारगर हो भी जायँ, पर बहुत

जल्द ही ज़वाल और मुसीबत उन के करने वालों पर आती हैं, और आई हैं। जो जब्र से जल्द बढ़ता है, वह दूसरे के जब्र से वैसा ही जल्द घटता भी है। वजह सीधी है, उस के दुश्मनो की संख्या, अदद, हमेशा बढ़ती रहती है, जो उस का बुरा चेतते ही रहते हैं। पच्छिम की क़ौमों का हाल देखिये। शिष्टता सभ्यता तहज़ीब की चोटी पर पहुँच कर, काम, क्रोध, लोभ, और अहंकार के मारे एक दूसरे को मारे डालते हैं। इस भारत देश मे कहावत है कि जब चींटे के पर निकले तब उस की मौत क़रीब है। फ़ारसी मे कहावत है, "अगर बर हवा परी, मगसे बाशी; बगर दर आब रवी, माही बाशी; दिल बदस्त आर, ता कसे बाशी"; अगर हवा पर उड़ो तो मक्खी हुए, अगर पानी के भीतर तैरो तो मछली हुए, अपने दिल को क़ाबू मे लाओ तो आदमी इन्सान बनो; एयरोप्लेन मे उड़ते हैं, सबमेरीन मे तिरते हैं, इन्सानियत से, मेलमिलाप से, मुहब्बत से, ज़िन्दगी कैसे अमर करना चाहिये, यह नहीं जानते। और भी बड़ी मोटी बात है। धमका कर, मन का विश्वास तो बदला नहीं ही जा सकता। अगर मार पीट कर, डर दिखा कर, हम दिन के वक्त किसी से कहलवा भी लें कि दिन नहीं रात है, तो उस का मन तो बदलेगा नहीं, झूठ बोलने की, झूठे और कायर का काम करने की, आदत ही उस मे और उस की नस्ल मे क़ायम होगी। ऐसी ही बातों का ख़याल कर के .क़ुरान मे बार बार कहा भी है, "ला इक्राहा फ़िद् दीन", यानी मज़हब के मामिले मे कोई ज़बरदस्ती नहीं है, "लकुम् दीनुकुम् वलें यदीम्"; यानी तुम्हारे लिये तुम्हारा दीन, हमारे लिये हमारा दीन, "उद् एला सबीलि रब्बका, बिल् हिक्मते वल् मौएज़्ज़तिल् हसनते", यानी रब्ब की तरफ़ बुलाओ लोगों को, हिकमत की राह से, और अच्छी नसीहतों से।

कथनी से करनी बड़ी।

सब से उम्दा हिकमत तो अपनी ज़िंदगी का नमूना है।

यद् यद् आचरति श्रेष्ठः तत् तद् एव इतरो जनः। (गी०)

"एक्ज़ाम्पल् टीचेज़ बेटर दैन प्रीसेप्ट"।[1]

1. Example teaches better than precept.

जिस को लोग जानते हैं कि यह आदमी अच्छा है, नेकनीयत है, सच बोलता है, धोखा नहीं देता, दूसरों का दिल से भला चाहता है, उस की शिक्षा को सभी बातों मे लोग मानने लगते हैं। पैग़म्बर मुहम्मद को उन के जान पहिचान के आदमी 'अल अमीन', यानी विश्वासपात्र, श्रद्धायोग्य, पुकारते थे। इस से बढ़ कर दूसरा ख़िताब हो नहीं सकता। आज भी यही अपनी आँखों के सामने देख लीजिये; गान्धी जी को उनके दुश्मन भी अच्छा ही कहते हैं। अपनी ज़िंदगी, अपनी रहन सहन, अपने चाल चलन की ख़ूबी से ही अपने धर्म का प्रचार करना—यह सब से अच्छा तरीक़ा है। इत्रफ़रोश गन्धी की दूकान के लिये "सैन्बोर्ड" की ज़रूरत नहीं है, उस की ख़ुशबू ही सब को खींचती है। उमदा मिठाई की दूकान पर लड़कों को ज़बरदस्ती नहीं ले जाना पड़ता। हाँ, दूकानदार ऐसा बेतमीज़ भी न होना चाहिये कि जो कोई सौदा ख़रीदने आवे उस को दुत्कार दे। कोई मज़हब वाले एक ग़लती करते हैं, तो कोई दूसरी। अब लोग समझने लगे हैं कि हिन्दू धर्म वालों ने अपने ऊपर भारी ज़वाल और मुसीबत, ख़ास कर दूसरी बड़ी भूल की वजह से बुलायी है। सब मज़हबों को सिर्फ़ अपनी दूकान खुली रखनी चाहिये, और सौदा उमदा रखना चाहिये। अपनी अपनी पसन्द के मुताबिक़ लोग आप ही लेने आवेंगे।

मज़हब नहीं इन्सानियत फैलाइये।

यह ख़याल, कि हमारा मज़हब फैलने से हमारी क़ौम मज़बूत हो जायगी—यह भी एक बड़ी झूठी माया है। इतिहास, तवारीख़, के एक एक सफ़हे पन्ने से मालूम होता है, और आज अपनी आँखों के सामने दिखाई देता है, कि हिन्दू राजा हिन्दू राजा से, ईसाई क़ौमे ईसाई क़ौमो से, मुसलमान राजा और क़ौमे मुसलमान राजा और क़ौमो से, वैसा ही, बल्कि उस से ज़्यादा, लड़ते आये और लड़ते जाते हैं, जितना दूसरे मज़हब वालों से। किसी मज़हब की ऊपरी नुमाइशी दिखावा रीति रिवाजों के फैलाने से कोई क़ौम मज़बूत नहीं होती, बल्कि उस इन्सानियत, मनुष्यता, मेल-मुहब्बत, नेकी के फैलने से, जो ही सब मज़हबों धर्मों का लुब्बि-लबाब, सत्त-सार है। ये ऊपरी नामरूप तो कपड़े पहिरावे की सी

बात हैं, जिस को जैसा मन भावै ओढ़ो या छोड़ो। इन मे ज़बरदस्ती करना बड़ी भूल है; हाँ, सलाह, मशिवरा, परामर्श, शिक्षा, सभ्यता से देना, जायज़ है।

हर मज़हब मे, मुख्य धर्म और गौण धर्म का भेद, उसूल और फ़ुरू की तमीज़, 'एसेंशल' और 'नान-एसेन्शल' का विवेक किया है। उसूल सब के एक ही हैं, फ़ुरू मे कुछ फ़र्क़ है, और उन मे भी मुशाबिहत, सादृश्य है, जैसा दिखाने की कोशिश पेश्तर की।

जो लोग अपने मज़हब की तबलीग़, अपने धर्म का प्रचार, ज़बान से भी करना लाज़िमी ही समझैं, वे शाइस्तगी से, सभ्यता से, दलील और हिकमत और युक्ति से, करैं। अपने मज़हब की ख़ूबियाँ दिखावैं, पर दूसरे मज़हब की मज़म्मत निंदा न करैं। सब मजहबों मे जो मुश्तरका (समान) बातें हैं, उन का ज्यादा खयाल रक्खें, और ख़ुसूसियत (विशेष) और ऊपरी फ़र्क़ की, रीतियों रस्मो की, बातें हैं, उन की तरफ़ थोड़ा कम ध्यान करैं। सब आदमी, नेकचलन हो कर ख़ुदा ईश्वर के प्यारे हो जायँ—इस की फ़िक्र ज़्यादा रखें। मेरी उठक बैठक की ही नक़ल सब करें—इस की कम। अगर मुबल्लिग़ और प्रचारक लोग ऐसा अमल करें, तो यह सब झगड़े, जो आज बरपा हैं, दूर हो जायैं। हिन्दुस्तान मे दुनिया के सब मज़हब मौजूद हैं। अगर यहाँ मज़हबी मेल का नमूना क़ायम हो जाय, तो सारी दुनिया मे इस का असर फैले। और प्रायः झगड़ा भी सिर्फ़ हिन्दुओं और मुसलमानों मे ही देख पड़ता है। यह झगड़ा तभी दूर होगा, जब दोनो मज़हबों की असलियत को दोनो पहिचानैं, एक दूसरे के गुणों को, ख़ूबियों को, ज़्यादा देखैं, दोषों को, ऐबों नुक़्सों को कम, और एक दूसरे को जो कुछ कहैं सुनैं, समझैं समझावैं, वह शाइस्तगी (शिष्टता) से।

ज़्यादती हर हाल मे बचाना चाहिये। धर्म मज़हब की भी। इस से भी जोश और क्षोभ का हमहमा, सच्चे धर्म-मज़हब के ख़िलाफ़ है। क़ुरान मे कहा है—"ला-तअतदू इन्ना अल्लाह ला योहिब्बुल मोतदीन", यानी हद से ज़्यादा बढ़ने वालों से अल्ला परमात्मा मुहब्बत नहीं करता। यही अर्थ संस्कृत में भी कहा है, "आश्रयेत् मध्यमां वृत्तिं, अति सर्वत्र वर्जयेत्", यानी बीच का रास्ता पकड़ो, और किसी काम में अति मत करो। हर आदमी को मुनासिब है कि

अपने मा बाप की, अपने अवतार मसीह रसूल की, इज्ज़त करें, पर यह मुनासिब नहीं कि कोई किसी से कहे कि तुम भी मेरे ही मा बाप की ही इज्ज़त करो, अपने मा बाप की नहीं। अपने मा बाप की इबादत के बाद, दूसरे दर्जे मे, दूसरों के मा बाप की इज्ज़त करना, जैसे अपने चचा चाची की, यह वाजिब है। हाँ, जो सब का अव्वल् मा बाप, परम पितामह, अल्ला, परमात्मा, गाड् के नामों से, और रूह चेतना के रूप से, हर आदमी के भीतर बैठा है, उस की पूजा दिल से सभी को करनी चाहिये।

कौन ज़िम्मेदार ?

इस की ज़िम्मादारी, कि इस तरह पर अमल हो, धर्माचार्यों और मज़हबी पेशवाओं पर है। उन को चाहिये कि मुँह देखी बात न कहें, झूठी बदनामी को न डरें, झूठी नेकनामी और वाहवाही की लालच न करें। धन दौलत, ऐश आराम, ऐश्वर्य हुकूमत का लोभ छोड़ें। आदर सम्मान इज्ज़त पर संतोष करें। अपनी अपनी उम्मतों को (अनुयायी वर्गों को) सच्ची सलाह दें। हक़-गोई से, सच बात कहने से, गुरेज़ करने के लिये, जान बचा कर भागने के लिये, यह उज्र, यह बहाना, न पेश करें, कि अभी लोग तैयार नहीं हैं, ज़माना मौज़ूँ नहीं है, हवा ना-मवाफ़िक है, वातावरण अनुकूल नहीं है, कोई सुनता नहीं है, वग़ैरा, वग़ैरा। बुद्ध और मूसा, शंकर और रामानुज, ईसा और मुहम्मद, कबीर और नानक, ने ज़माने का इन्तिज़ार नहीं किया, लोगों के तैयार हो जाने का आसरा नहीं देखा, बल्कि अपनी रूह, अपने इल्हाम, अपने आवेश, के ज़ोर से लोगों को तैयार किया, ज़माने को बनाया, हवा को बदला, आदमियों के क़लबों मे इनक़िलाब पैदा किया ; युगप्रवर्त्तक, कालकारक, अबू-उल्-वक़्त, हुए, प्रवाह-पतित, काल-कृत, इब्न्-उल्-वक़्त नहीं। अगर, अज़ ख़ुद, अपने आप, लोग तयार हो जायँ, ज़माना बदल जाय, तो पेशवाओं, नेताओं, लीडरों की ज़रूरत ही क्या रह जाय ? और मज़हबी पेशवाओं और धर्माचार्यों से भी ज़्यादा ज़िम्मेदारी एक मानी में जनता (अवाम्) पर है। नौकर जब जब हाकिम और शाह बन गये, राष्ट्र प्रबन्ध (मुल्की इन्तिज़ाम) की जगह नौकरशाही हो गई,

तब तब प्रजा को ही उस को फिर से दुरुस्त करने की फ़िक्र करनी पड़ी। प्रजा ही ने उन मुन्तज़िमो (अधिकारियों) को मुक़र्रर (नियुक्त) किया था जो अब बिगड़ गये। अब प्रजा ही को उन्हें फिर अपने वश (क़ाबू) मे लाना है। इस के लिये प्रजा को अपनी बुज़ुर्गी (गुरुता, गौरव, बड़प्पन) पहिचानना चाहिये। तभी नौकर भी उस की बुज़ुर्गी मानेगे। यही हालत (अवस्था) धर्म और मज़हब की है। अपने को पहिचानिये, अपनी रूह को जानिये मज़हबी स्वराज हासिल कीजिये। यह बहुत सहज भी है, और निहायत मुश्किल भी है। पच्छिम से पूरब की ओर, बाहर से भीतर की ओर, आँख फेरने की देर है। मज़हबी स्वराज हासिल होने के साथ ही सियासती राजनीतिक स्वराज ख़ाहमख़ाह मिल जायगा।

आदमी आप सब मज़हबों से बड़ा है।

इस सभा मे सभी मज़हबों के मानने वाले मौजूद हैं। हर एक को अधिकार (इख्तियार) है कि अपने मौजूदा मज़हब को, अपने वर्त्तमान धर्म को, जब चाहे उतार दे, और जिस दूसरे मज़हब-धर्म को चाहे ओढ़ ले, जैसे एक कपड़े को उतार कर दूसरे को पहिन सकता है। इस छोटी-सी बात पर आप लोग ख़ूब ग़ौर (ध्यान) कीजिये। बात सीधी है, प्रत्यक्ष है, आँख के सामने है, इस मे किसी दलील की ज़रूरत ही नहीं। इस की तरदीद, इस का खण्डन, हो ही नहीं सकता। कैसे हो? रोज़ हम लोग देखते ही हैं कि कितने ही आदमी एक धर्म छोड़ कर दूसरा धर्म उठा लेते हैं। तबलीग़ और प्रचार के मानी यही हैं कि लोग एक धर्म को छोड़ कर दूसरे धर्म को उठा लें। पर इस बात का असली नतीजा क्या निकलता है, उस पर ग़ौर कीजिये। इस का असली नतीजा यही निकलता है कि सब मज़हबों और धर्मों से आदमी की रूह (आत्मा) बड़ी है, वही रूह इन सब मज़हबों के बीच मे तजवीज़ (निर्णय) करती है, कि कौन ज़्यादा अच्छा और कौन कम अच्छा, किस को लेना चाहिये, किस को छोड़ना चाहिये। सब किताबें, सब पोथियाँ, वेद, ज़िंद अवस्ता, इंजील, तौरेत, क़ुरान, त्रिपिटक, गुरु ग्रंथ साहब इत्यादि, तथा सब मज़हबी पथप्रदर्शक (रहनुमा),

अवतार, ऋषि, मुनि, रसूल, पैग़म्बर, मसीह, नबी, सबी आप से दर्ख़ास्त (प्रार्थना) करते हैं कि मुझ को मानो, मुझ को मानो। आप जिस को चाहते हो मानते हो, नहीं चाहते तो नहीं मानते, और अलग, दूर, हटा देते हो। इस से बढ़ कर क्या ज्यादा सरीहो सबूत (प्रत्यक्ष प्रमाण) चाहिये कि आदमी की रूह इन सभों से बड़ी है! इस्लाम मे बहत्तर और सनातन धर्म मे कई सौ फ़िरक़े, पथ, मत मतान्तर, जो पैदा हो गये हैं, वे भी, ख़राबी करते हुए भी, इसी इन्सानी रूह क. बुज़ुर्गी, बड़प्पन, के सुबूत हैं, कि आदमियों ने ही मनमाना मज़हबों की शक्ल वक़्तन् वक़्तन् (समय समय पर) बदल डाला। जैसा सूफियों ने कहा है,

है अपने सीने मे उस से ज़ायद, जो बात वायज़ किताब मे है।
मसहफ़ि दिल् बीं, कि किताबे बेह् अज़ ईं नेस्त।

अपने दिल (हृदय) के क़ुरान-वेद को देखो, इस से बढ़ कर कोई किताब (पुस्तक) नहीं है।

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मनि अवस्थितम्।

आत्मा ही सब देवता है, सब कुछ आत्मा मे, अपने मे, अपने दिल मे, भरा पड़ा है।

दर हक़ीक़त ख़ुद तु ई उम्मुल-किताब;
ख़ुद ज़ि ख़ुद आयाति ख़ुद रा बाज़ याब।
(साँचहु तू तो आपु है सब वेदन की माय,
अपुनै आपा माहिं तें जो चाहै सो पाय,
आतम-ग्यान ऋचान कौ भीतर ही से छाय।)

नितरो सत्य यह है कि तुम आप ही क़ुरान की माँ, वेदमाता, हो। अपने विषय की, आत्मा के विषय की, आयतें (ऋचा) अपने आपे मे से ढूँढ़ निकालो।

ऐसी सब दलीलों (युक्तियों, हेतुओं) का निचोड़, सूफ़ियों ने कुछ शेरों (श्लोकों) मे रख दिया है।

ज़ाँ कि उस्ता रा शिनासा ख़ुद तु ई,
जुम्लः उस्ता रा ख़ुद उस्ता हम् तु ई।
चूँ हक़ीक़त रा मुहक़्क़िक़् ख़ुद तु ई,
ऐन हक़ ईनस्त ऐनुल्-हक़ तु ई।
इस्लिये रब रा मुअय्यिज़ चूँ तु ई,
बिल् यक़ीन् अल्लाहि-अकबर ख़ुद तु ई।
(जेहि चाहै तेंहि गुरु करै, नहिं तौ करि दे दूर,
तू ही; तातें गुरुन कौ गुरु तू ही भरपूर।
साँच झूठ बिच, साँच कौ, तुही करै निपटार,
सब साँचन तें साँच तू, साँच बनावनहार।
ईश्वर है वा है नहीं, तू ही करै विचार,
तौ परमेश्वर है तु ही, ईश्वर कौ करतार।)

इस भाव को संस्कृत में यों कह सकते हैं।

आप्ताऽनाप्तविवेकी त्वं, स्वयमाप्ततमोऽसि अतः।
शास्त्रा-ऽशास्त्र-पृथक्-कर्त्ता त्वं हि, शास्त्रितमस् ततः।
गुरोर्योग्यत्वविज्ञाता त्वं, ततोऽसि गुरोर्गुरुः।
सत्याऽसत्यविनिश्चेता त्वं, ततोऽसि सतोऽपि सत्।
ईश्वरास्तित्वनिर्णेता त्वं, ततोऽसि परेश्वरः।

उस्ताद (गुरु) की योग्यता (लियाक़त) पहिचानने वाले, यह आदमी गुरु मानने योग्य है या नहीं है इस का विवेक करने वाले, तो तुम ही हो, जिस को चाहते हो उस को अपना गुरु बना लेते हो, जिस को नहीं चाहते उस को हटा देते हो, इस लिये नितरां तुम ही सब गुरुओं के गुरु हो। यह सत्य है, यह असत्य है, ऐसा निश्चय करने वाले तुम ही हो, जिस बात को चाहो सच मान लो, अर्थात् सच कर दो, सच बना दो, नहीं तो झूठी मानो, झूठी बना दो, इस लिये सत् के भी सत्, सत्ता के हृदय, सत्ता के सार, सत्ता के कर्त्ता हर्त्ता धाता विधाता, तुम ही हो। ईश्वर है या नहीं है, जीव से, संसार से, भिन्न, इन का बनाने, बसाने, बिगाड़ने वाला कोई दूसरा ईशिता है या नहीं है, इसका निर्णय,

करने वाली तुम्हारी ही रूह, तुम्हारी ही बुद्धि आत्मा है, तुम ही हो, इस लिये तुम स्वयं परम-ईश्वर, परम-आत्मा हो।

तो इस रूह (आत्मा) को ही पकड़ना चाहिये। इस के बल से हम सब को चाहिये कि अपने अपने मज़हबों मे, सामाजिक दस्तूरों में, देश के बन्दोबस्त मे, धर्मनीति, आचारनीति, राजनीति मे, जो खराबियां आ गई हैं उन को दूर कर दें। यह मत कहिये कि यह तो धर्म मज़हब की बात है, इस मे बोलने का काम नहीं। जब आप की रूह को, आप के स्व को, यह ताक़त (शक्ति) है कि एक मज़हब को बिलकुल छोड़ दे और दूसरे को बिल्कुल ओढ़ ले, तो क्या यह ताक़त नहीं है कि मौजूदा मज़हब को ज़रूरत के मुताबिक़ घटा बढ़ा कर दुरुस्त कर ले? बिना ऐसे घटाये बढ़ाये, फ़िर्क़े और सम्प्रदाय बने कैसे! यही सब ताक़त रखने-वाली रूह असली 'स्व' है। हदीस मे इसी लिये कहा है कि जिसने अपने को पहिचाना उस ने खुदा को पहिचाना—"मन् अरफ़ा नफ़्सहू फ़क़द् अरफ़ा रब्बहू"। जब इस रूह को, जो खुदा का नूर है, हम लोग पहिचानेंगे, तभी मज़हबी झगड़े मिटेंगे और मज़हबी स्वराज मिलेगा। और तभी राजनीतिक, सियासती, सच्चे स्व-राज की भी शक्ल हम पहिचानेंगे, और तभी वह स्वराज भी हम को मिलेगा। बिना इस सच्चे 'स्व' को, अपने को, फिर से पहिचाने, हिन्दुस्तानी क़ौम मे बुज़ुर्गी, गौरव, गुरुता, मान्यता, वापस नहीं आवेगी। एक महात्मा गान्धी से इस चालीस करोर के जत्थे का काम नहीं चलेगा। इस भारी गरोह मे सच्ची रूह डालने के लिये, चन्दरोज़ा जोशाजोशी पैदा करने के लिये नहीं, बल्कि सच्ची रूहानियत, (आध्यात्मिकता, अध्यात्मभाव) पैदा करने के लिये, हर एक ज़िले और हर एक शहर और क़स्बे में हम को ऐसे आदमी चाहियें जो महात्मा जी के ठीक ऐसे नहीं तो उन के क़रीब तो होवें। ऐसे बुज़ुर्ग तभी होंगे जब सब मज़हबों के असली मुश्तरका उसूलों की, (मुख्य समान सिद्धान्तों की), तरफ़ सब का ध्यान दिलाया जायगा; जब देश मे ऐसे बुज़ुर्ग कस्रत से (बहुतायत से) होंगे, तब दूसरे मुल्क इस मुल्क की ताज़ीम (आदर) करने लगेंगे, इस की क़ूवत (शक्ति) बढ़ जायगी, और स्वराज आप आवेगा। क़ुरान मे कहा है "क़ुल तआलौ एला कलेमतिन् सवाइम् बईनना व बईनकुम्",

सब लोग उस एक बात की तरफ़ आओ जो हमारे और तुम्हारे दर्मियान एक है। वेद मे कहा है "सङ्गच्छध्वम्, संवदध्वम्, स वो मनांसि जानताम्", सब लोग एक साथ चलो, एक बात बोलो, एक ज्ञान जानो, एक सच्चे "स्व" को पहिचानो। यही सबसे ज्यादा ज़रूरी और पुर-असर अर्थात् प्रभावशाली उपाय है, जिस से सच्चा और मज़बूत स्वराज, धार्मिक भी, और राष्ट्रीय भी, हासिल (प्राप्त) होगा और क़ायम (स्थिर) रहेगा।

तफ़्रक़ा दर रूहि-हैवानी बुवद;
रूहि-वाहिद रूहि-इन्सानी बुवद। (मौलाना रूम)

भेद-बुद्धि, पशु की अवस्था के जीव का लक्षण है। अभेद-बुद्धि, मनुष्यता का।

रूह बा अक़्ल इल्म दानद ज़ीस्त;
रूह रा ताज़ी व तुर्की (मुसलिम व हिंदू) नीस्त। (सनाई)

जीवात्मा को, जीवन का अनुभव, बुद्धि और विद्या से होता है। रूह को तुर्कीपन या अरबीपन (या मुस्लिमपन या हिंदूपन) से मतलब नहीं।

मोकूँ कहाँ तू खोजै बंदे, मैं तो तेरे पास।
नहिं मंदिर मे, नहिं मस्जिद मे, मैं आतम विश्वास। (कबीर)
कह नानक, बिनु आपा चीन्हे मिटै न भ्रम की काई। (नानक)
तुलसी चित चिंता न मिटै बिनु चिन्तामनि पहिचाने। (तुलसी)

ढूंढ़ने हार नूं ढूंढ खाँ तूं, पया परत दे घर दा रस तैं नूं,
कहीं तू ही न होवे यार सब दा, फिरे ढूँढता जंगलाँ विच्च जिन्नूं।
(बुल्ला शाह)

ऐ क़ौम! ब हज रफ़्ता! कुजा एद, कुजा एद!
माशूक़ हमी जास्त, बिआयेद, बिआयेद!
माशूक़ि तो हमसायः तो, दीवार ब दीवार,
दर बादिया सरगश्ता चिरा एद, चिरा एद!
आना कि तलबगारि-ख़ुदा एद! ख़ुदा एद!
हाजत ब तलब नीस्त, शुमा एद! शुमा एद!
चीज़े कि न गर्दीद गुम, अज़ बहि्र चि जोयेद!

कस् ग़ैरि शुमा नीस्त, कुजा पद ! कुजा पद ! ! (शम्स तब्रेज़)
(हे ! जे हज को हौ चले ! लौटि आव ! फिरि आव !
प्यारो तुमरो तौ यहीं, तुम इत उत कित धाव !
मीत ! सँटो तुव भीत तें वा के घर की भीत !
मरु जङ्गल भटकत फिरत क्यों भूले भरमाव !
हे ! जे खोजत ईश कौ ! तुम ही तौ परमेश !
वस्तु उजागर, प्रकट, जो कबहुँ हिरानी नाहिं,
तेहिं खोजन को काज नहिं, नहीं सहन को क्लेश !
तुम तें दूजो कोउ नहीं, सब तौ तुमरहिं माहिं !
क्यों भूले ! कित हौ फिरत ! कैसो धारे वेश !)
दिला ! तवाफ़ि-दिलाँ कुन्; कि काबए-मख़फ़ीस्त,
के आँ ख़लील बिना कर्द, व ईं .ख़ुदा .ख़ुद साख़्त ।
(दिल ! फेरी करु आपनो, अरु काबा की नाहिं ;
तोहिं रच्यौ परमातमा, रच्यो ख़लीलहि ताहि ;
साँचो काबा है तुही, क्यों खोजै तू वाहि ?)
शिवमात्मनि पश्यंति, प्रतिमासु न योगिनः ;
आत्मस्थं ये न पश्यंति, तीर्थे मार्गंति ते शिवम् । (शिव पुराण)
(शिव कौ देखौ आपु महँ, अरु मूर्त्तिन मे नाहिं ;
जे नहिं देखत आप महँ, ते तीरथ भरमाहिं ।)
आत्मानंदः, आत्मरतिः, आत्मक्रीडः, आत्मतृप्तः, स स्वराड् भवति ।
(छांदोग्य)

सच्चे आत्मा को पहिचानो, आत्मगौरव, आत्मसम्मान, अपने मे लाओ, इसी से झूठे कृत्रिम बनावटी धर्म-मज़हबों के बन्धन और झगड़े भी छूटेंगे; अन्यायी परराज के भी क्लेश दूर होंगे; सच्चा स्वराज, आध्यात्मिक भी और राजनीतिक भी, मिलैगा ।

प्रार्थना-नमाज़-प्रेयर ।

इस व्याख्यान, तक़रीर, के आख़ीर मे, ईश्वर से प्रार्थना करना, अज्ञा

की नमाज़ करना, गाड से प्रेयर करना, खुदा से दुआ मागना, लाज़िम है; तीन मज़हबों की नमाज़ें, जो आप को सुनाता हूँ, और जिन में शामिल होने, संगत सम्वादी होने, की दरख्वास्त आप से करता हूं, इन से भी साबित प्रमाणित होगा, कि हर देस और हर ज़माने में, इन्सान के हृदय का भाव, परमात्मा के हुज़ूर में, एक ही रहा है--'हम को सद्बुद्धि दीजिये ! सीधी राह दिखाइये !'

अर्रहमान ! अर्रहीम !
इह्दिन अस्-सिरात्-अल्-मुस्तक़ीम !
सिरात्-अल्लज़ीना अनअम्ता अलैहिम,
गैर-इल्-मग़्ज़ूबि-अलैहिम् वला अज़्ज़ल्लीन् !
आमीं ! (कुरान)

(हे दयालो !, हे शुभंकर !, हम को सीधा, मुस्तक़ीम, निष्कंटक निरुपद्रव रास्ता, सिरात, दिखाइये, सिखाइये, इहदिन, हिदायत कीजिये; वह रास्त जिस पर आप की मेहरबानी रहती है, आप की दी हुई नेमतें मिलती हैं; न कि उन की ग़लत राह जिन पर आप का ग़ज़ब गिरता है !)

'अवर् फ़ादर् व्हिच आर्ट इन् हेवन् !
हैलोड् बी दाइ नेम् ! दाइ किङ्डम् कम् !
दाइ विल बी डन् औन् अर्थ, ऐज़् इट् इज़्
इन् हेवन् ! लीड अस् नाट् इन्टु
टेम्प्टेशन् , बट् डेलिवर् अस् फ्राम्
आल् ईविल !' (बाइबल्)[१]

(हे जगत्पिता ! जगत्सविता ! आप नाम धन्य है, परम पवित्र है, दयामय है, स्मरण से ही सब दुःखों को हर लेता है ! आप का राज्य हमारे हृदय में हो ! आप की आज्ञा, आप की इच्छा से, हमारी बुद्धि प्रेरित हो ! पृथ्वी पर आप की इच्छा का, आज्ञा का, वैसा ही पालन, मनुष्यों द्वारा हो, जैसा स्वर्ग में देवों द्वारा होता है ! हम को प्रलोभनो से बचाइये ! सब पापों से हमारी रक्षा कीजिये ! पापों के रास्ते पर हम को मत जाने दीजिये !)

---

1. Our Father which art in heaven !, hallowed be Thy name, Thy kingdom come. Thy will be done on earth as it is in heaven, Lead us not into temptation, but deliver us from all evil; (*Bible*).

ॐ अग्ने ! नय सुपथा राये, अस्मान्,
विश्वानि, देव !, वयुनानि विद्वान् !
युयोधि अस्मज् जुहुराणं एनः !
भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ! ॐ (ईश उप०)
ॐ भूः भुवः स्वः, तत् सवितुर् वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि,
धियो यो नः प्रचोदयात् । ॐ

(हे आगे ले चलने वाले ! सब संसार के नेता नायक ! सब जीवों को क्रमशः उन्नति देने वाले ! सब ज्ञानों के जानने वाले, सर्वज्ञ ! हम को सुख शांति समृद्धि मिलै ! हमारे मन मे पाप की बुद्धियों का उदय मत होने दीजिए ! हम आप को पुनः पुनः नमस्कार करते हैं, आप के आगे सिर झुकाते हैं, आप से पुनः पुनः प्रार्थना करते हैं, सद्‌बुद्धि दीजिये, सद्‌बुद्धि दीजिये ! जागते हुए, सपने मे, गहिरी नीद मे, हम आप की महा शक्ति का ध्यान करते हैं, जो सब जगत् को पैदा करती और चलाती है; हम को सद्‌बुद्धि दीजिये !) ॐ

ओम्-आमीं-एमेन्

नोट—जैसा इस अध्याय के आरम्भ मे एक नोट मे लिखा, यह व्याख्यान १३ अक्तूबर १९२३ ई० मे किया गया । श्री घनश्यामदास बिड़ला ने, इस की दस हज़ार प्रतियाँ, शब्दशः (लफ़्ज़ ब लफ़्ज़) नागरी और उर्दू, दोनो लिपियों, मे छपवा कर बँटवाईं । इस के बाद, १९३० के दिसम्बर मे काशी के सेन्ट्रल हिन्दू कालेज मे 'आल-एशिया एड्युकेशनल कान्फ़रेन्स' का अधिवेशन हुआ । उस अवसर पर, प्रबन्ध कर्त्ताओं के निमंत्रण से, मैने अंग्रेज़ी मे, उपबृंहित रूप मे, इसी आशय का व्याख्यान किया । कई मासिक पत्रिकाओं मे छपा । पुनः अधिक परिष्करण के बाद, पुस्तकाकार, दिसम्बर १९३२ मे, आड्यार, मद्रास, मे, अंग्रेज़ी मे छपा । पुनरपि, बहुत संस्करण परिबृंहण कर के, ७५० पृष्ठ की अंग्रेज़ी पुस्तक के रूप मे काशी मे, १९३९ के नवम्बर मास मे प्रकाशित हुआ है । पुनः परिशोधन परिवर्धन कर के, अब नया संस्करण (१९४७ ई० मे), काशी मे, थियोसाफिकल सोसायटी की ओर से छप रहा है ।

॥ ॐ ॥

५. प्रणव की एक पुरानी कहानी।

(संवत् १९६४ वि०, सन् १९०७ ई०, में, काशी नागरी प्रचारिणी सभा के भवन में, इस आशय का भाषण किया गया।)

कथा भाग।

संवत् १९५४, सन् १८९६-१८९७ ई०, की शीत ऋतु में, मुझ को बाराबंकी शहर में, (जहाँ मैं गवर्मेंटी नौकरी में, डेप्युटी कलेक्टर की हैसियत से काम करता था) अपने मित्र पंडित परमेश्वरी दास जी के घर पर, एक पण्डित मिले। नाम उन का धनराज था। मैं ने सुना कि बचपन में ही उन की दोनो आँखें मसूरिका (शीतला) के रोग में जाती रहीं, पर धारणा-शक्ति अद्भुत है, और बहुत से प्राचीन और बहुमूल्य ग्रन्थ उन को कण्ठस्थ हैं। उन से बात-चीत करने पर, मेरा मन उन की ओर बढ़ा।

उन का कहना था कि जिन बातों के केवल पूछने ही से, आधुनिक पंडित-समाज में, मनुष्य नास्तिक और भ्रष्ट समझा जाता है, उन सब का उत्तर विस्तार पूर्वक इन प्राचीन ग्रन्थों में लिखा है। उदाहरण के लिये कहा, कि बाल्यावस्था में मैं ने जब गुरु जी से पूछा कि, गुरु जी, पाणिनि के व्याकरण में माहेश्वर सूत्र चौदह ही क्यों हैं, पन्द्रह वा तेरह क्यों नहीं हैं; वा 'अइउण्' पहिले क्यो है, 'ऋलृक्' पहिले क्यों नहीं; वा पहिले सूत्र के अंत में इत् ण् क्यों है, क् क्यों नहीं; सूत्र में, अक्षरों का क्रम, अ इ-उ क्यों है, उ इ-अ क्यों नहीं; इन चौदह सूत्रों की वर्णमाला में ४३ ही अक्षर क्यों, कम-बेश क्यों नहीं; और उन ४३ में भी 'ह' दो बेर क्यों—तो इन सब प्रश्नों के उत्तर के स्थान में मार-पीट ही पाई। पीछे उन को किसी घूमते फिरते सन्यासी ने, लड़के की बुद्धि अच्छी देख के, पता दिया कि, यदि तुम को इन बातों की रुचि है, तो ऐसे स्थान में ऐसे पण्डित

के पास असल माहेश्वर सूत्र, बीस हज़ार, और नारदीय भाष्य, साठ पैंसठ हज़ार, ग्रन्थ संख्या के हैं, उन पण्डित के पास जा कर पढ़ो। इस प्रथा का एक श्लोक अब तक बाज़ार मे भी सुन पड़ता है—

यानि उज्जहार माहेशाद्, व्यासो, व्याकरणार्णवात्,
तानि किं पदरत्नानि भान्ति पाणिनिगोष्पदे ?

रत्नो के ऐसे जिन उत्तम शब्दों को व्यास जी ने समुद्र के ऐसे माहेश्वर व्याकरण से निकाला, क्या गाय के खुर के इतने गढे मे वे पद मिल सकते हैं ? नेत्रहीन लड़का, एक अन्य लड़के के साथ, बाप के घर से भाग कर वहाँ पहुँचा। उस को अधिकारी जान कर पण्डित ने उस का आदर किया और ग्रन्थ पढ़ाया। उस ने उस को कण्ठ में रख लिया। और तो कोई स्थान रखने का उस के पास था ही नहीं। एक पण्डित के घर से दूसरे पण्डित के यहाँ के गुप्त प्राचीन ग्रन्थों का पता लगा लगा कर, और खोज खोज कर, इन अमूल्य रत्नों को अपनी स्मृति के भंडार मे वह संचय करता रहा। कई लक्ष श्लोक उस ने कंठस्थ कर लिये।

यह सब आत्मोदंत उन्हीं नेत्रहीन पण्डित ने मुझ से कहा। इस मे कितना अंश सत्य है, कितना नहीं, इस के निर्णय के लिये, मेरे पास कोई स्वतंत्र निश्चायक प्रमाण नही।

विषय-प्रवेश।

ऐसा सुन के मैं ने उन से पूछा कि किसी प्राचीन ग्रन्थ मे आप को ब्रह्म पदार्थ का निरूपण इन शब्दों मे भी मिला है, अर्थात् 'अहं एतत् न'—'मैं यह नहीं' ? कुछ देर वे चुप रहे; फिर बोले, हाँ, इन्हीं अक्षरों से ब्रह्म का निरूपण, गार्ग्यायण-ऋषि-कृत 'प्रणववाद' नाम के ग्रन्थ मे किया गया है; और कुछ अंश, गद्यपद्य-मय, उन्हों ने पढ़ कर मुझ को सुनाया। उस समय तो वह सब वाक्य मेरी समझ मे नहीं आये। यद्यपि संस्कृत-ऐसे जान पड़ते थे, पर संस्कृत कुछ विशेष प्रकार की थी। हां, ये तीन शब्द "अहम्—एतत्—न" उस अंश मे अवश्य पहिचान पड़े, जैसे, दूर से, गहन अंधकार मे दीपक देख पड़ता है। इस से मेरी इच्छा उस

ग्रन्थ को आद्योपान्त सुनने की बढ़ी। पर बाराबंकी से, तबादिला हो कर, दूसरे स्थान को मुझे शीघ्र ही जाना हुआ; पण्डित धनराज भी अपने घर को, जो बस्ती के ज़िले में, तहसील खलीलाबाद, डाकखाना मेंहदावल, मौज़ा बेलहर कलाँ में (उन के कथनानुसार) था, चले गये। तीन वर्ष पीछे, जब मैं गवमेंट की नौकरी में नौ वर्ष बिता कर, १८९९ के आरंभ में इस्तेफ़ा दे कर, सेंट्रल हिंदू कालेज के कार्य में (जिस कालिज का स्थापन, श्री एनी बिसेंट ने, कुछ हिंदू सिख पारसी और कुछ अंग्रेज़ मित्रों की सहायता से, सन् १८९८ के मध्य में किया था), उस संस्था की निरीक्षक सभा और प्रबंध समिति के अवैतनिक मंत्री (सेक्रेटरी) के रूप से, यथाशक्ति सहायता करने के लिये बनारस आया; तब फिर प० धनराज से, संवत् १९५७ वि० (१९००ई०) में समागम हुआ। मैं ने उन को पंडित परमेश्वरी दास जी के यहाँ से बुला कर, अपने पास, काशी में, पांच महीने रक्खा। इस समय में, क्रमशः मैंने, तथा पण्डित गंगानाथ झा ने, (जो पीछे, काशी, फिर प्रयाग, के कालेज में संस्कृत के प्रोफ़ेसर हुए, और उस के बाद इलाहाबाद युनिवर्सिटी के वाइस-चान्सेलर नौ वर्ष तक रहे , और पण्डित अम्बादास शास्त्री ने (जो पीछे रणवीर संस्कृत पाठशाला में, और फिर बनारस युनिवर्सिटी, काशी विश्व विद्यालय में, न्याय वेदान्त के अध्यापक रहे) प्रणववाद ग्रन्थ, १६००० श्लोक संख्याऽऽत्मक, गद्य-पद्य मय, उन नेत्रहीन पण्डित के कण्ठोच्चार से लिख लिया। उसी ग्रन्थ का हाल आप से कहता हूँ।

इस ग्रन्थ में विस्तार से कहा है कि, प्रणव के जो तीन अक्षर हैं, अ, उ, और म्, उन का अर्थ 'अहम्, एतत्, और न'—यही है, और तीन का समाहार ही ब्रह्म का स्वरूप है।

अब आप लोग इस चिंता में होंगे कि, 'अहम्-एतत्-न', यह क्या रहस्य है, और प्रणव के अति पवित्र माने हुए शब्द में इस अर्थ को पहिना देने का क्या फल है? संस्कृतज्ञ 'हिन्दू' मात्र के कान में और मुह में यह बात है कि सारे संसार का सार वेद है, और वेद का सार गायत्री, और उस का भी सार और मूल-बीज प्रणव है। प्रणव ही से वेद की, और वेद से संसार की, उत्पत्ति है। पर इस प्रथा का अर्थ क्या है, प्रणव से वेद, और वेद से संसार, कैसे निकलता है, इस

प्रश्न का उत्तर, प्रचलित शास्त्र-ग्रन्थों और उन के शास्त्रियों से नहीं मिलता। यह सब उत्तर उस प्राचीन ग्रन्थ मे मिलता है, यह आप को दिखाने का यत्न करूँगा।

अपना अनुभव।

पहिले आप को यह बताना उचित है कि, किन विचारों के मार्ग से इस महावाक्य, 'अहम्–एतत्–न' के पास, पूर्व सस्कारों से प्रेरित हो कर, संवत् १९४४ मे मै पहुँचा। क्योंकि प्रणववाद ग्रन्थ मे यह अंश, साधनिका का, जिज्ञासु के इस महावाक्य तक क्रमशः पहुँचने का, नहीं कहा है। प्रत्युत, यह महावाक्य सिद्धवत् मान लिया गया है, और संसार मे, तथा विविध शास्त्रों मे, उस के भाव की व्याप्ति का व्याख्यान किया है। बिना इस पूर्वाङ्ग के, इस साधनिका के, जाने, प्रणववाद ग्रन्थ का सब विषय प्रायः अस्पष्ट और दुरूह रह जायगा। इस लिये आप का निमंत्रण करता हूँ कि थोड़ी देर के लिये आप मेरे साथ इस विचार मार्ग पर चलिये।

जिज्ञासु से ही कहना।

यहाँ ऐसी शंका हो सकती है कि पुरानी मर्यादा है, "नऽपृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्", जब तक कोई पूछै नहीं तब तक कुछ कहना नहीं, विशेष कर के अध्यात्म विषय मे। जिस को भूख नहीं उस से खाने के लिये निर्बंध करना, स्पष्ट ही अनुचित है। फिर मै आप को ऐसा निमंत्रण क्यों देता हूँ ? तो ऐसा नहीं। प्राचीन मर्यादा का पालन ही कर रहा हूँ। क्योंकि वह मर्यादा नितरां हेतुयुक्त है। जिस को भूख नहीं उस को भोजन देना अनुचित है, हानि-कारक है। जिस को सुनने की इच्छा नहीं उस को सुनाना दोष-कर ही है। पर नागरी प्रचारिणी सभा के अधिकारियों ने मुझे प्रस्तुत विषय पर कहने का निमंत्रण दिया, और आप लोग यहाँ पधारे हो, इसी से स्पष्ट सिद्ध होता है कि आप सब लोग इस विषय पर-व्याख्या सुनना चाहते हो। इसी हेतु से मुझे भी उत्साह होता है कि आप को प्रतिनिमंत्रण दूँ कि आप सुनिये, और मेरे साथ इस विचार मार्ग पर चलिये। इस मार्ग पर पहिला पदपात यह है,

दुःख-त्रय-ऽभिघाताज् जिज्ञासा तद्-अपघातके हेतौ। (सांख्य-कारिका)

अंतिम प्रश्न।

अनन्त जीवों की अनन्त इच्छा एक मात्र यही है कि सुख हो और दुःख न हो। इन अनन्त जीवों ने सुख दुःख भी अनन्त प्रकार के मान रक्खे हैं; और, इस कारण से, उपाय और चेष्टा भी अनन्त प्रकार की करते हैं। पर, अनुगम करने से, सब सुखों का मूल स्वरूप एक, और सब दुःखों का भी मूल स्वरूप एक, ही जान पड़ता है। 'मैं' 'अहम्' आत्मा, की वृद्धि, इस की सत्ता का विस्तार—यही सुख का स्वरूप है। इस की हानि—इस की सत्ता की कमी—यही दुःख का स्वरूप है। कारण भी इस का स्पष्ट है। यद्यपि उपाधि के भेद से जीव अनन्त हैं, पर मूल स्वरूप सब का भी एक 'मैं' ही है। इसी कारण से मनु ने कहा है,

> सर्वं परवशं दुःखं, सर्वं आत्मवशं सुखं;
> एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः।

उपनिषदों में भी कहा है, "आत्मनस्तु कामाय सर्वं वै प्रियं भवति," "आत्मा वै श्रेष्ठश्च प्रेष्ठश्च", "आमंत्रितो, अहम् अयम् इत्येव अग्रे उक्त्वा, अथ अन्यन् नाम प्रब्रूते, यद् अस्य भवति"। (बृ० आ०)

जहाँ जहाँ अपनापन है, अपना वश चलता है, अपनी हुकूमत है, वहाँ सुख है। जहाँ जहाँ परायापन, परतन्त्रता, दूसरे की हुकूमत है, वहाँ वहाँ दुःख है। "पराधीन सुख सपनेहु नाहीं"। 'मैं' के ही लिये जो कुछ भी प्रिय है वह प्रिय है। 'मैं' ही सब से श्रेष्ठ भी है, प्रेष्ठ (प्रियतम) भी है। जब किसी से पूछा जाता है, कि तुम कौन हो, तब, पहिले, 'मैं' कह कर, पीछे 'अमुक हूँ' कहता है। जीव अपने को जैसा भी मान ले, उसी प्रकार के अहं की वृद्धि और ह्रास से, उस काल में, उस को सुख और दुःख होता है। यदि अपने को बलवान्, या रूपवान्, या यशस्वी, या धनी मान लिया है, तो बल, या रूप, या यशस्, या धन की वृद्धि-हानि से उस को सुख-दुःख होता है। यदि प्रतिष्ठा में उस का अहंभाव, अहंकार, है, तो प्रतिष्ठा के वृद्धि-ह्रास से सुख-दुःख होता है। यदि

कीड़ा अथवा पशु अथवा पक्षी बना है, तो उसी कीटता पशुता और पक्षिता की वृद्धि-हानि मे वह सुख-दुःख का अनुभव करता है। यदि वह विषय-भोगी है तो विषयिता की वृद्धि-हानि से। यदि तपस्वी है, वा विद्याऽनुरागी है, तो तपस्विता वा विद्वत्ता की वृद्धि-हानि मे सुख-दुःख मानता है। यदि मनुष्य या राजा या देवता है तो मनुष्यत्व की या राजत्व की या देवत्व की सामग्री की वृद्धि और हानि से सुख और दुःख भोगता है। यदि ब्रह्मांड का अधिपति, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, आदि, है, तो ब्रह्मत्व, विष्णुत्व, शिवत्व, आदि के वृद्धि-ह्रास मे। यदि स्त्री है तो स्त्रीत्व, पुरुष तो पुरुषत्व, के। जिस बात का अहंकार है, जिस मे 'अहंता' (और उसी का किंचित मृदु वा तरल आकार 'ममता') है, उसी अहं (और मम) के पोषण से सुख, और शोषण से दुःख, पाता है।

सब से बड़ी परतन्त्रता मृत्यु की है; इस से कोई भी बचा नहीं है। राम ने वसिष्ठ से पूछा—

परमेष्ठी अपि निष्ठावान्, ह्रियते हरिः अपि अजः,
भवः अपि अभावं आयाति, का एव आस्था मादृशे जने ? (यो० वा०)

परमेष्ठी ब्रह्मा भी, अज हरि विष्णु भी, भव शिव महादेव भी, काल से लुप्त हो जाते हैं, तो मेरे ऐसा क्षुद्र जीव कैसे धीरज धरे ?

व्यास ऐसे पिता ने, शुक ऐसे पुत्र को, यही उपदेश दिया—

किं ते धनेन, किमु बन्धुभिः एव वा ते,
किं ते दारैः, पुत्रक !, यो मरिष्यसि ?
आत्मानं अन्विच्छ, गुहां प्रविष्टं;
पितामहाः ते क गताः, पिता च ? (म०भा०)

हे पुत्र !, पत्नी, पुत्र, बन्धु, धन दौलत, कोई भी मौत के आगे काम न आवेंगे। (हृदय की) गुहा के भीतर छिपे हुए आत्मा की खोज करो। पता लगाओ कि पिता पितामह कहां से आये, कहाँ हैं, कहां गये, कहां जायँगे। "करो रे बन्दे वा दिन की तदबीर"। आत्मा का पता लगने से सब का पता लग जायगा।

नचिकेता ने यम से यही वर माँगा—

या इयं प्रेते, विचिकित्सा, मनुष्ये,
अस्ति, इति एके, न ऽयं अस्ति इति च ऽन्ये,
एतद् विद्याम् अनुशिष्टः त्वया ऽहं;
वराणाम् एषः वरः तृतीयः ।

मनुष्य मर जाता है। देखने वालों को संदेह होता है कि जीव बचा है कि नहीं। इस का रहस्य बताओ। सच क्या है ? जीव, आत्मा, अमर है, या नहीं ? यम ने धन दौलत, माहाराज्य, साम्राज्य, रूप रंग, सुन्दर स्त्री पुत्र, अति दीर्घ आयु आदि, की लालच बहुत दी। पर लड़के ने यही कहा कि, जब तुम मृत्यु के स्वरूप से सामने आ खड़े होगे, तब ये सब किस काम आवेंगे ? ये सब तो तुम्हारे ही हैं, जब चाहोगे तब छीन लोगे। इस लिये यह परम रहस्य ही बताओ, कि मैं अमर हूं या नहीं हूं; स्वाधीन हूं या तुम्हारे अधीन हूं, तुम्हारा गुलाम हूँ। यही मेरा अन्तिम वरण है, यही सब से अधिक चाहता माँगता हूँ।

यदि मौत के भय से छूटै, तो जीव सब परतन्त्रता से छूटै, और तभी उस की आत्मवशता और सर्वश्रेष्ठता सिद्ध हो। तब यह कह सकै कि, मैं सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापी हूँ। तभी इस को परमानन्द हो। "भूमा वै सुखम्"। तभी आत्मा की, 'अहम्' की, 'मैं' की, भूमा, बहुता, बड़प्पन, सिद्ध हो। "न ऽल्पे वै सुखम् अस्ति", आत्मा के छोटेपन मे सुख नहीं, जब तक आत्मा अपने को छोटा, किसो से भी छोटा, किसी के भी अधीन, किसी के भी परवश, किसी प्रकार से भी मृत्यु के वश, समझता है, तब तक सुखी नहीं।

विचार सोपान।

इस मौत के भय से छूटने के लिये, बड़े बड़े विचार मनुष्यों ने किये। एक सर्वस्रष्टा परमेश्वर को माना। आरंभ-वाद मे विश्वास किया। परमेश्वर की भक्ति से अमरत्व मिलैगा। भक्ति-शास्त्र बने। न्याय-वैशेषिक दर्शन बना। उस से सन्तोष नहीं हुआ। महा पराधीनता तो बनी ही रही। यदि परमेश्वर रुष्ट हो जाय तब क्या होगा ? यदि भक्तिप्रदर्शन से, स्तुति से, वंदना से, अनवरत सेवकता, दासता, गुलामी से, चित्त मे कभी ग्लानि उत्पन्न हो, और परमेश्वर की इच्छा

के प्रतिकूल कोई बात अपने से हो जाय, तब तो अमरता गई ? और भी; यदि परमेश्वर सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वकल्याणमय है, तो फिर उस के बनाये संसार में इतना दुःख, इतना पाप, क्यों ? क्या परमेश्वर भी विषम है, असमदर्शी, पक्षपाती, दुआगरी करने वाला, एक को सुख और बहुतों को बहुत दुःख जान बूझ कर देने वाला, क्रूर और निर्घृण है ? ऐसी असमाधेय शंकाएँ उठीं। नास्तिक दर्शन बने। सांख्य-योग बने। पुरुष और प्रकृति दो अनन्त अनादि पदार्थ माने गये। परिणाम-वाद चला। इस से भी सन्तोष न हुआ। मतलब तो सदा यही रहा कि एक ही पदार्थ हो; दूसरा न हो; और वह एक पदार्थ स्वयं 'अहम्' आत्मा 'मै' हो, कि दूसरे का भय न हो; तभी तो स्वतन्त्रता सिद्ध हो। यह अभिप्राय तो सिद्ध नहीं हुआ। और दो अनन्त कैसे ? आपस में टकरायँगे नहीं ? "द्वितीयाद् वै भयं भवति"। इन घोर शंकाओं ने फिर जिज्ञासु को आगे बढ़ने को धक्का दिया। माया-वाद, अविद्या-वाद, अध्यास-वाद, आभास-वाद, विवर्त्त-वाद, चला। वेदान्त दर्शन बना। एक आत्मा; और उस की ही माया से, उसी की अनन्त उपाधि, और अनन्त सुख दुःख का मिथ्या जञ्जाल; और वह एक आत्मा मृत्यु से परे। पुरुष और प्रकृति नहीं, असंख्य पुरुष और एक प्रकृति नहीं, किन्तु पुरुष की प्रकृति, एक पुरुष परमात्मा की अनंत प्रकृति, माया, शक्ति।

यहाँ तक तो वेदान्त दर्शन आया, और बहुत दूर आया। संसार के दो विभाग कर डाले; एक 'मैं', विषयी; और एक 'यह' सब कुछ, जो मैं से अलग है, विषय है, इतर अन्यत् 'एतत्', आत्मा का विवर्त्त, है, विरुद्ध है, उलटा है, आभास मात्र है, अहं पर, आत्मा पर, अध्यस्त है, अध्यारोपित है। और यह भी कहा, कि 'मैं' ही तो सच है, और 'यह' सब कुछ मिथ्या है। पर शङ्का फिर भी रह गई। 'यह' कहाँ से आया, क्यों आया ? 'मैं' का और 'यह' का संबन्ध मिथ्या ही सही, पर क्यों हुआ और कैसे हुआ ? और यदि एक बेर हुआ तो फिर फिर क्यों नहीं होगा ? क्या आशा कि इस से कभी पूरा छुटकारा हो जायगा ? जो वेदान्त के महावाक्य प्रचलित हैं उन से पूरा-पूरा सन्तोष नहीं होता। कोई तो आत्मा को क्रियावान् सिद्ध करते हैं। "सोऽकामयत,

बहु स्यां, प्रजायेय ।" "तत्सृष्ट्वा तदेवऽनुप्राविशत्", इत्यादि । उस एक अद्वितीय परमात्मा ने चाहा कि मै, जो अकेला हूँ, सो बहुत हो जाऊँ, मेरी बहुत-सी प्रजा हो जायँ । और उसने शरीर रचा और उसी मे स्वयं प्रवेश किया ।

कोई महावाक्य आत्मा को केवल निष्क्रिय सिद्ध करते हैं । "अहं ब्रह्म ऽस्मि", "न इह नानाऽस्ति किंचन" इत्यादि । मै ब्रह्म हूँ, एक हूँ, मै ही हूँ; 'नाना', अनेक वस्तु, अनेकता, असत् है, है ही नहीं ।

पर इन दोनो प्रकार के महावाक्यों से हमारा सन्तोष नहीं होता । हम को तो ऐसा वाक्य चाहिये कि जिस मे सारा संसार मुट्ठी मे बन्द हो जाय । ब्रह्म की, 'मै' की, निष्क्रियता मे भी विकार न आवे; क्योंकि यदि उस मे क्रिया पैदा हुई तो यह किसी न किसी कारण से परतन्त्र हो जायगा, और परिवर्तनशील हो कर मौत के मुह मे भी पड़ सकेगा; परिमित, परिच्छिन्न, परिणामी, परिवर्त्तन चंचल, ठहरैगा; "परिपूर्णस्य का स्पृहा"; जो परिपूर्ण है, जिस मे कोई कमी नहीं है, उस का किसी बात की इच्छा क्यों होगी ? और जब कोई इच्छा नहीं, तो कोई क्रिया क्यों करैगा ? क्रिया तो किसी इच्छा को पूरा करने के लिये की जाती है । और साथ ही इस के, संसार की सक्रियता, जो प्रतिक्षण प्रत्यक्ष देख पड़ती है, वह भी समझ मे आ जाय । 'मिथ्या' शब्द का अर्थ केवल आँख बन्द कर के निषेध ही का, अभाव ही का, न रह जाय, बल्कि ठीक ठीक समझ मे आ जाय ।

यह बात, "अहम् ब्रह्म" और "न इह नाना अस्ति किंचन", इन दोनो वाक्यों को एकत्र करने से सिद्ध होती है । 'अहं–(नाना, किंचन =) एतत्–न' ।

शैल-शिखर-प्राप्ति ।

अहम्-एतत्-न = 'मै-यह-नहीं' । यह ऐसा महावाक्य है कि जिस मे दोनो बातें सिद्ध होती हैं । यदि इन तीनो पदार्थों को एक साथ लीजिये, तो केवल एक एकऽाकार एक-रस अखण्ड निष्क्रिय संवित् देख पड़ती है । 'मै-यह-नहीं', इस मे कोई क्रिया विक्रिया नहीं है, कोई परिवर्त परिणमन नहीं है; केवल एक बात सदा के लिये कूटस्थवत् स्थिर है, अर्थात् केवल 'मै' है, 'मै' के सिवा और कुछ नहीं है, अथ च 'मै' अपने सिवा कोई अन्य वस्तु, अन्य पदार्थ,

ऐसे ऐसे रूप रंग नाम आदि का, नहीं हूँ। यदि इस वाक्य के दो खण्ड कीजिये, पहिले 'मैं-यह', और फिर 'यह-नहीं', तो इसी वाक्य मे संसार की सब कुछ क्रिया, इस के सम्पूर्ण परिवर्त का तत्त्व, देख पड़ता है। 'मैं-यह-हूँ', यही जीवन का, जनन का, जन्म लेने का, शरीर धारण का, स्वरूप है। 'मैं-यह-नहीं-हूँ', यही मरण का, शरीर-त्याग का, स्वरूप है। क्रिया-मात्र का, सब अनन्त असंख्य क्रिया का, यही द्वन्द्व स्वरूप है। सब क्रिया जोड़ा जोड़ा चलती है—लेना और देना, पकड़ना और छोड़ना, बढ़ना और घटना, हँसना और रोना, जीना और मरना, उपाधि का ग्रहण करना और उस मे अहंकार करना और फिर उस को छोड़ कर उस से विमुख होना, पहिले एक वस्तु मे सुख मानना और उसी वस्तु मे पीछे दुःख मानना। अध्यारोप और अपवाद, प्रवृत्ति और निवृत्ति, इन दो शब्दों मे संसार का, संसरण का, तत्त्व सब कह दिया है। यदि सम्पूर्ण दृष्टि, समष्टि दृष्टि, परमार्थ दृष्टि से देखिये, तो इस वाक्य मे सम्पूर्ण संसार, अनादि और अनन्त, सर्वकाल और सर्वदेश के लिए, निस्पंद, निष्क्रिय, शिला के ऐसा बन्द है। योगवाशिष्ठ मे महा-शिला-सत्ता का रूपक बांधा है। यदि खंड दृष्टि से, व्यष्टि दृष्टि से, व्यवहार दृष्टि से, देखिए तो इस मे क्रिया और क्रम है। रामायण की पोथी समग्र यदि हाथ मे उठा लीजिये, तो राम का जीवन वृत्तान्त, सम्पूर्ण, इस मे प्रतिक्षण मौजूद है। यदि एक एक पन्ना देखिये, तो क्रम पैदा होता है। वैसी ही, इस वाक्य की दशा है। यदि इस को समग्र उठा लीजिये, तो सब पसार "सर्व सर्वत्र सर्वदा", इस मे है। यदि एक एक 'यह' को लीजिये, तो अनन्त क्रम पैदा हो रहा है।

इस की बारीकियों के विस्तार से विचार करने का यहाँ अवसर नहीं। यह सब सूक्ष्म परीक्षा निरीक्षा समीक्षा मैं ने 'दि सायंस आफ़् पीस' और 'दि सायस आफ़् दि इमोशन्स' ('शांति शास्त्र' और 'क्षोभ शास्त्र') तथा 'दि सायस आफ़ दि सेल्फ़'[1] नाम के ग्रन्थों मे (अंग्रेज़ी भाषा में) यथा-शक्ति विस्तार

1. The Science of, Peace, The Since of the Emotions, The cience of the Self.

से लिखने का यत्न किया है। अंग्रेज़ी मे लिखने की समापत्ति कैसे हुई, यह मै ने उक्त दूसरे ग्रन्थ की भूमिका मे कहा है।[१] आप सरीखे विज्ञ जनो की रुचि इस ओर देख कर आज हिंदी मे कुछ कहने का मुझे सौभाग्य और उत्साह प्राप्त हुआ है। यदि ऐसी अभिरुचि बनी रही, तो हिंदी मे और भी कहने लिखने का साहस करूँगा। इस स्थान पर केवल इतना ही कह कर आगे चलता हूँ, कि जो जो दार्शनिक मत इस समय प्रचलित हैं, उन सब का तत्त्व इस वाक्य मे मौजूद है। उन सब के विरोध का परिहार और सर्वसमन्वय का मार्मिक रहस्य भी इसमे है। और जो जो कमी इन मे से एक एक मे है वह सब इस मे पूरी हो जाती है। द्रष्टा और दृश्य, भोक्ता और भोग्य, विषय और विषयी, ज्ञाता और ज्ञेय, एष्टा और इष्य, कर्त्ता और कार्य, जीव और देह, चेतन और जड़, आत्मा और अनात्मा, 'मै' और 'यह', दोनो इस मे मौजूद हैं। इन दोनो का स्वरूप भी इस मे है, एक का सत् और दूसरे का असत्। इन दोनो का संबंध भी इसी मे है, निषेधरूपी। और यह बात भी इसी मे पैदा होती है कि जिस जिस वस्तु का निषेध, प्रतिषेध, अपलाप, अपवाद, निराकरण, निरास किया जाता है, उस का पहिले अभ्युपगम, अध्यारोप, विधान, संभावन, संकल्पन, अध्यसन कर लिया जाता है। पहिले यह माना जाता है कि उस का सम्भव है, और तब उस की वास्तवता का निषेध होता है। इसी से असत् पदार्थ पर, सत्ता का मिथ्या आरोप देख पड़ता है।

अपने विषय मे तो यह कह सकता हूँ, कि जब से हृदय मे इस त्रिपदऽात्मक महावाक्य और तद्वाचित त्रिपदऽर्थसमाहारऽात्मक संवित् का उदय हुआ, तब से बहुत सी शंका निवृत्त हुईं; बहुतेरे सिद्धान्तविषयक, सामान्यविषयक, प्रश्नो का उत्तर मिला, (विशेष तो असंख्य हैं, असंख्य विशेषों का ज्ञान तो अनन्त देश, में, अनंत क्रियाओं से, ही हो सकता है); सनातन-वैदिक-बौद्ध-आर्य-मानव धर्म, कैसे अध्यात्मविद्या से, ब्रह्मविद्या से, उत्पन्न हुआ, और कैसे उसपर प्रतिष्ठित निष्ठित है,

---

१. थोड़े मे यह कि अन्य देशों मे, तथा भारत के ही अन्य प्रान्तों में, हिन्दी नहीं समझी जाती, तथा अंग्रेज़ी को अक्सर पढ़े लिखे आदमी समझ लेते हैं।

यह बात कुछ-कुछ समझ मे आई; विरोधों के परिहार का, भेदों के समन्वय का, मूल-सूत्र हाथ लगा; प्राचीन आर्ष ग्रंथों में, जो वाक्य और अर्थ, नीहार से आच्छन्न थे, उन पर कुछ कुछ आलोक पड़ा, और मार्ग सूझने लगा। मेरे लिये तो, यह वाक्य और संवित् अँधेरे में दीपक हुए। अंतरात्मा से, परमात्मा से, प्रार्थना है कि औरों को भी ऐसे ही होवैं। जब से यह महामंत्र कहिये, महावाक्य कहिये, जिस से परमात्मा के, चैतन्य के, संवित् के, स्वभाव का, संसार के मूल नियम का, नियति का, व्याख्यापन होता है, मन मे उदित हुआ, तभी से ऐसा भान होने लगा कि, हो न हो, प्रणव के तीन अक्षरों का यही अर्थ होगा। पर, निश्चय नहीं होता था। उपलब्ध ग्रन्थों मे इस अर्थ की चर्चा नहीं। प्रणववाद सुनने पर यह निश्चय हुआ।

प्रणव-वाद का विषय। महावाक्य।

इस वाक्य से जो फल उत्पन्न होते हैं, उन का वर्णन विस्तार से प्रणव-वाद मे किया है। उन्हें, थोड़े मे आप से कहता हूँ।

प्रणव के तीन अक्षरों का अर्थ तीन शब्दों से किया गया और एक मूल महावाक्य निकला। 'अ' का अर्थ 'अहम्' (आत्मा); 'उ' का 'एतत्' (अन-हम्, अनात्मा); 'म' का 'न' (निषेधात्मक सम्बन्ध)। आदि महावाक्य हुआ 'अहम्-एतत्-न', जो परमात्मा ब्रह्म के स्वरूप को भी, और स्वभाव, प्रकृति, के प्रकार को भी अर्थात् संसार को भी, दिखाता है। इन तीन शब्दों के जोड़ तोड़ और उलट फेर से, अवान्तर महावाक्य निकलते हैं। एक एक महावाक्य, संसार के एक एक विभाग और प्रकार का नियम वा क़ानून है, उसी के अनुसार, संसार का वह विभाग चलाया जाता है। जैसे आज काल के किसी राज्यप्रबन्ध मे, बीसियों अथवा पचासों सीग़े और महकमे हैं, और हर एक सीग़े और महकमे के चलाने के लिये सिद्धान्त और विधि विधान, उसूल क़ायदे क़ानून, नियत हैं, और उन्हीं नियमों के अनुसार सरकारी नौकर उन विभागों का काम चलाते हैं; वैसे ही एक एक महावाक्य एक एक ईश्वरी क़ानून की किताब का हृदय है; बीज है, मूल मंत्र है, और देवता, ऋषि, जीवन्मुक्त आदि, जो जो उस उस विभाग

के अधिकारी हैं, वे उन क़ानूनों को अमल मे लाते हैं, और उन के अनुसार संसार का व्यवहार चलाते हैं ।

एक शब्द 'अदालत' कहने से सैकड़ों न्यायालय, दफ़्तर और दफ़्तरी, हज़ारों कर्मचारी, लाखों वादी, प्रतिवादी, साक्षी की सूचना होती है । एक शब्द 'माल' से एक बड़ा भारी प्रबन्ध, देश भर की आमदनी-ख़र्च, आय-व्यय, आयात-निर्यात, का आँख के सामने आ जाता है । एक एक शब्द, सेना, शिक्षा, वार्त्ता, वाणिज्य-व्यापार, खेती-बारी, कहने से, देश के शासन और जीवन के एक एक बड़े अङ्ग का सूचन और स्मरण हो जाता है । वैसे ही, एक एक महावाक्य से संसार मात्र के एक एक विभाग का, 'प्रकार' का, ज्ञान होता है, और व्यवहार चलता है ।

संसार के प्रबन्ध के मूल नियम ।

मुख्य प्रकार कौन-कौन हैं ? किन-किन महावाक्यों से उन की सूचना होती है ? उन के अमल करने वाले अधिकारी कौन-कौन हैं ? इस के निर्णय निश्चय के लिये, उसी मूल महावाक्य पर ध्यान करना चाहिए । क्यों कि उसी से, और उसी मे, सब संसार की सृष्टि, स्थिति, और लय, होना उचित है । 'अहम्' 'मै', आत्मा का स्वरूप है । 'एतत्', 'यह', अनात्मा का । इन दोनो का सम्बन्ध निषेध-रूप है । 'मै यह नहीं हूँ'—इस भावना, इस धारणा, इस संवित् को, यदि क्रम-दृष्टि से देखिये, तो इस मे तीन बातें अवश्य निकलती हैं । पहिले तो 'मै' के सामने 'यह' पदार्थ आता है; इस क्षण में ज्ञान होता है । इस के पीछे, 'मै' और 'यह' के संयोग-वियोग का, 'स्याम्, न स्याम्', 'होऊँ, न होऊँ' का, संभव होता है; यही इच्छा है । तीसरे क्षण मे संयोग वा वियोग होता है । यह क्रिया है । संयोग-वियोग, दोहरा शब्द, इस लिये कहा जाता है, कि पहिले संयोग हो कर पीछे अवश्य वियोग होता है । पहिले राग पीछे द्वेष, पहिले प्रवृत्ति पीछे निवृत्ति, पहिले लेना पीछे देना, पहिले जन्म पीछे मरण, पुनः जन्म पुनः मरण, यही संसरण क्रिया है ।

ज्ञान, इच्छा, क्रिया ।

ये ही तीन बातें, ज्ञान, इच्छा, और क्रिया, जीवमात्र और जीवनमात्र का

मुख्य प्रकार, क्या सर्वस्व, हैं। प्रति क्षण मे प्रत्येक जीव इसी 'ज्ञान, इच्छा, क्रिया', 'ज्ञान, इच्छा, क्रिया', के फेरे मे फिरा करता है। पहिले ज्ञान, तब इच्छा, तब क्रिया; और क्रिया के बाद फिर ज्ञान, फिर इच्छा, फिर क्रिया। यह अनन्त चक्र सर्वदा चल रहा है।

प्रणव मे 'अ-कार' ज्ञान का सूचक है, 'उ-कार' क्रिया का, 'म-कार' सद्-सदात्मक विधि-निषेध-ऽात्मक इच्छा का। अहं-आत्मा-पुरुष वा प्रत्यगात्मा मे, इन तीन पदार्थों का जो बीज है, उस को सत्-चित्-आनन्द के नाम से कहते है। ज्ञान चिदात्मक, क्रिया सदात्मक, इच्छा आनन्दात्मक। अनात्मा वा मूल-प्रकृति मे, ये ही तीन पदार्थ, सत्त्व ज्ञानात्मक, रजस् क्रियात्मक, और तमस् इच्छाऽात्मक कहाते हैं। ये ही तीन, प्रत्येक परमाणु और प्रत्येक ब्रह्माण्ड मे सदा विद्यमान हैं। ब्रह्माण्ड मे ज्ञान के अधिष्ठाता देवता का नाम विष्णु है; क्रिया के, ब्रह्मा; इच्छा के, शिव। ऐसे ब्रह्माण्ड अनन्त हैं, प्रति ब्रह्माण्ड मे यह त्रिमूर्ति है। और त्रिमूर्ति के ऊपर और नीचे, निरन्तर, अनन्त शृङ्खला अधिकारियों की फैली है; जैसे राज्य के प्रबन्ध मे यामिक, चपरासी, चौकीदार से ले कर सम्राट् शाहनशाह तक है। ये अधिष्ठाता देवता और अन्य-अन्य अधिकारी भी, वैसे ही, अपने अपने स्थान पर, वैराग्य और निवृत्ति और मुक्ति की परीक्षा के पीछे, नियुक्त किये जाते हैं, जैसे किसी पार्थिव राज्य के कर्मचारक, योग्यता की परीक्षा के पीछे।

ऋग्वेद।

'अहं' (मै), 'अहं अस्मि' (मै हूँ), "अहं ब्रह्माऽस्मि", (मै ब्रह्म हूँ), यह महावाक्य, ज्ञान का सार है। इस का अमल, व्यवहरण, प्रयोग, विष्णु देवता के सपुर्द है। इस की टीका ऋग्वेद है। ऋग्वेद का मुख्य महावाक्य यही है। ऋग्वेद को इसी का विस्तार जानना चाहिये। विष्णु देवता के सीग़े के क़ानून की किताब ऋग्वेद है। ज्ञानसर्वस्व इस मे मौजूद है।

यजुर्वेद।

'एतत्' (यह), 'एतत् (बहु) स्याम्' (यह, बहुत, होऊँ), 'एकोऽहं

बहुधा स्याम्', (एक मैं, बहुत अर्थात् अनेक, नाना हो जाऊँ), यह महावाक्य, क्रिया का तत्त्व है, और यजुर्वेद का मूल मंत्र है। इस के अधिष्ठाता ब्रह्मा हैं; चारों वेदों के वक्ता, ब्रह्मा इस लिये कहे जाते हैं कि, वेदों के प्रकाश करने का क्रिया ब्रह्मा ही के द्वारा होती है। वस्तुतः एक एक वेद के रचने वाले देवता एक एक अलग अलग हैं।

सामवेद।

'न', (नहीं), 'एतत् न', (यह नाना दृश्यमान नहीं), "नेह नानाऽस्ति किञ्चन", (नाना पदार्थ कुछ हैं ही नहीं, केवल एक आत्मा ही है), यह महावाक्य, इच्छा का तत्त्व है। इच्छा का काम यही है कि, जीव को बहुत-सी संसार की वस्तुओं की ओर ले जाय, और फिर उन से जीव अघा उबिया जाय, दुखी हो, उस की इच्छा की पूर्ति न हो, और असंतोष और वैराग्य भोगे। इच्छा ही जीव को पहिले 'अस्ति' का स्वरूप दिखा कर, फिर 'नास्ति' का स्वरूप दिखाती है। अपनी इच्छा ही के कारण संसार में पड़ कर और दुःख भोग कर, तब जीव कहता है कि यह सब कुछ नहीं है, सब झूठ है। यह इच्छा का स्वरूप है। सामवेद का यह महावाक्य मूल है, और शिव इस के अधिष्ठाता हैं।

अथर्ववेद।

इन तीनों वाक्यों का समाहार वही मूल वाक्य है, अर्थात् "अहं एतत् न", और अथर्ववेद इस का व्याख्यान है, जिसे स्वयं महाविष्णु ने रचा है।

जैसे ही महाविष्णु ने, समष्टिरूप से, अथर्ववेद रच कर अपने मातहतों के, अपने अधीन अधःस्थ अधस्तन अधिकारियों के, सपुर्द किया, और उन्हों ने अपने अपने विभागों के काम के लिये, अपने मातहतों के लिये, विशेष रूप से ऋक् यजुः साम रचा, वैसे ही महाविष्णु के उपरीण, नपरिष्ठ, बालादस्त, ऊपर के अधिकारियों ने महाविष्णु की शिक्षा के वास्ते महावेद महागायत्री आदि रचा है। यह क्रम अनन्त है। मूल सूत्र, मूल स्मृति, मूल महावाक्य, तो सब में वे ही हैं। भेद, टीका के विस्तार के परिमाण का ही है। अन्यथा, "अन्योऽन्यभावः समः"।

गायत्री।

गायत्री की कथा यह है कि चौबीस मुख्य महावाक्यों के सूचक, एक एक अक्षर ले कर, गायत्री महामंत्र बना है।

यह बात जो सिद्ध हुई है, अर्थात् ज्ञान इच्छा क्रिया, तीन, और चौथे 'न', का समाहार—इसी के हिसाब से, इन्हीं पदार्थों के परिवर्त्तन से, संसार के अनतानंत विभाग हो गये हैं। यह तो पहिले कह आये हैं कि, इन्हीं तीन बातों का नाम, आत्मा वा प्रत्यागात्मा की दृष्टि से, चित्, आनन्द, और सत् है। इन्हीं तीन गुणो के कारण, प्रत्यगात्मा सगुण ब्रह्म कहाता है। मूल प्रकृति की दृष्टि से इन के नाम सत्त्व, तमस्, और रजस् हैं। प्रत्यगात्मा और मूल प्रकृति के संयोग से जीव पदार्थ जो पैदा होता है, उस के जीवांश अर्थात् चेतनांश की दृष्टि से यह तीन, ज्ञान, इच्छा, क्रिया, कहाते हैं, और जड़-उपाध्यंश की दृष्टि से ये ही, गुण, द्रव्य, और कर्म हो जाते हैं। वस्तुओं के 'गुणो' को हम 'जानते' हैं, वस्तु अर्थात् 'द्रव्य' की 'इच्छा करते' हैं, और उस के 'कर्म' को घटाने बढ़ाने आदि की 'क्रिया' करते हैं। गुण का ज्ञान, द्रव्य की इच्छा, और कर्म की क्रिया—इतना ही संसार का सर्वस्व है। इन्हीं के नियमन के लिये वेदादि की उपयोगिता है।

प्रत्येक वेद के चार भाग।

इन के ही अनुसार, प्रत्येक वेद के चार विभाग होते हैं; क्योंकि, यद्यपि ज्ञान-इच्छा-क्रिया की गिनती अलग कर लें, पर वे वस्तुतः अलग नहीं हो सकते। प्रत्येक मे अन्य सब सदा रहते हैं। ज्ञान मे इच्छा और क्रिया छिपी है। इच्छा मे ज्ञान और क्रिया छिपी है। क्रिया मे इच्छा और ज्ञान छिपा है। ज्ञाननिष्ठ ऋग्वेद मे भी ज्ञानांश 'संहिता' है, क्रियांश 'ब्राह्मण', इच्छांश 'उपनिषत्', और इन का समाहार 'उपवेद' अथवा 'तंत्र' है। ऐसा ही और सब वेदों मे भी है। ऐसे ही, ज्ञान-इच्छा-क्रिया से गुण-द्रव्य-कर्म भी अलग नहीं किये जा सकते।

शाखा

इस के ऊपर, हर एक वेद की दो दो शाखा हैं, एक कृष्ण और एक शुक्ल। इस का कारण यह है कि, दो पदार्थों के मिलने से संसार बना है, पुरुष और प्रकृति, आत्मा और अनात्मा, सत् और असत्, प्रकाश और तम, नेकी और बदी, दक्षिणमार्ग और वाममार्ग। यदि इन दो मे से किसी एक का भी सर्वथा लोप हो जाय, तो दूसरे का भी तत्काल सर्वथा विनाश हो जाय। क्रम से एक एक अंश का आधिक्य (और दूसरे की न्यूनता) दिखाने के लिये प्रत्येक वेद की दो दो शाखाएँ हैं।

अंगोपांग।

इस के बाद इन्हीं ज्ञान इच्छा और क्रिया के उलट पलट से छः अंग, कल्प, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, व्याकरण, शिक्षा, और छः उपांग, वेदान्त, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा बने हैं। उन के मिश्रण से बहुत से अवान्तर शास्त्र पैदा होते हैं। इस सब वेद और शास्त्र के समूह की समष्टि, संहिता अंश मे है।

वेदों का विषय।

(१) ऋग्वेद मे यह सब वर्णन किया है कि किस पदार्थ की किस से और कैसे उत्पत्ति और स्थिति और विनाश है, क्या उस का उचित देश और काल है, क्या उस की आवश्यकता है, कितने उस के विभाग हैं, इत्यादि।

(२) यजुर्वेद मे क्रिया का स्वरूप, क्रिया का और मोक्ष का संबंध, मोक्ष के प्रकार, यज्ञ, संस्कार, श्राद्ध, इत्यादि सब का आध्यात्मिक अर्थ कहा है। जीवन मात्र के सम्पूर्ण व्यवहार इस मे कहे हैं।

चार वर्ण, चार आश्रम, और चार पुरुषार्थ का संबंध, ज्ञान इच्छा क्रिया और समाहार से है। ब्रह्मचर्य आश्रम और ब्राह्मण वर्ण का संबन्ध ज्ञान से है, गृहस्थाश्रम और क्षत्रिय वर्ण का क्रिया से, वानप्रस्थ आश्रम और वैश्यवर्ण का इच्छा से, ("वशीकरोति इंद्रियाणि इति वैश्यः," यह व्युत्पत्ति प्रणववाद मे

कही है), और संन्यास और शूद्रवर्ण का संबंध समाहार से है। महाभारत मे, गृहस्थाश्रम और वैश्यवर्ण का सम्बन्ध विशेषतः इच्छा से, और वानप्रस्थ और क्षत्रिय का क्रिया से कहा है; स्थान और प्रसंग के भेद से, दृष्टि और कहने के प्रकार मे भेद होते रहते हैं; असल मे, सब का सम्बन्ध सब से है।

आप लोग आश्चर्य करेंगे कि शूद्र और संन्यास का साथ कैसा। एक सब से छोटा और नीचा गिना जाता वर्ण, दूसरा सब से ऊंचा समझा जाता आश्रम। इस को यों समझना चाहिये। नदी के किनारे यदि मनुष्य खड़ा हो तो जो छाया पड़ती है, उस मे उत्तमांग, सिर, सब से नीचे हो जाता है। शूद्र का अर्थ यही है कि जो सब की सेवा करे; ज्ञानवान् हो कर और बुद्धिपूर्वक, जैसे माता पिता अपने बच्चों की। यदि कोई निःस्वार्थ और आध्यात्मिक सेवा करता है तो वही सच्चा संन्यासी है, यदि स्वार्थ से, और शारीरिक, सेवा करता है, अज्ञानी, जैसे बच्चे अपने बूढ़ों की, तो मामूली शूद्र है।

'मैं' और 'यह' इन दोनो पदार्थों का ज्ञान, ब्राह्मण वर्ण और ब्रह्मचर्य आश्रम मे होना चाहिए।

'मै यह हूं,' 'जो मै हूँ वही यह है,' 'इस की रक्षा मुझी से हो सकती है'—यह क्रिया, क्षत्रियवर्ण और गृहस्थाश्रम की होनी चाहिये।

'यह नहीं है' 'एतत् न' 'केवल मै ही मै हूँ' 'यह संसार कुछ नहीं है', 'आत्मा ही आत्मा है'—यह इच्छा, एक अर्थ से धन-संचय करने की, और दूसरे अर्थ से संसार छोड़ कर पुण्य संचय करने की, यही वैश्यवर्ण और वानप्रस्थाश्रम का तत्त्व है।

'मै (केवल) यह (ही) नहीं हूँ,' किन्तु 'मै ही सब जगह हूँ,' और 'सब हूँ', 'यह और यह, ऐसी भेदबुद्धि और उपाधि झूठी है,' सब को सब की सेवा और सहायता करनी चाहिये, ऐसा ज्ञान और अमल, संन्यासी का, सच्चे सात्त्विक शूद्र का, है। देखिये, बड़े का क्या अर्थ है? केवल यही कि उस के भरोसे, उस की मिहनत से, उस की गोद मे, दूसरे खेलैं और सुख पावैं। और छोटे का भी अर्थ यही है कि दूसरे के सिर चैन करै। तो सच्चा शूद्र वही है जो सब की सेवा करै और उन से कुछ बदला न चाहै। जो बदला चाहै, या मजदूरी मांगै,

जो यह समझे कि 'मै' आत्मा सर्वव्यापी नहीं है, वह मामूली शूद्र है। पुराणो मे भी शूद्र शब्द की व्याख्या, विवेचन से, दो प्रकार की है। 'शुचा द्रवति', थोड़े से भी दुःख शोक आदि के कारण जो घबरा जाता है, वह तो बालबुद्धि नीची कोटि का शूद्र। 'परेषां शुचं द्रावयति', दूसरों के दुःख शोक को दूर करता है, वह उत्तम कोटि का शूद्र, प्रणववाद का संन्यासी-शूद्र। 'आशु द्रवति, वृद्धानां आज्ञया' बड़ों की आज्ञा से जल्दी जल्दी दौड़ कर काम करता है, जैसे बालक, यह भी अर्थ हो सकता है।

षोडश संस्कार और पंच महायज्ञ और अश्वमेध गोमेध इत्यादि का भी ऐसा ही रहस्य अर्थ, 'अहं, एतत्, न', इन्हीं शब्दों के उलट पलट से, इस ग्रन्थ मे कहा है।

(३) सामवेद मे इच्छा का वर्णन है।

पहिले कह आये हैं कि संसार मे दो ही पदार्थ देख पड़ते हैं; एक 'अहं' और एक 'अनहं'। इन का संबंध, इन के संयोग का कारण, यही 'शक्ति' स्वरूप तीसरा पदार्थ है। शक्ति का भी तात्त्विक स्वरूप इच्छा ही है। इच्छा के सिवाय और कोई प्रेरक, कारयिता, 'कारण', संसार मे नहीं है। आत्मा की दृष्टि से जो पदार्थ शक्ति है, जीव की दृष्टि से वही पदार्थ इच्छा है। जैसे आत्मा के तीन गुण, सत्, चित्, आनंद हैं, और मूल प्रकृति के तीन गुण, रजस्, सत्त्व, और तमस् हैं, वैसे ही शक्ति, माया, दैवी प्रकृति, के तीन गुण, सृष्टि, स्थिति, और संहार कहना चाहिये। देवता दृष्टि से यही तीन शक्तियाँ, लक्ष्मी, सरस्वती, और सती कहाती हैं। ज्ञानशक्ति, सरस्वती का साथ ब्रह्मा से, जो क्रिया के और उत्पत्ति के अधिष्ठाता हैं, इस हेतु से है, कि बिना ज्ञान के क्रिया नहीं हो सकती। तथा क्रियाशक्ति, लक्ष्मी का साथ ज्ञान के और स्थिति के अधिष्ठाता विष्णु से, इस हेतु से है कि बिना क्रिया के ज्ञान को सफलता नहीं हो सकती। शिव का साथ सती का है; दोनो इच्छारूप हैं; इस लिये उन का संबन्ध अर्धाङ्ग का है।

इन तीन शक्तियों मे से प्रत्येक के तीन विभाग कर दिये हैं, ज्ञान, इच्छा, और क्रिया के अनुसार। लक्ष्मी, क्रिया शक्ति, के तीन आकार, रमा, लक्ष्मी और शारदा। रमा मे ज्ञानांश का मेल है, लक्ष्मी, शुद्ध क्रिया रूप है, और

शारदा में क्रिया के साथ इच्छा मिली है। (प्रचलित संस्कृत साहित्य में तो शारदा और सरस्वती पर्याय हैं)।

इसी प्रकार से सरस्वती के तीन भेद, ऐंद्री, ब्राह्मी और सरस्वती।

तथा सती के तीन भेद, सती, गौरी और पार्वती। इन नवों के समाहार का नाम भैरवी।

यही दश महाविद्या, ज्ञान, इच्छा, क्रिया के भेद से होती हैं।

देवताओं के वाहन, हंस, गरुड़, और वृषभ, का भी अर्थ, देश, काल और गति है। ये ही तीन, देश, काल और गति, मकार के निषेध के तीन गुण समझने चाहियें। तीनों साक्षात् निषेधस्वरूप, शून्यरूप, हैं। देश भी पोल ही है। काल भी अभावरूप, असद्रूप, है। और गति, जो केवल देश और काल के मिलने से ही पैदा होती है, (अथवा, जिसी से देश और काल पैदा होते हैं, क्योंकि बिना गति के, बिना क्रिया के, बिना क्रम के, देश और काल का ज्ञान ही नहीं, यथा सुषुप्ति में) वह भी परम शून्यरूप है। क्रम, एक के बाद एक, इसी का नाम गति, क्रियामात्र, है। केवल क्रम पदार्थ में कौन सत्ता है? पर यद्यपि ये तीनों परम असत् स्वरूप हैं, तौ भी बिना इन के संसार असंभव है; इन्हीं में संसार है; इन्हीं के रूप का व्यक्ती-करण, या वि-करण, 'संसरण' हैं।

जो पुराणों में देवताओं के आभूषण और शस्त्र अस्त्र कहे हैं, उन का भी रहस्य अर्थ इसी प्रकार का है।

इन शक्तियों के अनन्त प्रकार का वर्णन सामवेद में किया है।

(४) तीनों वेदों के विषयों का समाहार; उन का परस्पर सम्वाद वा सामानाधिकरण्य; उन के योग के प्रकार; ज्ञान, इच्छा, क्रिया का, शरीर की नाड़ी, इडा, पिंगला, सुषुम्ना आदि से सम्बन्ध; और संसार के प्रबन्ध करने वाले अधिकारियों के कर्म, और उन के परस्पर सम्बन्ध, का वर्णन, अथर्व में है।

ब्राह्मण, उपनिषत्, उपवेद, और शुक्ल कृष्ण शाखा, के ग्रन्थों में भी, क्रमशः ब्रह्मा विष्णु शिवके अधीन अधिकारियों ने, अपने अपने विभाग का अधिक विवरण किया है। केवल एक दो उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं। यथा, क्रम से अहं

का, अर्थात् चेतना का, धीरे-धीरे सात तत्त्वों को, महत्, बुद्धि, आकाश, वायु, तेजस्, आपस् और पृथ्वी को, ओढ़ने, का, तथा इन के अणुओं और परमाणुओं की बनावट का, वृत्तांत कहा है। किस प्रकार से इन मे धीरे-धीरे चेतना का विकास होता है; किस प्रकार से जीव क्रमशः धातु, वृक्ष, पशु, 'चन्द्रात्म', 'सौरात्म', मनुष्य, देवता आदि योनियों मे वृद्धि पाता है; इस ब्रह्मांड मे, जिस के परमेश्वर महाविष्णु हैं, जिन का प्रत्यक्ष शरीर सूर्यबिंब है, कितनी पृथ्वियां अर्थात् ग्रह हैं, जिन पर जीव की वृद्धि होती है—यह सब बातें इन मे सविस्तर वर्णन की हैं।

हर जगह और हर बात मे, अ, उ, और म का सम्बन्ध और अनुकरण दिखाया है। यथा पृथ्वी तत्त्व मे तीन भेद हैं, ज्ञान-प्रधान परमाणु तो 'पृथ्वी' परमाणु है, क्रियाप्रधान का नाम 'मेदिनी', और इच्छाप्रधान का नाम 'मही' है। तथा जल के भेद मे ज्ञानप्रधान का नाम सलिल, इच्छाप्रधान का नाम अपस्, और क्रियाप्रधान का नाम तोयं है। एवम् अग्नि, तेजस्, वन्हि। एवं मारुत, पवन, वात। एवं आकाश, चिदाकाश, महाऽाकाश, इत्यादि।

इस ग्रन्थ मे, विशेष कर के अन्तःकरण की वृत्तियों मे त्रिकों को, अ उ म के अनुसार दिखाया है।

व्याख्यान के बहुत परिमित समय मे, केवल एक सूचीमात्र आप के सामने पढ़ जाता हूँ, अधिक कहने का अवसर नहीं है।

अंतःकरण में तीन प्रकार, मन, बुद्धि, अहंकार, (और उन का समाहार चित्त) हैं। ज्ञान मे, संकल्प, विकल्प, और अनुकल्प; इच्छा मे आशा, आकांक्षा, कामना; क्रिया मे, क्रिया, प्रतिक्रिया, अनुक्रिया; इत्यादि।

छः अंग और छः उपांग भी इसी प्रकार वर्णन किये हैं। आज काल इन मे जो परस्पर विरोध प्रचलित है, उस सब का इस ग्रन्थ मे परिहार देख पड़ता है, और यह स्पष्ट होता है कि ये सब शास्त्र सचमुच एक ही ज्ञानशरीर के अंग और उपांग अन्वर्थ हैं।

सब शास्त्रों मे तीन बातें प्रधान हैं। आत्मा, अनात्मा, और निषेध, अथवा ज्ञान, क्रिया, और इच्छा, के अनुसार।

नीति शास्त्र मे, धर्म, ज्ञान के स्थान मे है; अर्थ, क्रिया के; काम, इच्छा के; और मोक्ष उन का समाहार है।

न्याय मे, प्रमाण (अनात्मा), प्रमेय (आत्मा), और संशय (इच्छा) का समाहार प्रयोजन (मोक्ष) मे होता है। न्याय शास्त्र का दूसरा त्रिक, क्रिया, कारण, कर्त्ता है, जिस का भी समाहार 'प्रयोजन' ही है।

वैशेषिक के मुख्य त्रिक दो हैं, द्रव्य, गुण, कर्म, और सामान्य, विशेष, समवाय। सामान्य आत्मस्थानीय है; विशेष अनात्मा; समवाय, इच्छा अर्थात् सम्बन्ध। अभाव, समाहार है।

योग मे, चित्त, ज्ञानरूप आत्मस्थानीय; वृत्ति, क्रियारूप अनात्मस्थानीय; और निरोध, इच्छारूप सम्बन्धस्थानीय हैं। परमज्ञान, मोक्ष, कैवल्य, यही समाहार है।

सांख्य मे, प्रकृति, पुरुष, और उन का आकस्मिक सयोग; त्रिक है, (और असंख्येय संख्यातीत ब्रह्म, यह समाहार है)।

मीमांसा मे, स्वार्थ, परार्थ, और परमार्थ, इन तीन प्रकार के कर्मों का वर्णन है। एक, जो अपने हित के लिये किया जाय; एक, जो पराये भले के लिये किया जाय; एक, जो केवल उचित होने के ही कारण से, फलऽफल का विचार छोड़ कर, स्वार्थ और परार्थ के भावों को त्याग कर, किया जाय; (सब कर्मों का त्याग, यह समाहार है)।

वेदांत मे, जीव आत्मस्थानीय है, माया संसारस्थानीय, और ब्रह्म सम्बन्धस्थानीय है। इन सब का समाहार प्रणव स्वयम् है।

काव्य मे, रसों का त्रिक, शृंगार, रौद्र, और शांत है। यह त्रिक, आध्यात्मिक त्रिक, राग, द्वेष, और प्रशम, का अनुसारी है। इन के मिश्रण से, और मात्रा के घटाव बढ़ाव से, अन्य सब रस उत्पन्न होते हैं। साहित्य मे, अलंकारों का मुख्य त्रिक है, उपमानऽलंकार, उपमेयऽलंकार, अनन्वयऽलंकार। इन के समाहार को अतिशयोक्ति कह सकते हैं। संगीत मे, शब्द (ध्वनि, नाद), प्रतिशब्द (प्रतिध्वनि, प्रतिनाद), और अनुशब्द (अनुध्वनि, अनुनाद अनुवचन)। कर्मयोग की प्रवृत्ति, निवृत्ति, अनुवृत्ति; पुराणेतिहास की सृष्टि, लय, स्थिति; संसार के विकास, संकोच, स्थैर्य; क्रिया के, स्पंद, स्फुरण, स्फुलन, आदि।

इन्हीं शब्द, प्रतिशब्द, आदि की कमी बेशी और मिश्रण से सब राग-रागिणी उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार से, विविध शास्त्र और कला, गणित, चित्रण, आदि के विषयों से संबंध रखने वाले, कोई तीन सौ त्रिक इस ग्रंथ मे कहे हैं।

व्याकरण मे त्रिवर्ग बहुत देख पड़ता है। स्वर, व्यंजन, और विसर्ग—अनुनासिक; उदात्त, अनुदात्त, और स्वरित; प्रातिपदिक वा संज्ञा, धातु, कारक, समास (समाहार); कर्त्ता, कर्म, करण, इत्यादि। इन मे संज्ञा-पद आत्म-स्थानीय है; (धातु, क्रिया-स्थानीय; विभक्ति या कारक, क्रिया-स्थानीय)।

नागरी प्रचारिणी सभा का, भाषा से अधिक सम्बन्ध है, इस कारण व्याकरण ही के विषय मे कुछ विशेष कह कर यह कहानी समाप्त करता हूँ।

भाषा का प्रयोजन यही है कि अपना अर्थ दूसरों को जना दे। तो क्या यह केवल श्रव्य शब्द द्वारा ही हो सकता है? दृश्य इंगित और चेष्टा से, इशारों से अंगुली, हाथ, सिर आदि के संकेतों से, भी तो होता हैं। गूंगे बहिरे लोग ऐसे इंगितों से ही अधिकतर समझते समझाते हैं। फिर अधिकतर शब्द, अर्थात् श्रव्य भाषा, का प्रयोग क्यों है? इस का उत्तर यही है कि संसार की वर्त्तमान अवस्था मे, श्रोत्रेन्द्रिय की अधिक प्रबलता और विकास है। तत्त्वों से ही सब वस्तुएँ बनी हैं। उन सब मे आकाश है, जिस का गुण शब्द है। इस कारण प्रत्येक वस्तु से शब्द निकल रहा है, भिन्न भिन्न कानो मे पड़ कर उस शब्द के रूप का परिवर्तन हो जाता है। उसी परिवर्तितरूप का, मनुष्य, फिर अनुकरण कर के, उस वस्तु का स्मरण जो दूसरे को कराते हैं, वही उस का नाम हो जाता है। श्रोत्रेन्द्रिय और वागिंद्रिय की बनावट के भेद से भाषा-भेद होता है। यही कारण है कि इतने भेद भाषाओं के हैं। बल्कि यहाँ तक कहा है कि प्रति गव्यूति भाषा बदल जाती है। सच तो यों है कि प्रति व्यक्ति भेद है। साथ ही इस के, मनुष्य मात्र मे यदि एक अंश भेद और विशेष का है, तो एक अंश सामान्य का भी है। इसी कारण से यह भी कहा है कि ऐसी भी भाषा है जिस को, यदि उस का जानने वाला और कहने वाला मिले, तो भिन्न-भिन्न देशों और बोलियों के लोग भी उस को एक साथ समझ सकते हैं।

इस ब्रह्मांड मे सप्त लोक हैं। प्रति लोक मे एक प्रधान भाषा है। 'परा, पश्यंती, मध्यमा, वैखरी' तो प्रसिद्ध ही हैं। इन के सिवा तीन और हैं, सांप्रतिका, चाक्षिकी, और सांवर्त्तिका। वैखरी, जो इस भूलोक और जाग्रदवस्था की भाषा है, उस के अनन्त भेद, देश और काल के अनुसार, हुए हैं, हो रहे हैं, और होंगे। आकाश और श्रोत्रेंद्रिय और वागिंद्रिय प्रबल होने से श्रव्य भाषा प्रचलित है। यदि कोई अन्य तत्व, और उस के सम्बन्धी ज्ञान और कर्म के इन्द्रिय, प्रबल होते, तो उन्हीं के गुण की भाषा होती, यथा दृश्यभाषा, स्पृश्यभाषा, घ्रेयभाषा, स्वाद्यभाषा इत्यादि। पर सब भाषाओं की बनावट मे संज्ञापद, क्रियापद, और कारक, (जिस को 'हुरूफ़ि राबित' फारसी मे, और 'प्रीपोज़िशन' अंग्रेजी मे, कहते हैं), किसी न किसी रूप मे आवश्यक हैं। और इस के बाद अनन्त फैलाव है। प्रथम, मध्यम, उत्तम पुरुष; भूत, भविष्यत्, वर्तमान; एकवचन, द्विवचन, बहुवचन। पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग, नपुन्सकलिङ्ग; इत्यादि। जैसे-जैसे जिस जाति के स्वभाव, आवश्यकताएँ, और व्यवहार होते हैं, वैसी-वैसी उस की भाषा और वाक्य-भंगियाँ, मुहावरे, होते हैं; और ज्यों-ज्यों मनुष्य मात्र का परस्पर व्यापार-व्यवहार मेल-जोल बढ़ता जायगा, त्यों-त्यों भाषा की एकता होती जायगी। 'इंगित-भाषा', अब भी समस्त संसार की, एक है ही; भूखा आदमी अपने मुह मे अँगुली, और पेट पर हाथ रख कर, अपनी इच्छा किसी दूसरे को बतला देता है।

यह सब अनन्त विस्तार और अनन्त एकता, प्रणव मे अन्तर्गत है, और उस से सिद्ध होती है। किन्तु वह परमात्मा ब्रह्म इन सब विशेषों के विस्तारों से परे है, उन का निषेधरूप है।

न भाषापरं, नैव वा शब्दसिद्धं,
न वाणीपरं, ज्ञानगोऽतीतगम्यम्।
समाहारसंसारसारप्रसारम्
अकारं उकारं मकारं मकारम्।
अकारं उकारं मकारं प्रमेयं
सदोंकारमोंकारमोंकाररूपं।

महातत्त्वमेकं, परातत्त्वमेकं,
त्वतोऽहं त्वतोऽहं त्वतोऽहं त्वतोऽहं ।
न सत्यं, न चासत्यं, अद्वैतरूपं,
न नित्यं, न चानित्यं, एकं स्वरूपं ।
न चाद्वैतसिद्धं, न द्वित्वप्रसिद्धं
समोऽहं समोऽहं समानान्तरोऽहं ।
परोऽहं परोऽहं परेवान्तरोऽहं,
समोऽहं समोऽहं समानंदरूपं ।
प्रसिद्धं विशुद्धं स्वबोधस्वरूपं
नमोऽहं नमोऽहं नमोऽहं नमोऽहं ।
क्वचिन्मोक्षसिद्धः, क्वचित्तापसिद्धः
क्वचित्पूण्यसिद्धः समन्तः समेतः ।
अनेकस्तदेको, विवेकस्तदेको,
विरोधस्त्वनेकोऽहमेकोऽहमात्मा ।
सत्यः सिद्धः सर्वगः सर्वलिंगो,
मुक्तो नाहं बद्धसिद्धोऽहमात्मा ।
साक्षी कर्ता सात्त्विकः सर्वगोऽहं,
भोग्यो भोक्ता भावनीयोऽहमात्मा ।
अंतःसिद्धं सद् बहिःसिद्धरूप,
सर्वसिद्धं सर्वमोंकारगीतं ।
सत्यं सत्यं सत्यसंभावनीयं
सर्वं सर्वं सर्वमोंकारगीतम् ।

॥ ॐ ॥

६. प्रणव की कहानी का परिशिष्ट।

(इस का पहिला रूप, रामनवमी, संवत् १९८४ विक्रम, २९ मार्च, सन् १९२८, ईसवी, को लिखा गया)

सितम्बर सन् १९०० से जनवरी सन् १९०१ ईसवी तक, पाँच महीने मे, काशी मे, जैसा पहिले कहा, प्रणववाद को पं० धनराज के कण्ठोच्चार से श्री गंगानाथ जी की (जो पीछे 'महामहोपाध्याय', 'डाक्टर आफ़ लिटरेचर', और इलाहाबाद युनिवर्सिटी के वाइस् चान्सेलर हुए और १९४२ ई० मे शांत हो गये) और श्री अंबादास शास्त्री की (जो पीछे काशी विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग मे न्याय वेदान्त के मुख्याध्यापक थे, 'महामहोपाध्याय' हुए, और १९२७ ई० मे शांत हो गये) सहायता से मै ने लिखा। उस मूल लिपि से एक प्रति और, श्री अंबादास जी ने लिखी। इस दूसरी प्रति पर मै ने, यथाऽवकाश, जैसा कुछ मेरी समझ में आ सका, ग्रन्थ का अंग्रेज़ी अनुवाद लिखा। यह प्रति, मूल संस्कृत और अंग्रेज़ी अनुवाद, की, अब, मद्रास नगर के आद्यार स्थान में, थियोसाफ़िकल सोसाइटी ('ब्रह्म-विद्या सभा') के पुस्तकागार में रख दी गई है। पुनरुक्ति और संदिग्धांश आदि छोड़ कर, बोध के सौकर्य के लिये, अध्यायों का संनिवेश, परिमाण, क्रम आदि, कुछ बदल कर, इस अनुवाद को, टिप्पणियों के साथ, तीन जिल्दों मे, सन् १९१०, १९११, १९१३, मे, क्रमशः, थियोसाफ़िकल् पब्लिशिङ्ग हौस, आद्यार, मद्रास, के द्वारा छपवाया।

इस के आरंभ में प्रायः सौ पृष्ठ की भूमिका, अंग्रेज़ी ही भाषा मे दी है। प्रणववाद की प्राप्ति मुझ को कैसे हुई, उस के विषय मे क्या शंका उठती है, क्या समाधान हो सकता है या नहीं, तथा ग्रंथ के गुण दोष क्या हैं, इस सब का वर्णन, इस भूमिका मे, विस्तार से किया है। मेरी मूल प्रति से लिखवा कर, एक प्रतिलिपि श्री शिवप्रसाद गुप्त (काशीवासी, 'काशी विद्यापीठ' के स्थापक) ने, तथा एक,

दाक्षिणात्य देश सांगली के राजा ने, अपने अपने पुस्तकागार में रख ली है। तथा, मद्रास 'हाइ कोर्ट' के भूत-पूर्व प्रधान न्यायाधीश (चीफ़ जस्टिस) श्री सुब्रह्मण्य ऐयर ने, पं० श्रीनिवासाचार्य से आधुनिक संस्कृत में इस ग्रन्थ का अनुवाद करा के, मद्रास में छपवाया है। पर, यह अनुवाद, श्री सुब्रह्मण्य ऐयर महाशय के रुग्ण, और तत्पश्चात् शांत, हो जाने के कारण, संपूर्ण न हो सका। प्रायः तीन चौथाई ग्रंथ छपा, एक चौथाई रह गया। दो जिल्दें छपी हैं, पहिली १९१५ ई० में, दूसरी १९१९ में।

मुझे इस बात का बहुत खेद है कि अब तक न तो कोई पुरानी प्रामाणिक लिखी हुई प्रति इस अद्भुत ग्रंथ की मिली, जिस की शैली, भाषा, विचार, उपलब्ध ग्रंथों से बहुत भिन्न हैं। न पं० धनराज ने इस का पर्याप्त प्रमाण दिया कि ग्रंथ उन को सचमुच कंठस्थ है। एक बेर उन्हों ने जो लिखवा दिया, उस को फिर कभी नहीं दुहराया, कितना भी उन से कहा गया कि, बिना ऐसी परीक्षा दिये, लोक को विश्वास नहीं होगा कि यह ग्रंथ सचमुच आप के स्मृतिस्थ कंठस्थ है। कोई संस्कृतज्ञ विद्वान्, उस के असाधारण विषय, उन्माद-गान के ऐसे पद्य, अपाणिनीय शब्दों के प्रयोग, उलझी वाक्य रचना, पहेलियों की सी शैली आदि को, थोड़ा सा देख सुन कर, तत्काल ग्रंथ को उन्मत्तप्रलाप कह देते हैं, कोई 'कर्णपिशाच' की करतूत बताते हैं, कोई स्वयं पं० धनराज की कपोल-कल्पना कहते हैं; इत्यादि। इन सब तर्कों का क्षुण्ण-क्षोद, मैं ने उक्त अंग्रेज़ी भूमिका में यथाशक्ति करने का यत्न किया है, और सब पूर्वपक्ष-उत्तरपक्षों का विचार कर के यह निष्कर्ष निकाला है, कि (निश्चित नहीं, किन्तु) सम्भाव्यतम विकल्प यही है कि सचमुच ऐसा ग्रंथ प्राचीन कोई है, और पं० धनराज ने उस को कंठस्थ कर लिया है।

पं० धनराज मुझ से काशी में, दिसंबर सन् १९२६ में, बहुत वर्षों बाद, पुनः मिले। और उन से फिर भी इस की चर्चा हुई, पर उन्हों ने अपनी स्मृति शक्ति की उक्त सीधी सादी अत्यन्त सहज परीक्षा देने से स्पष्ट इनकार कर दिया, और यह भी कहा कि इस प्रत्याख्यान का कारण भी नहीं बता सकता। परन्तु, एक दो स्तोत्र के अष्टक, जिन को उन्हों ने अपने रचे कहा, यथा एक, जिस की

टेक थी "नमामि शारदां", उन को, जब-जब उन से कहा गया तब-तब, फिर-फिर से सुना दिया। सन् १६२७ मे, प्रयाग (इलाहाबाद) के (अंग्रेज़ी) 'लीडर' नामक दैनिक पत्र मे, और संयुक्त प्रांतीय व्यवस्थापक सभा (लेजिस्लेटिव कौंसिल) मे भी, इस विषय पर प्रश्नोत्तर और वाद-विवाद हुए; पर कुछ फल नही निकला; 'प्रणववाद' की मूलोत्पत्ति नीहाराच्छन्न ही रही। "परोक्षप्रियाः इव हि देवाः, प्रत्यक्षद्विषः"।

एक दृष्टि से ऐसी शंका का पड़ा रहना अच्छा भी है। पुस्तक प्राचीन है कि नवीन; (बृहदारण्यक उपनिषत् के वंशाध्याय मे परिगणित अथवा किसी अन्य) गार्ग्यायण नामक ऋषि की कृति है अथवा धनराज जी की स्वयं नवकल्पित है; अधम कर्णपिशाच अथवा उत्तम कोटि के देव या सिद्धपुरुष की उपजत है और धनराज उस के करण मात्र हैं, अथवा उन्हो ने सचमुच उसे किसी प्राचीन लिपि से सुन कर कंठ किया है; (अमेरिका मे, १९वीं शती ई० के उत्तरार्ध मे, बहुत से ग्रन्थ, लोगों ने, विविध प्रकार के 'आवेश' की अवस्था मे लिखे और छपवाये हैं, जिन मे अधिकांश अर्थशून्य अथवा दुष्टार्थक हैं)—ऐसी शंकाओं का सर्वथा निरास न हो सकना भी गुणकारी है। इस से ग्रन्थ की 'आप्त'-वाक्यता पर ध्यान कम जायगा, उस के विषय की युक्तिमत्ता पर अधिक। पर-प्रज्ञता और अन्ध-श्रद्धा का (इस देश मे "वेदवादरताः", वेद, वेद, वेद, पुकारने वाले, बहुत हैं ही) प्रोत्साहन न होगा। परीक्षा-बुद्धि और स्वयं-प्रज्ञता का ही उत्तेजन होगा। मृदु जिज्ञासा वाले, अथवा केवल कुतूहली, हट भी जायँगे। इस गुण के साथ एक दोष भी हो सकता है कि, स्यात् कुछ लोग, श्रद्धा-जड, चमत्कार-खोजी, केवल 'अद्भुत स्मृति' की अप्रमाणित, अगाधित, भी प्रतिज्ञा पर मुग्ध हो कर, बिना परीक्षा के, थोड़े से रत्न के साथ, अथवा बिना रत्न के भी, बहुत सी धूलि और कूड़े का भी ग्रहण कर लें। पं० धनराज ने संयुक्त प्रांत के नगरों मे कई सज्जनों को छोटे बड़े गद्य पद्य के कई ग्रन्थ लिखवाये हैं, जैसे मुझ को प्रणववाद; और यह कहना कठिन है कि उन मे से कितने अच्छे हैं, कितने बुरे, कितने अर्थ-शून्य। समय-समय पर उन मे से दो चार के थोड़े थोड़े अंश, जो मुझ को लोगों ने दिखाये, उन मे

से किसी में ऐसी विशेष अप्रसिद्ध अपूर्व बात मुझे नहीं देख पड़ी जैसी प्रणववाद मे। और कई तो केवल प्रलाप ही से जान पड़े, जैसे कोई नशे की हालत मे बेजोड़ शब्द मुह से निकालता रहे। स्वयं धनराज जी ने, एक अवसर पर, मेरे पूछने पर, कहा कि, जितने ग्रन्थ उन्हों ने कंठस्थ किये, उन मे सब से अच्छा, सर्व-संग्राहक, सर्वांगीण, ग्रन्थ, प्रणववाद ही है। संसार मे सिद्धई जगाने वाले, धोखा देने वाले, 'सिद्ध और सिद्ध-साधक' भी बहुत देख पड़ते हैं। बिना पूँजी के रोज़गार फैलाने वाले भी हैं। पर प्रायः "नऽमूला च जनश्रुतिः", बिना राई के पहाड़ नहीं बनता, थोड़ी पूँजी के बल पर बहुत लेन देन फैलाया जाता है; आवेश-शील मनुष्य बहुधा व्यर्थ, तो कभी सऽर्थ भी, बात कहता है। पं० धनराज का वृत्तांत और उन के 'कंठस्थ' ग्रन्थों का तत्त्व मुझे कुछ ऐसा ही सत् और असत् का समुच्चय जान पड़ता है। सारे संसार की ही यही कथा है।

इस लिये, यह सब शंका होते हुए भी, प्रणववाद ग्रन्थ बहुमूल्य है, उपयोगी है, उस की बहुतेरी सिद्धान्त-विषयक, प्रकृति के सामान्य नियमों की, बातों से बुद्धि का प्रसार होता है—यह मेरा विश्वास है। विशेष-विशेष बातों पर, यथा यह वेद इस देवता की कृति है, प्रत्येक वेद मे दो शाखाएँ हैं, इस वेद का यह-यह विषय है, इत्यादि पर विश्वास, बिना अन्य परिपोषक प्रमाणों के जल्दी नहीं हो सकता। पर इन मे कोई बात ऐसी भी प्रायः नहीं है जो युक्ति के सर्वथा विरुद्ध, या वस्तुस्थिति के स्पष्ट विपरीत, या स्वता-व्याहत हो। संस्कृत शास्त्रों की प्रथा ही है कि अब जो कुछ आर्ष ग्रन्थ, इतिहास, पुराण, वैद्यक, ज्योतिष आदि वेदांगों के तथा अन्य शास्त्रों के मिलते हैं, वे अति संक्षिप्त हैं, और उन का मूल आदिम रूप बहुत विस्तृत शतसहस्राद्यध्यायऽात्मक था, और ब्रह्मा, सरस्वती, इन्द्र, गणेश, शिव आदि का रचा हुआ था। वेद के विषय मे भी स्वयं तैत्तिरीय आरण्यक मे कहा है, "अनन्ताः वै वेदाः", और अब बहुतेरी शाखा लुप्त हो गई हैं। इत्यादि। प्रत्यक्ष ही किसी भी सभ्य शिष्ट जाति के सारस्वत भांडार मे, प्रत्येक समाजो-पयोगी विषय पर, लघु, मध्यम, बृहत् परिमाण के ग्रंथ मिलते हैं। तथा जो कुछ मनुष्य जानते और लिखते हैं, वह सब 'ब्रह्मा' मे, सर्वज्ञ व्यास 'महत्-तत्त्व'

मे, बुद्धितत्त्व मे, "अणोरणीयान् , महतो महीयान्", अनन्त विस्तार से भी और सङ्क्षेप से भी, व्यक्ताऽव्यक्त रूप से, सदा वर्त्तमान ही है ।

अस्तु; 'अहं-एतत्-न' से, वेद-वेदांग-वेदोपांग-उपवेद आदि के, विविध शास्त्रों और दर्शनो के, जो विषय देख पड़ते हैं, उन की संगति, उन का समन्वय, कैसे हो सकता है, और संसार का स्वरूप क्या है, संसार की गति के मुख्य नियम क्या हैं, इस के समझने मे प्रणव-वाद से बहुत सूचना सहायता मिलती है । मुझे तो बड़े सन्तोष का हेतु, और ग्रंथ की प्रामाणिकता का प्रमाण, यह हुआ कि जो मूल विचार, 'अह-एतत्-न' के रूप मे, मेरे हृदय मे स्वतन्त्र रीति से स्वयं उदय हुआ था, वह, बहुत वर्षों पीछे, इस ग्रंथ मे मिला, और उस का प्रयोग वैदिक शास्त्रों के सांकेतिक विषयों के सुलझाने मे किया हुआ मिला, जिस का मुझे कुछ ध्यान ज्ञान न था । देवी भागवत मे श्लोक है ।

इत्येवं चिन्त्यमानाय मुकुन्दाय महात्मने,
श्लोकऽर्धेन तया प्रोक्तं भगवत्याऽखिलार्थदं ।

'अहं एतत्-न' ऐसे अर्थ से गर्भित प्रणव कैसे अखिलऽर्थद, सब अर्थों का देने वाला, सब ज्ञानो का भांडार, हो सकता है, इस का भारी सूचन, दिग्दर्शन, नमूना, इस ग्रंथ मे मिलता है ।

कभी तो खेद होता है कि सूचन और प्रलोभन ही अधिक होता है, तृप्ति नहीं की जाती । पर एक ग्रंथ मे क्या-क्या किया जाय ? और पढ़ने वाले को स्वतंत्र विचार का, अपने पैरों पर खड़े होने का, स्वयं आगे खोज करने और बढ़ने का, अभ्यास भी तो होना चाहिये । आखिर, पश्चिम के धीर वीर ज्ञानी साहसी तपस्वी आचार्य, नई-नई खोज, नई-नई उपज (उपज्ञ), नई-नई कला, नये-नये यंत्र, तंत्र, शास्त्र, अपने बाहुबल, हृदयबल, और बुद्धिबल से निकाल और फैला रहे हैं; केवल पुरानी पोथियों के नाम के जप से ही संतुष्ट नहीं होते । तो भी, जैसा आध्यात्मिक अर्थ बताने का यत्न इस ग्रंथ में किया है, वैसा, या उस से कम भी, श्रम, पाश्चात्य वा पौरस्त्य पंडितों ने, आधिदैविक अर्थों के आविष्कार का किया होता, तो वेद के कर्मकांड के समझने मे बहुत सहायता मिलती ।

वर्त्तमान काल मे, अथवा यदि यह कहूँ तो स्यात् अनुचित न होगा कि

कई सहस्र वर्षों से, वेद के कर्मकांड का ठीक-ठीक अर्थ समझ नहीं पड़ता है, लुप्त हो गया है। जैसे, अश्वमेध आदि की विधि, अक्षरार्थ, देखने से, अत्यन्त बीभत्स, क्रूर, अश्लील, घृणा-कारक, व्यर्थ, जान पड़ती है; अक्षरार्थ के सिवा कोई दूसरा अर्थ है, जो वैदिक लोक भूल गये हैं, या नहीं; अक्षरार्थ केवल उत्प्रेक्षा, या रूपक, या अर्थवाद मात्र है; इस का कुछ पता नहीं चलता। इधर, सैकड़ों, अथवा हज़ारों, वर्ष से, घोर तपस्या के और तज्जनित दिव्य शक्ति और इंद्रियों के द्वारा आधिदैविक, योगज, दिव्य ज्ञान के, लुप्त हो जाने से, लकीर के फ़क़ीर बन कर, मीमांसकों ने यही निश्चय कर लिया है कि दूसरा गूढ़ अर्थ तो कोई समझ मे आता नहीं, केवल अक्षरार्थ के अनुसार ही कर्म करना चाहिये, फल उस का, अदृष्ट संस्कार के द्वारा, स्वर्गादिक, आमुष्मिक, कुछ होगा। (पर, वेदो मे कितने ही रूपक ऐसे हैं, जिन के केवल अक्षरऽर्थ पर स्वयं मीमांसक-धुरधरों को, यथा तन्त्रवार्त्तिककार कुमारिल-भट्ट को, सन्तोष नहीं हुआ, और उन्हों ने, उन का आधिदैविक वा आध्यात्मिक अर्थ बतलाया है; यथा इन्द्र-वृत्र संग्राम का, इन्द्र की सहस्राक्षता का, ब्रह्मा के पांचवे सिर का रुद्र द्वारा काटे जाने का, इत्यादि)। किन्तु इस चाल का विचार, युक्तिशील, हेतु-अन्वेषी, मनुष्य के हृदय को संतोष नहीं देता। यहाँ तक कि गीता में भी "भोगैश्वर्य-गतिं प्रति क्रिया-विशेष बहुला पुष्पिता वाक्" की निंदा ही की है। इस प्रकार के अदृष्ट फल देने वाले वैदिक कर्मकांड पर अंध-विश्वास से तो, दृष्ट फल देने वाले, सुनी हुई 'श्रुति' को प्रत्यक्ष कर दिखाने वाले, "श्रुति-प्रत्यक्ष हेतवः," कहे को कर देने वाले, पश्चिम के वैज्ञानिक कर्मकांडियों पर उत्फुल्ल-नेत्र विश्वास करना बहुत अच्छा।

प्रणववाद मे, यज्ञो का और संस्कारों का अर्थ, 'अहम्-एतत्-न' के शब्दों म, ज्ञान, इच्छा, क्रिया के अभिप्राय से, आध्यात्मिक ही अधिकतर कर दिया है। अन्य ग्रंथों से जो ऐसी सूचना मिलती है, कि अजमेध, अश्वमेध, गोमेध, नरमेध का आध्यात्मिक अर्थ, क्रमशः काम का हनन, क्रोध का हनन, अहंकार (अस्मिता) का हनन, करुणात्मक मोह (अभिनिवेश) का हनन, और क्षीन-भेदबुद्धि अविद्या) का हनन है, इस की भी चर्चा इस मे नहीं है। इन 'मेधों' का

अर्थ, 'मेधा', बुद्धि, के सम्बन्ध से, दूसरी रीति से कर दिया है; ऐसी ऐसी बुद्धि का उदय होना, यह यह 'मेध' है; यह अर्थ भी आध्यात्मिक है ही। संस्कारों का विषय वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के बहुत उपयोगी है। इस के संबंध में आधिदैविक ज्ञान के प्रचार की बहुत आवश्यकता है। सो इस अंश से पूरी नहीं होती। आधिदैविक का अर्थ, देव-संबंधी और सूक्ष्मलोक-सम्बन्धी। देव का अर्थ परमात्मा की प्रकृति की अनंत सूक्ष्म शक्तियाँ भी, और तत्तच्छक्त्यभिमानी अनंत देव उपदेव आदि नामक जीव-विशेष भी। इन के विशेष व्यापारक्षेत्र, सूक्ष्मलोक। है तो सब का संबंध सब से। स्थूल सूक्ष्म कारण, भूः भुवः स्वः, अधिभूत अधिदेव अध्यात्म, सब परस्पर संबद्ध हैं। तौ भी, "वैशेष्यात् तु तद्वादः तद्वादः"। इहलोक की अपेक्षा से परलोक, सूक्ष्मलोक, भुवःलोक, स्वर्लोक आदि को, पितृलोक देवलोक आदि कहते हैं। गर्भाधान से अंत्येष्टि और श्राद्ध तक संस्कारों का मुख्य उद्देश्य यह है कि उत्तम जीव परलोक से इस लोक में, मानवकुलों में, आवें; यहाँ उन के स्थूल सूक्ष्म शरीरों का यथासंभव अच्छे से अच्छा संस्कार परिष्कार हो; उन की उत्तम शक्तियों का उपोद्बलन और विकास हो; यथाशक्ति चतुर्विध पुरुषार्थ का, उत्तम स्वार्थ और उत्तम परार्थ का, धर्म अर्थ काम मोक्ष द्वारा साधन करने का यत्न करें; और (मोक्ष और आवागमन से छुटकारा न सिद्ध होने की अवस्था में) इस लोक से परलोक को जब वापस जायँ, तो सुखतम मार्ग से जायँ और वहाँ भी सुख पावें। विविध प्रकार के यज्ञ भी इसी उद्देश्य की सिद्धि में संस्कारों की सहायता करने वाले हैं। जैसा मनु ने कहा है,

गार्भैः होमैः जातकर्म-चौड-मौञ्जीनिबन्धनैः,
बैजिकं गार्भिकं च एनः, द्विजानां अपमृज्यते।
स्वाध्यायेन व्रतैः होमैः त्रैविद्येन इज्यया सुतैः,
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च, ब्राह्मी इयं क्रियते तनुः।
मातुरग्रे ऽधिजननं, द्वितीयं मौञ्जिबंधने,
तृतीयं यज्ञदीक्षायां, द्विजस्य, श्रुतिचोदनात्। (मनु०)

विविध प्रकार के संस्कारों से, स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर के, बहिष्करण और अन्तःकरण के, सम्यक् करण, संस्करण, परिष्करण, शोधन, मार्जन, शिक्षण,

से; तथा विविध प्रकार के यज्ञो से, यजन से, परोपकारार्थ, समाजसेवार्थ, परिश्रम और त्याग करने से; व्यक्तियों की संस्कृति, शिष्टता, सभ्यता, सभा-योग्यता सिद्ध होती है, संपन्न निष्पन्न होती है। व्यक्तियों की संस्कृति से कुलों कुटुम्बों की और समाज की संस्कृति, उन्नति, समृद्धि, सिद्ध होती है। इस स्थान पर यह याद रखना चाहिये कि सब देशों और कालों मे, सब सभ्य समाजों मे, संस्कार और यज्ञ अर्थात् संस्करण और यजन होते रहे हैं। केवल 'वेद'-नामक ग्रन्थों के अक्षरों से ही, संस्कृत भाषा के शब्दों और श्लोकों से ही, स्रुक् आदि पात्रों से ही, अग्नि मे घी डालने से ही, बहुल क्रियाविशेषों से ही, छोटी छोटी रीति रस्मो से ही, संस्कार नहीं होते। चित्त का और शरीर का सम्यक् करण, संस्करण, परिकर्म, परिष्करण, उत्तम बनाना—यह मुख्य उद्देश्य है; जिस प्रकार से हो वही संस्कार, वही यज्ञ। जैसे एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने के लिये बीसियों प्रकार के वाहन हैं, कोई शीघ्र, कोई मंद, कोई अल्पऽायास, कोई बह्वायास—मुख्य उद्देश्य गमन; जैसे सैकड़ों प्रकार के अन्न हैं, कोई अधिक स्वादु कोई कम, कोई अधिक पथ्य और हित कोई कम, कोई सुलभ कोई दुर्लभ—उद्देश्य सब का शरीर-तर्पण, प्राण-पोषण; जैसे सैकड़ों भाषा हैं—उद्देश्य सब का, अभिप्राय का प्रकाशन; वैसी ही कथा संस्कारों और यज्ञों की है।

जब संस्कारों पर, यज्ञो पर, अध्यापन, शिक्षण पर, धर्मऽाम्नान पर, व्यक्ति का और समाज का सब ऐहिक और आमुष्मिक सुख इस प्रकार से सर्वथा आश्रित अधीन है, तो संस्कारकर्त्ता, अध्यापक, याजक, ऋत्विक्, धर्माऽाम्नाता, धर्मनिर्णेता, धर्मव्यवस्थापक; इष्ट और आपूर्त्त का, अर्थात् वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के सुखसाधक, ज्ञानवर्धक, उपयोगी कृत्यों का, वृक्षारोपण वापी कूप तटाक पाठशाला चिकित्सालय राजपथ देवमंदिर आदि के निर्माण का, बताने वाला; जीवन के दुर्गम स्थलों मे उचित मार्ग दिखाने वाला; सदुपदेश देने वाला; कैसी उच्चकोटि का, ब्रह्ममय, ज्ञानमय, इहलोक परलोक दोनो की व्यवस्था जानने वाला तपःशीलसम्पन्न, त्यागी जीव होना चाहिये, जिस के लिये 'ब्राह्मण' नाम अन्वर्थ हो, यह प्रत्यक्ष स्पष्ट है।

विरुद्ध इस के, किस प्रकार के मनुष्य, आज काल, इस अभागे देश मे,

पुरोहित, पुजारी, शिक्षक हो रहे हैं, यह कई बेर कहा जा चुका है। 'मील' (आध-कोस) के चिन्ह के वास्ते जो पत्थर गाड़े हुए हैं, उन को महादेव की प्रतिमा बता कर, उन की भी पूजा, माला फूल रोली और पैसे से, सीधे सादे भोले गाँव वालों से, ये पुजारी लोग कराते हैं, पैसे स्वयं लेने के वास्ते। जिस देश के याजक यजमान के बुद्धिभ्रंश की यह दशा हो, वह क्यों न दिन दिन अधिकाधिक अधोगति पावै, और पराधीनता के दुख सहे ! इन सब के उद्धार का मूलोपाय, मुख्योपाय, एकमात्रोपाय, आत्मज्ञान आत्मश्रद्धा का प्रचार है।

सर्वं परवशं दुःखं, सर्वम् आत्मवशं सुखं ;
एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ।
उद्धरेत् आत्मनाऽऽत्मानं, नऽात्मानम् अवसादयेत ;
आत्मा एव देवताः सर्वाः, सर्वम् आत्मनि अवस्थितं ।

॥ ॐ ॥

७. महा समन्वय ।

सर्वं सर्वत्र सर्वदा ।

(अक्षय-तृतीया, संवत् १६८५ विक्रमीय, अर्थात् २१ अप्रैल, सन् १६२८ ईसवी, को लिखा गया)

अपना (= "आपणो" = आत्मनः) अनुभव ।

जन्मस्थान काशी मे क्वीन्स् कालेजियेट् स्कूल के एंट्रेंस क्लास मे, एक बालक पढ़ता था। वि० संवत् १९३७ (ई० सन् १८८०), और लड़के की आयु का बारहवाँ वर्ष, था। 'थियासोफिस्ट' नामक मासिक पत्र का पहिला अंक उस के हाथ पड़ा। १ अक्तूबर सन् १८७९ ई० को निकला था। नाम का अर्थ है 'ब्रह्मविद्याऽभ्यासी'। पत्र मे वेदांत की, योगसिद्धियों की, ऋषियों मुनियों सिद्धों की, संसार की विविध गति की, आध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिक रहस्यों की, मानवमात्र मे परस्पर स्नेह प्रीति भ्रातृभाव सहायता की आवश्यकता की, विविध धर्मों और दर्शनो के समान तत्वों और सिद्धान्तों के अन्वेषण की उपयोगिता की, मनुष्य मे गुप्त अनुद्बुद्ध सूक्ष्म शक्तियों को योगमार्गों से उद्बुद्ध सिद्ध करने और सूक्ष्म रहस्यों के ज्ञान को प्राप्त करने की उचितता की, चर्चा थी। बारह वर्ष के बालक को बातें बहुत कम समझ पड़ीं। पर पूर्व संस्कार उदित हुए, परम पदार्थ के दर्शन की वासना जागी, जिज्ञासा के अंकुर निकले। संसार मे इतना दुःख क्यों है, संसार ही क्यों है, सुख दुःख, जीना मरना, 'मैं' 'तुम' 'यह' 'वह' क्या है, क्यों हैं, जागना सोना, हँसना रोना, चलना फिरना, थकना ठहरना, सुनना छूना, देखना चीखना सूँघना, खाना पीना, मलमूत्र त्यागना, लड़ना झगड़ना, मेल मुहब्बत करना, रूपरंग, आकाश पृथ्वी, सूर्य चन्द्र तारे बादल बिजली बरसात,

आग पानी, जाड़ा गर्मी, फूल फल पेड़ पत्ते, सहस्रों सहस्रों प्रकार आकार के जीव जन्तु, प्रतिक्षण सर्वत्र जो परिणाम परिवर्त्त हो रहा है, कोई वस्तु दो क्षण के लिये भी एक रूप से स्थिर नहीं है, यह सब 'क्या है, क्यों है, कैसे है,' परिणाम का अर्थ ही किसी भाव का अभाव होना और किसी अभाव का भाव होना, सो कैसे, परलोक कोई है या नहीं है, है तो इहलोक और परलोक मे क्या भेद है, शरीरों से जीव भिन्न हैं या नहीं हैं, नश्वर हैं या अमर हैं, नहीं हैं तो अमर हो सकते हैं या नहीं, हो सकते हैं तो कैसे, दुःख से सब जीव कैसे छूटैं, जीवों से भिन्न कोई ईश्वर है या नहीं है, उस की इच्छा पर जीवों की सत्ता असत्ता सद्गति दुर्गति आश्रित है अथवा जीव स्वतंत्र हैं —इत्यादि प्रश्नो की सतत चिंता, पहिले अस्पष्ट, फिर अधिकऽधिक व्यक्त रूप से, उत्पन्न हुई और बढ़ती गई । प्रत्येक जीव को, कभी न कभी, किसी न किसी जन्म मे, इस चिन्ता का अनुभव करना पड़ता है । पहिले तो, दूसरी सांसारिक (अविद्या की) वासना इस शांति की (विद्या की, मोक्ष की) वासना के अंकुरों को दबा देती हैं, जैसे बरसाती कुश-काश अन्य बीजों को । 'यह प्रश्न न कभी उत्तीर्ण हुए, न होंगे, खाओ, पीयो, दुनिया का काम अपना देखो; हाँ, मन बहलाने को, जी चाहे तो, कभी ऐसी दो चार हवाई बातें कर लिया करो ।' जैसा फ़ारसी के शायरों ने बड़े मीठे शब्दों मे कहा है ।

हदीसे मुत्रिबो मय् गो, व राज़े दह्र कमतर जो ;
कि कस् न कुशूद् व न कुशायद्, ब हिक्मत ईं मुअम्मा रा ।
(वीणा-मधु [मद्य] की बात कह, रहसनि सें जनि जूझ ;
सृष्टि-भेद को नहिं सक्यौ तर्कन तें कोउ बूझ) ।*

---

* इन शेरों, श्लोकों, का गूढ़ अर्थ भी है—केवल शुष्क तर्क और न्याय के बल मे, जो बाह्य इंद्रियों के प्रत्यक्ष विषयों को ही ले कर आरम्भ करते हैं, संसार के रहस्य कारण और हेतु का पता नहीं चलता । आत्मश्रद्धा, आत्मभक्ति, सर्वव्यापी मनुष्यप्रेम, जीवदया, सर्वभूतदया, महाकरुणा, परार्थचिंता, परोपकार, इश्क़-हक़ीक़ी की मदिरा पीयो, और अपने शरीर के भीतर बनी हुई, इडा-पिंगला-

असारि अज़ल रा न तू दानी, व न मन ;
ईं हर्फ़ि मुअम्मा न तू ख़्वानी, व न मन ;
हस्त अज़ पसे पर्दः गुफ़्तोगूये मनो तू ;
चूँ पर्दः बियुफ़्तद, न तू मानी व न मन ।
(नहिं 'तू' नहिं 'मै' जानतो, या रचना को मूल ;
एहि अरूझी लिपि मे रहे, 'मै' हू 'तू' हू भूल ;
है पर्दा की ओट तें, 'मै' की 'तू' की [मेरी तेरी] बात ;
ज्यों ही पर्दा उठि गयो, 'तैं' 'मै' कोउ न दिखात ।)
सब रग तार, तमूर तन, बिरह बजावत नित्त ;
और न कोऊ सुनि सकै, कै साईं, कै चित्त ।

रग=नस, तमूर=तानपूरा, साईं=स्वामी परमात्मा, चित्त = जीवात्मा; बिरह इस लिए कि बिना संसार से वैराग्य के, परमात्मा से अलग होने के दुःख के, और फिर उस से मिल जाने की उत्कट चाह के, यह वीणा नहीं बजती ।

मा मुक़ीमानि कूये दिलदार एम ,
रुख़ ब दुनिया व दीं न मी आरेम ,
बुलबुलानेम कि अज़ क़ज़ा व क़दर ,
ओफ़्तादः जुदा ज़ि गुलज़ारेम ।

सुषुम्ना के तीन मुख्य और कोटियों सूक्ष्म नाड़ी रूप अन्य तार वाली वीणा बजाओ, नारद के ऐसी, तब इस अंधेरे मे रौशनी मिलैगी । 'तमसस्तु परे पारे', 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्', 'नऽयमात्मा प्रवचनेन लभ्यः, न मेधया, न बहुना श्रुतेन', 'नऽविरतो दुश्चरितात्...प्रज्ञानेन एनं आप्नुयात्' इत्यादि उपनिषद्वाक्यों का भी यही अर्थ है । जब तक शरीर भेद के पर्दे मे जीव, अंतरात्मा, छिपा ढँका है, जब तक यह समझता है कि 'मै-यह-देह-ही-हूँ', तब तक 'मै' और 'तुम' और 'वह' इत्यादि जीव और जीव मे उस को भेद जान पड़ता है । जब शरीरकृत भेदबुद्धि का पर्दा उठा, तब न 'मै' और न 'तू' (अलग) रहे, और संसार का 'भेद' (रहस्य) खुल गया और मिट गया ।

(बासी हम वा बाग के जहँ प्रीतम को पास ;
या दुनिया अरु दीन तें हम कौं नहिं कछु आस ;
नित लौटन की लगन में चकफत साँस-उसाँस ।
कोउ घोर दुर्भाग्य ने तहँ तें दियो निकास ,
मर्जी प्रीतम की भई, नहिं राख्यौ निज पास ,
पर हमहूँ कौ धुन लगी, लौटैंगे निज वास ।)

पर एक दिन ऐसा आता है जब, अपने समय से, अपने ऋतु में, यह पारमार्थिक चिंता अन्य सब चिन्ताओं को दबा लेती है, खाना, पीना, दुनिया का काम, भोग विलास, ऐश इशरत, कुछ अच्छा नहीं लगता। यह तो सब नश्वर है, अनित्य है, अंत में दुःखमय है, विष मिला हुआ मिष्टान्न है, हम को तो नित्य अनश्वर पदार्थ चाहिये—यही एक इच्छा हृदय को छा लेती है। बुद्धदेव, राज की समृद्धि को छोड़, अति प्रिय पत्नी यशोधरा और पुत्र राहुल को छोड़, इस परम सात्त्विक उन्माद से उन्मत्त, आधी रात को राजधानी कपिलवस्तु से बाहर चले गये; नगर के द्वार पर घूम कर, खड़े हो कर, बाँह उठा कर, उन्हों ने प्रतिज्ञा की।

जननमरणयोः अदृष्टपारः न पुनः अहं कपिलाह्वयं प्रवेष्टा।

'जन्म मरण के रहस्य का पार देखे बिना मैं कपिलवस्तु के भीतर फिर पैर नहीं रक्खूँगा'। पार देख कर, फिर जैसा प्रारब्ध कर्म बचा हो, चित्त में जैसा वासना-शेष-रूपी अधिकार अवशिष्ट हो, तदनुसार, सांसारिक कर्त्तव्य का निर्वाह करे, अथवा संन्यास ले। एक प्रकार की सूक्ष्म-रजो-मिश्रित शुद्धसत्त्व प्रायरूपिणी करुणा से, धर्मसंस्थापनबुद्धि से, अपने प्रारब्ध कर्मों का निर्यात करने की इच्छा से, अन्तरात्म-परमात्म-प्रवर्तित-संसारचक्र के अनुवर्त्तन की अवश्यकर्तव्यता के भाव से, प्रेरित हो कर, राजगुह्य-राजविद्या-धारी प्राचीन राजर्षियों ने, (गृहस्थ) जीवन्मुक्तों ने, राम, कृष्ण, जनक, अलर्क, भीष्म, युधिष्ठिर, अर्जुन आदि ने, प्रजा-पालन, साधु-पोषण, दुष्ट-दमन का कार्य किया। अतिसूक्ष्म-उत्तम-तमो-मोह-मिश्रित शुद्ध-सत्त्व-प्राय दूसरी प्रकार की दया से प्रेरित हो कर, 'महा (-करुणा-) यान' पर चल कर, लोकहितैषिता के, संसारि-जीव-उद्धारिणी बुद्धि के, 'श्वेतांबर'

से आच्छन्न हो कर, (वानप्रस्थ) वसिष्ठ, व्यास, महावीर जिन, बुद्धदेव, ईसा, आदि ब्रह्मर्षियों ने, मनुष्यों की बुद्धि जगाने का कार्य, और संसार के भय से तारने वाले तारक सात्त्विक ज्ञान का प्रचार, किया। कोई जीव, और भी थक कर, इस महाकरुणा के शुभ्र आवरण से, शुभ वासना से, भी, क्रमशः अति विरक्त हो कर, 'दिगम्बर'-वत्, (संग-) 'हीनयान' पर चल कर, (एकाकी) प्रत्येकबुद्धवत्, परम संन्यासी, परम-हंस, हो कर, केवल कैवल्य की, विदेहमुक्ति की, ओर झुके। ऐसी कथा महापुरुषों की, बड़ों की, पुराणों मे, लोक की शिक्षा के लिये, ऐसे ही वत्सल वृद्ध लिख गये हैं। "महाकारुणिको मुनिः" "संसारिणां करुणयाऽाह पुराणगुह्यं" (भागवत)। "तदेव चित्तसत्त्वं, अनुविद्धं रजोमात्रया, धर्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य-उपगं भवति", (योग-भाष्य), जब चित्त के सत्त्व-अंश मे, रजस् की भी कुछ मात्रा लगी रह जाती है, तब वह चित्त, धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य के भावों और कार्यों की ओर झुकता है। जो जीव, अव्यक्त, अनिर्देश्य, अक्षर, अचिंत्य, अचल, सर्वत्र-व्यापी कूटस्थ की उपासना करते हैं, वे भी, अपनी इन्द्रियों को वश मे ला कर, सर्वत्र समबुद्धि हो कर, सर्वभूतहिते-रत होते हैं, सब जीवों का हित सम्पादन करना चाहते हैं, और इस लिये 'मेरे' (अर्थात् 'पुरुषोत्तम' के) ही पास आते हैं (गीता, अ. १२); और अन्त मे, "महर्षयोऽपि ऐश्वर्यसत्यदर्शनेन निर्विण्णाः कैवल्यं प्रविशंति" (शांकर-शारीरक-भाष्य), तथा "ब्रह्मणा सह मुक्तिः", इत्यादि। यह सब कथा, मुमुक्षा की चिंता के शांत होने के, जीवन्मुक्ति के लाभ होने के, पीछे की है।

भक्ति के द्वारा ज्ञान, तो ज्ञान के पीछे पुनः भक्ति का उद्रेक; पर उस नई भक्ति के रूप मे कुछ भेद। ऐसे ही, योग-भाष्य मे दो वैराग्य कहे हैं, एक जिज्ञासा के पहिले, दूसरा ज्ञान-प्राप्ति के पीछे। पहिली भक्ति, जैसी बच्चे की, माता पिता के लिये, सर्वथा तदधीन, विवश; दूसरी भक्ति स्वाधीन और आत्म-वश होते हुए भी, युवा की सी, उन्हीं माता पिता के लिये, उन की आज्ञाकारिता और परम आदर; अथवा, जैसी सैनिक की, महामान्य सेनापति के लिये। ऐसे ही, पहिला वैराग्य सुकुमार-चित्त, मृदु-वेदी, दुखिया का; दूसरा वैराग्य, जैसे दृढ़-चित्त नाटक-कार का, लीलामय।

व्यास जी का मन, ब्रह्मसूत्र, महाभारत, पुराण आदि ज्ञान-सागर के निर्माण कर चुकने पर भी रस-हीन आनन्द-हीन था; नारद जी आये; उपदेश किया, "भगवद्-भक्ति का आवाहन कीजिये, भक्ति-मय ग्रन्थ रचिये'; 'भागवत' रचा; चित्त में शांति के साथ आनन्द भरा।

ज्ञान-रूप जस आपु कह्यौ है, भक्ति-रूप तस नाहिं कह्यौ ;
याही ते भगवान आतमा मन मे नहिं संतोष लह्यौ ।
भक्ति-भाव भरि, ज्ञान-कर्म कौ मारग एक बनावौ ;
करि उपासना-ध्यान, परातम-महिमा को तुम गावौ ;
जब, भगवत्परात्म-शक्ति तें लोकन कौ बिस्तारा,
भक्ति बढ़ावत, तुम दिखरावौ, तब ही पावौ पारा ।
ज्ञान पाइ, जब सब जीवन मे एकहि चेतन भावै,
भक्ति बढ़े पर, प्रीति भाव करि, सब मे चित्त लगावे,
कर्म परारथ सतत करत सब मन लगाव कौ पावै ;
असंतोष सब मिटै, सोच अकुलावनि आदि नसावै ;
यही रूप सामीप्य-मुक्ति अरु जीवन्मुक्ति कहावै ;
फिरि, क्रमशः, ब्रह्मा जब सोवैं, प्रलय-मुक्ति को ध्यावै ।

जीव तो अमर है; जीवन्मुक्त होने के पीछे, जब तक 'विदेह-मुक्ति' वा ब्रह्मा के साथ मुक्ति न हो, तब तक काल-क्षेप कैसे हो ? तो अपने से कोटि-कोटि-गुण बड़े ईश्वर-तर जीव की, 'पुरुषोत्तम' की, अनुयायिता में, भक्ति-आनन्द से, ईश्वर-प्रवर्तित संसार-चक्र के अनुवर्त्तन में, चलाने में, क्षुद्रतम भी भाग, जो ही बने, लेते रहने से।

अपने मन मे 'क्या, कैसे, क्यों' की चिंता उठने पर, दर्शन शास्त्र के ग्रंथ, संस्कृत के, अंग्रेज़ी के, यथाशक्ति, उपरि-उक्त लड़का, 'कालिज' में, देखता विचारता रहा। समान-शील-व्यसन मित्रों के साथ वाद विवाद संवाद भी यथाऽवसर करता रहा। पूर्वोक्त (पृ० ७९–९०) भक्ति-मार्ग और आरंभ-वाद, कर्म-मार्ग और परिणाम-वाद, ज्ञान-मार्ग और विवर्तवाद के विविध आकार प्रकारों पर, अवांतर वादों पर, अपनी थोड़ी शक्ति के अनुसार बहुत क्षुण्णक्षोद करता रहा। अंततः

संवत् १९४४ (सन् १८८७ ई०) मे उस के हृदय मे इस बुद्धि का उदय हुआ कि, जिस नित्य पदार्थ की तुम को खोज है वह परमऽभीष्ट, परमप्रेष्ठ, परमश्रेष्ठ, परमस्थिर, परमनित्य, परमनिश्चित, परमवास्तव, परमतत्त्व, परमसत्य, परमपदार्थ 'मै, 'अहम्', ही है; इस 'मै' का, इस (अहम् , चेतना, चित् , चिति, चैतन्य, द्रष्टा, पुरुष, पुरुषोत्तम, परमेश्वर, ब्रह्म) परमात्मा का, संपूर्ण स्वरूप, (स्व-भाव, प्रकृति, मूल-प्रकृति, प्रधान-भाव), 'अहम्-एतत्-न', 'मै-यह-नहीं', यह अखंड (एकरस, अन्-अवरत, शाश्वत, सकृत्प्रभ, एकऽाकार, निर्विशेष) बोध (भावना, धारणा, दर्शन, ख्याति, संवित् , वेदन) है; और इस स्वरूप मे ही सब शंकाओं और प्रश्नो का समाधान और उत्तर निहित है । वह लड़का, प्रस्तुत लेखक ही था।

अपने सन्तोष के लिये, और विचार को स्थिर और विशद करने के लिये, चौदह सूत्र संस्कृत मे लिख कर छपवा लिये; ये हैं,

वेदांत-हृदय-सूत्रम् ।

१. 'अहम्'–(अन्-अहम् = अहमः इतरत् = अन्यत् =) एतत्-न (अस्मि)' इति निष्क्रियं अकालं अदेशं पूर्णं शाश्वतं 'परं-ब्रह्म', 'परमात्मा' वा ।

२. 'एतत्'–समष्टि-उपाधि-उपहितः, 'एतत्–न' (अस्मि) इति 'ज्ञान'-वान्, 'अहम्' एव पुरुषः, सूत्रऽात्मा, ईश्वरः । (स्यात् अच्छा होता यदि इस सूत्र के स्थान मे यों लिखा जाता—

एकः, केवलः, स्वस्थः, स्वरूपेऽवस्थितः, अन्तर्मुखः 'अहम्' = प्रत्यगात्मा, प्रत्यक् अंचितः । अनाद्यनंतऽसंख्य-एतत्-समष्टि-उपाधिं उपाददधंश्च निषेधंश्च 'अहम्' = मायाशबलं ब्रह्म, परम-ईश्वरः वा; उपाधि-उपादान-दृष्ट्या सगुणं; तन्निषेधदृष्ट्या निर्गुणं । ब्रह्मांडऽादिरूप–'एतद्'–व्यष्ट्युपाधि-उपहितः 'अहम्-एतत्-न' इति-भाव-वान् 'अहम्' = ईश-सूत्रऽात्म-विराड्-आदि-आत्मकः ईश्वरः।)

३. 'अहम्'-ऐक्य-विरोधात् 'एतत्' 'नाना', 'अणु'-रूपम् इति । 'एतत्' एव, 'अहम्-एतत्' इति निर्वचनात् (आरोपात् , कल्पनात्) सद्भाववती, 'एतत्-न (अस्मि)' इति निषेधात् (अपवादात्) असद्भावऽवलम्बिनी सदसती प्रधान-अव्यक्त-इत्यादि-अपरनाम्नी अनंत-अणु-रूपा 'मूलप्रकृतिः' ।

('निषेधात्' से विपरीतता दिखाने के लिये 'निर्वचनात्' के स्थान पर कोई दूसरा शब्द, 'उपाधानात्' 'विधानात्', 'उपादानात्', 'सेधात्', 'विषेधात्', 'अनुषेधात्', 'संकल्पात्', 'उद्भावनात्', 'संभावनात्', 'प्रतिज्ञानात्', के ऐसा होता तो अच्छा होता। 'निषेध' का प्रथित उलटा 'विधि' है। इस से स्यात् 'विधानात्' ही सब से अच्छा होता। प्रचलित वेदांत के सांकेतिक, 'विधि निषेध' के समानार्थक, बहुत अच्छे शब्द 'अध्यारोप-अपवाद' हैं। अधि-आस वा उप-आस और अप-आस भी अच्छे हैं, पर अ-प्रसिद्ध हैं।)

४. अणुरूप-'एतत्'-व्यष्टि-उपाधि-उपहितः 'अहम्-एतत्-' इति- अ- ज्ञान-(= मिथ्याभाव)-वान् 'अहम्' = जीवः', 'जीवऽात्मा' वा।

५. 'अहमा' 'एतदः' प्रत्यक्षीकरणं एव 'ज्ञानं'।

६.—७. ततः एव 'ज्ञाता', 'ज्ञेयं' च।

(यहाँ 'इच्छा', 'एष्टा', 'इष्ट', और 'क्रिया', 'कर्त्ता', 'कर्म', की चर्चा भी होनी चाहिये।)

८. 'अहम्-एतत्-न (अस्मि)' इति पूर्णज्ञानं (संवित्) महत्, बुद्धिः, ब्रह्मा, 'विद्या' वा।

९. 'अहम्-एतत्' इति अंशज्ञानं (खंडितं ज्ञानं, अज्ञानं, संभावनं, 'अविद्या।'

१०. 'एतत्-न (अस्मि)' इति नितांतविरोधेऽपि 'अहमेतत्' इति अत्यंत-संरोधाद् 'अहम्-एतदोः' 'अन्योऽन्यऽाध्यासः'।

११. 'एतदः' 'अहम्'-अपरिमितत्व-विरोधेन परिमितत्वम्। परिमिते च 'एतदि', 'अहमेतद्' इति संयोगस्य, 'न-(अस्मि)' इति च वियोगस्य यौग-पद्यऽसंभवात् 'प्रवृत्ति-निवृत्ति'—'सृष्टि-संहार'—'अध्यारोप-अपवाद'—रूपस्य क्रमस्य जन्म।

१२. क्रमः एव 'कालः।'

१३. एकस्मिन् काले नानानाम् संभवः एव 'देशः' (खं, आकाशः)। (इस १३ वें सूत्र के स्थान में स्यात् अच्छा होता कि यह लिखा जाता, 'यौग-पद्यं एव देशः'। काल का स्वरूप, नाना भावों का 'क्रम' है। देश का स्वरूप, नाना वस्तुओं का यौगपद्य, युगपत् विद्यमानता, सह-अस्तिता है। एकस्मिन्

देशे नानानाम् संभवः, एक देश में अनेक वस्तु, भाव, रूप, आदि कालात्मक 'क्रम' से होते हैं; यथा एक काल में अनेक पदार्थ, देशात्मक यौग-पद्य से होते हैं। क्रम-सम्भवः अथवा क्रम-बीजं, कालः, तथा यौगपद्य-संभवः, अथवा यौगपद्य-बीजं, देशः, ऐसा भी कह सकते हैं।)

१४. अहम्-एतत्-न (अस्मि)-इति वाक्यान्तर्गतं (स्वभावांतर्गतं) क्रमस्य (च यौगपद्यस्य च) 'आवश्यकत्वं' एव 'माया' शक्तिः दैवीप्रकृतिः इत्यादि-बहुनामिका भगवती स्तुतिशतसहस्रऽधिष्ठातृदेवता।

[नोट—ऊपर के लिखे सूत्रों में जो शब्द कोष्ठकों के ( ) भीतर हैं वे अब बढ़ाये हैं, इन के मूल स्वरूप में, जो सन् १८८७ में लिखा गया, नहीं थे।]

इस प्रकार से, संस्कृत के भी असंस्कृत अपरिष्कृत टूटे फूटे शब्दों में, हृदय के प्रिय भावों के लिये मंजूषा, पेटी, बना ली। विषय ऐसा सूक्ष्म है, 'मनोवाचाम् अगोचरं' है, कि कितना भी शब्दों को उलट पुलट करे, पूर्ण भाव प्रकट होता नहीं; किसी को किसी प्रकार से, किसी को किसी अन्य प्रकार से, अधिक सन्तोष होता है, इसी लिये विविध रीति से यत्न होते हैं। इन सूत्रों का हिन्दी में भावार्थ यों है।

१. 'मैं—यह—नहीं (हूँ)', यह बोध (संवित्, चेतना, वेदना, भाव) ही ब्रह्म का, परमात्मा का, स्वरूप है, स्वभाव है, तत्त्व है। यही परमात्मा है।

२. 'यह' अर्थात् दृश्य, भोग्य, विषयभूत, अनन्त पदार्थों की समष्टि को, समस्त 'एतत्' पदार्थों को, ध्यान में धर कर, उन की उपाधि से उपहित हो कर 'यह-नहीं (हूँ)' (अर्थात् मैं यह नहीं हूँ, मैं मैं ही हूँ, मैं से अन्य कुछ नहीं 'हूँ', और मैं से अन्य कुछ नहीं 'है', इस 'यह' में कुछ सत्ता नहीं है, 'मैं' से स्वतन्त्र 'यह' 'नहीं' है, मिथ्या है, झूठ है)—ऐसे भाव वाला 'मैं' पदार्थ ही परम-पुरुष परम-ईश्वर है। इस एतत्-समष्टि-रूप उपाधि को ओढ़ता और छोड़ता हुआ 'माया-शबल-ब्रह्म' (माया से गदला, जैसे वर्षाकाल में नदी का पानी) कहला सकता है। ओढ़ने की ओर यदि किंचित् विशेष दृष्टि की जाय तो 'सगुण'। छोड़ने की ओर, तो 'निर्गुण'।

अकेला, केवल 'अहं'-पदार्थ, एतत्-पदार्थ से प्रतीप-अंचित, (उलटे खींचा)

प्रत्यक्, 'एतत्' से मुँह फेरे हुए, स्व-स्थ, स्व मे स्थित, अन्तर्मुख, 'प्रत्यगात्मा' है। और 'एतत्' के किसी विशेष ब्रह्माण्ड आदि अंश या समूह से निर्मित उपाधि को धारण किये हुए, पर साथ ही 'यह–नहीं–हूँ' ऐसा बोध रखता हुआ, अहम्, 'ईश–सूत्र–विराट्' आदि रूप वाला, व्यस्त्यात्मक, व्यष्ट्यात्मक, 'ईश्वर' है।

३. 'मैं' एक है। उस के विरोध से, उस का उलटा, उस का विवर्त्त, होने के हेतु से, 'यह' अनेक है, नाना है, असंख्य-अणु-रूप है। 'मैं' ने इस 'यह' का ध्यान किया है, 'मैं-यह' कह के 'यह' का उद्भावन, संभावन, आवाहन, अनुवादन, संकल्पन, विधान, उपादान, अध्यारोपण, आभासन, अध्यसन किया है, इस लिये इस 'यह' मे सत्ता का भास आया है। पर, साथ ही, 'यह-नहीं (हूँ)' ऐसा भी ध्यान कर के, निषेध, प्रतिषेध, निरसन, पर्युदसन, निवारण, खंडन, निर्मूलन, अपभावन, अपकल्पन, हान, अपवादन भी किया है, इस लिये इस 'यह' की असत्ता भी स्पष्ट है। ऐसा सदसत्, हाँ भी नहीं भी, मिथ्या, झूठा, 'यह' ही अनंतऽनन्त-अणु-रूप-मूल-प्रकृति है, जिसी के दूसरे नाम अव्यक्त, प्रधान, इत्यादि हैं। प्रत्यगात्मा की मूल-प्रकृति, प्रधान-प्रकृति, उसी का स्व-भाव, है। क्योंकि 'मैं' ही तो 'यह' का प्रतिपादन उपकल्पन करता है, अपने मे से उस को निकालता है, ध्यान मे लाता है। 'प्रकरोति सर्वं', सब कुछ करती है, इस से 'प्रकृति'। 'प्रधीयते अस्मिन् सर्वं,' सब कुछ इस मे भरा पड़ा है, इस से 'प्रधान'; व्यक्त, व्यंजित नहीं, किन्तु अव्यक्त रूप से, जैसे बीज मे पेड़, इस से 'अव्यक्त'; इत्यादि।

४. अनंत असंख्य अणु-रूप एतदों 'यहों' मे से एक 'यह' की, व्यष्टिरूप शरीर की, उपाधि को पहिन कर, 'मैं-यह' ऐसी भावना करता हुआ 'मैं' ही 'जीव' है, 'जीवऽात्मा' है।

५. 'यह' को 'मैं' जो ध्यान मे प्रत्यक्ष करता है, अपने सामने रखता है, यही 'ज्ञान' है।

६. ज्ञान के साथ साथ एक ओर ज्ञाता और एक ओर ज्ञेय का भाव उत्पन्न हो जाता है। ('मैं' का 'यह' को ध्यान मे अपनाना ही 'इच्छा' है, जिस के साथ-साथ 'द्रष्टा' और 'इष्ट' के भाव उत्पन्न होते हैं। तथा 'मैं' का 'यह' की ओर

बढ़ना, अथवा उस को अपनी ओर खींच कर आत्मसात् करना, उस का ग्रहण करना, ओढ़ना, और फिर छोड़ना; उस से आप हटना, या उस को अपने से हटाना, यही 'क्रिया' है, जिस के साथ-साथ 'कर्त्ता' और 'कर्म' के भाव उत्पन्न होते हैं।)

८. मैं-यह-नहीं (हूँ) ऐसा पूर्ण ज्ञान ही (जिस मे समस्त, समष्टि, असंख्य 'यह' का, और उन के आविर्भाव तिरोभाव के नियमो का, बोध हो) महत्, बुद्धि, परा 'विद्या' है, जिस का पौराणिक रूपक मे नाम 'ब्रह्मा' आदि कहा है, अर्थात् ब्रह्म का कथंचित् किंचित् व्यक्त भाव।

९. 'मैं–यह' ऐसा खंडज्ञान, अज्ञान, 'अविद्या' है।

१०. 'यह-नहीं' कर के अत्यंत विरोध वियोग भी है, तथा 'मै यह' कर के नितांत संरोध संयोग भी है; इस लिये इन विरुद्ध पदार्थों मे परस्पर विरुद्ध गुणो का अन्योऽन्यऽध्यास हो जाता है। 'मैं' मे 'यह' के गुण, और 'यह' मे 'मै' के गुण, देख पड़ने लगते हैं।

११ 'मै' अपरिमित है, आदि अंत रूपी परिमिति इस मे नहीं है; इस का आदि अंत किसी ने देखा नहीं; देश काल क्रिया से अनवच्छिन्न है, अतीत है, परे है। जो पदार्थ कुछ क्रिया करै, जिस मे कुछ परिवर्त्तन हो, अदल बदल हो, वही देश और काल से परिच्छिन्न होगा; इस स्थान से इस स्थान तक, इस समय से इस समय तक। देश, काल, क्रिया, यह तीनो अन्योऽन्यऽाश्रित हैं, अलग नहीं की जा सकतीं। जहाँ, जिस मे, क्रिया नहीं, वहाँ देश, काल, आदि, अन्त, मेद, मर्यादा, सीमा, हद, भी नहीं। 'मै' मे ये तीनो नहीं। इस का विरोधी 'यह' सर्वथा परिमित है। और 'यह' का 'मै' से, 'मै-यह' कर के, संयोग होता है, और 'यह-नहीं (हूँ)' कर के, वियोग। इन दोनो अत्यंत विरुद्ध भावों का यौगपद्य, 'मै' की अपरिमित पारमार्थिक संपूर्ण दृष्टि से तो संभवता है, पर 'यह' की परिमित, व्यावहारिक, खंड दृष्टि से नहीं बनता। इस लिये अ-यौगपद्य, अर्थात् क्रम, संसार मे, संसरण मे, देख पड़ता है। पहिले प्रवृत्ति, तदनंतर निवृत्ति; पहिले सृष्टि, पीछे लय; जन्म, तब मरण; अध्यारोप, फिर अपवाद।

१२. इस 'क्रम' ही का नाम 'काल' है। एक देश, एक स्थान, मे अनेक

वस्तुओं, पदार्थों का सम्भव—यह क्रम से, काल से, होता है; ऐसे संभव का बीज, हेतु, कारण, मूलरूप ही काल है।

१३. अनेकों का, 'नाना' का, एक साथ, एक काल मे संभव, सहास्तित्व, यौगपद्य ही 'देश', खं, आकाश है।

१४. 'मैं-यह-नहीं-(हूँ)' इस स्व-भाव के अंतर्गत जो क्रम की, प्रवृत्ति-निवृत्ति, सृष्टि-लय, रूपी संसरण की, संसार की, 'आवश्यकता' है, 'अवश्यं-भाविता' है, तथा असंख्य वस्तुओं, पदार्थों, सर्वदा वर्त्तमान अणुओं, के यौगपद्य की आवश्यकता, अनिवार्यता, निश्चितता, नियति, है, यही 'माया', शक्ति, दैवीप्रकृति आदि बहुनाम वाली भगवती, सहस्रों स्तुतियों और उपासनाओं की इष्ट देवता है।

अर्थसिद्धि।

जिन सज्जनो ने पहिले कही हुई 'प्रणव की पुरानी कहानी' के पूर्वांश को (पृ० २७५–२८२) पढ़ लिया है, उन को सूचना मिल गई होगी कि मैं 'अहं-एतत्-न' की भावना को किस मार्ग से पहुंचा।[1] आरंभवाद से चल कर परिणामवाद; उस से चल कर विवर्त्तवाद, आभासवाद, अध्यासवाद। पर, वेदांत के उपलब्ध ग्रंथों से, एक अंतिम शंका दूर नहीं हुई, कि क्रियाऽतीत ब्रह्म और क्रियामय माया का क्या संबंध, क्यों, कैसे। रज्जु-सर्प, शुक्तिका-रजत, जपा-कुसुम, नदी-तीर, चंद्र-द्वय, मरु-मरीचिका, स्वप्न-नगर इत्यादि उपमाओं से संतोष नहीं हुआ। क्यों, कहाँ से, कैसे? मिथ्या भी, झूठ भी, सपना भी, सही, माना। पर क्यों, कहाँ से, कैसे? ब्रह्मसूत्र मे कहा, "लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्"; यह सब संसार परमेश्वर की केवल जाग्रत्-लीला और फिर सुषुप्त-कैवल्य मात्र है; पर भागवत मे पुनः पुनः (११वें स्कंध मे, कृष्ण-उद्धव-संवाद मे विशेषतः) शंका उठाई है,

ब्रह्मन्, कथं भगवतश्चिन्मात्रस्य अविकारिणः,
लीलया चापि युज्येरन् निर्गुणस्य गुणाः क्रियाः?
क्रीडायां उद्यमोऽर्भस्य, कामः चिकीर्षया अन्यतः।

[1] पृ० ९२-९७ पर 'दर्शनों का समन्वय' भी देखिये।

स्वतः तृप्तस्य च कथं, निवृत्तस्य सदाऽन्यतः ? (३–७–१२)
अकर्तुः कर्मबन्धोऽयं पुरुषस्य यदाश्रयः ,
गुणेषु सत्सु प्रकृतेः कैवल्यं तेषु अतः कथं ?
आत्मा अव्ययो अगुणः शुद्धः स्वयं-ज्योतिः अनावृतः ,
अग्निवद्; दारुवद्, अचिद् देहः; कस्य इह संसृतिः ? (११–२८–११)
ब्रह्मन् !, ब्रह्मणि अनिर्देश्ये निर्गुणे, गुण-वृत्तयः ।
कथं चरंति श्रुतयः, साक्षात् सद्-असतः परे ? (१०–८७–१)
देशतः कालतः योऽसौ अवस्थातः, स्वतोऽन्यतः,
अविप्लुतऽवबोधाऽऽत्मा, सः युज्येतऽजया कथम् ?
भगवान् एकः एव एषः, सर्व-क्षेत्रेषु अवस्थितः,
अमुष्य दुर्भगत्वं वा, क्लेशो वा कर्मभिः कुतः ? (भागवत)

जो आप्तकाम है, निर्विकार है, परिपूर्ण है, नित्यतृप्त है, 'अन्यत्' से, 'आत्मेतर' से, निवृत्त है, उस को, बच्चों के ऐसी, अन्य वस्तुओं की, खिलौनों की, अपेक्षा रखने वाली, दूसरों का, खेलावने वालों का, भरोसा करने वाली, आसरा देखने वाली, लीला क्रीडा की भी इच्छा क्यों ? जो निष्क्रिय अ-कर्ता है, उस का कर्मों से बन्धन कैसे ? जिस की प्रकृति में ही तीन गुण सदा कार्य कर रहे हैं, उस को कैवल्य, नैर्गुण्य, कैसे ? चित् चेतन, अग्निवत् आत्मा का, अचित्, जड़, काष्ठवत् देह से, संबंध कैसे ? और संसरण किस का, आत्मा का वा देह का ? श्रुतियों का, वेदों का, सम्बन्ध तो त्रिगुणों से ही है, "त्रैगुण्य-विषयाः वेदाः;" निर्गुण का वर्णन वे कैसे करते हैं, "परिपूर्णस्य का स्पृहा ?" "यद् अपरिणामि तद् अकारणम्, यद् अकारणम् तद् अपरिणामि ।" जिस में परिणाम नहीं वही अकारण है, स्वयंभू स्वयंसिद्ध, स्वाधीन, स्वस्थ, स्वतंत्र, है । जिस का कोई कारण कर्ता कारक नहीं, वही अपरिणामी है । जो परिणामी, परिवर्त्ती, बदलने वाला नहीं, उस का कोई उत्पादक कारक प्रेरक हेतु आदि नहीं हो सकता, न वह स्वयं किसी अन्य का कारण वा उत्पादक आदि हो सकता है । क्यों कि दोनो रीति से परिणाम सिद्ध हो जायगा । कठिनता यह है कि "चितिशक्तिः अपरिणामिनी" (योगसूत्र), और "परिवर्त्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते";

दोनो का संबंध कैसे बने ? दूसरे शब्दो मे—निराकार साकार का संबंध क्यों और कैसे ? साकार मे ही क्रिया, निराकार मे क्रिया नहीं। आकार का अर्थ ही परिमिति, परिच्छिन्नता, आद्यंतवत्ता; निराकार मे आदि अन्त नहीं; दोनो का सम्बन्ध कैसे बने ?[1]

विष्णु पुराण मे भी यही पूछा है, निर्गुण पदार्थ, सगुण की सृष्टि कैसे और क्यों करता है ?

निर्गुणस्य ऽप्रमेयस्य शुद्धस्य अपि अमलऽात्मन:,
कथं सर्गादिकर्तृत्वं ब्रह्मणः ऽभ्युपगम्यते ?

उत्तर क्या दिया ?

शक्तयः सर्वभावानां अचिंत्यज्ञानगोचराः
यतः, ऽतः ब्रह्मणः तास्तु सर्गाद्याः भावशक्तयः
भवन्ति, तपतां श्रेष्ठ !, पावकस्य यथा उष्णता।

ब्रह्म की शक्तियां अचिंत्य हैं जैसे आग मे गर्मी। भागवत मे भी यों ही काम चलता किया है,

सा इयं भगवतो माया, यन्नयेन विरुध्यते।

यह भगवान् की माया है, जो सब नय के, न्याय के, तर्क के, विरुद्ध ही चलती है।

१—चैतन्य सम्प्रदाय के जीव गोस्वामी के बनाये 'षट्-संदर्भ' नाम के ग्रन्थ के 'परमात्म-संदर्भ' मे "स्वतः तृप्तस्य च कथं निवृत्तस्य तथा आत्मनः" मे, 'तथा' के स्थान मे 'सदा' लिखा है। इस 'सदा' शब्द से, प्रश्न रूपी श्लोक के शब्दों से ही, छिपा हुआ उत्तर भी इंगित सूचित हो जाता है; यथा, 'सदा अन्यतः, आत्मनो इतरतः अन्यस्माद् 'एतद्'—रूपात्, निवृत्तस्य; 'अहं-एतत् (आत्मनो अन्यत किंचिद् अपि)—न', इति सदा-तन-रूपस्य, शाश्वत-रूपस्य। यह अर्थ, आगे चल कर, अधिक स्पष्ट होगा। मुझे भी, 'अहं-एतत्-न' का, हृदय के भीतर, स्वप्न मे, उपदेश मिल जाने के पीछे, इतिहास-पुराणों मे, इस अंतिम गूढतम प्रश्न का उत्तर, स्थान स्थान मे साधारण सरीखे शब्दों मे छिपाया हुआ, देख पड़ने लगा।

नारायणसंहिता मे भी कह दिया,

> सृष्ट्यादिकं हरिः, नैव प्रयोजनं अपेक्ष्य तु,
> कुरुते केवलानंदाद्, यथा मत्तस्य नर्त्तनम् ।
> पूर्णानंदस्य तस्य इह प्रयोजनमतिः कुतः ?
> मुक्ताः अपि आप्तकामाः स्युः, किमु तस्याऽखिलात्मनः ?

'जैसे उन्मत्त का, पागल का, मदिरामत्त का, नाचना-गाना, वैसे अखिलात्मा की यह सब चक्कर खाती, भ्रमती, प्रत्यक्ष नाचती, हुई सृष्टि; जब साधारण जीवन्मुक्त जीव आप्तकाम कृत-कृत्य निष्काम हो जाते हैं, तब अखिलात्मा परमात्मा का क्या कहना है ?' पर यदि यही कह के संतोष करना था, तो दर्शनो और वादों और तर्क वितर्कों की छान बीन करने का महा आयास प्रयास क्यों किया ? वही बात, 'मदिरा और सितार' की, 'खाओ, पीओ, चैन करो' की, अच्छी थी ? शंकराचार्य के शारीरक भाष्य मे, उक्त लीला विषयक सूत्र के भाष्य मे, इस उन्मादवाद का प्रत्याख्यान भी किया है ।

अनुगीता (अ० ३४-३५) मे भी ऐसी शंका उठा कर, गोल ही उत्तर दे दिया है ।

> प्रश्न—अतःपरन्तु यद् गुह्यं. तद् भवान् वक्तुमर्हसि ;
> सत्त्वक्षेत्रज्ञयोः चापि संबंधः केन हेतुना ?
>
> उत्तर—विषयो विषयित्वं च संबंधोऽयं इह उच्यते ।
> विषयी पुरुषः नित्यः सत्त्वं च विषयः स्मृतः ;
> अनित्यं द्वंद्वसंयुक्तं सत्त्वं आहुर्मनीषिणः ;
> निर्द्वन्द्वः निष्कलः नित्यः क्षेत्रज्ञः निर्गुणात्मकः ;
> सर्वैरपि गुणैर्विद्वान् व्यतिषक्तः न लिप्यते ;
> जलबिंदुः यथा लोलः पद्मिनीपत्रसंस्थितः ।

'क्षेत्रज्ञ, पुरुष, निष्क्रिय का, (क्षेत्र रूपी) सत्त्व, प्रकृति, सक्रिय से संबन्ध क्यों ? विषय विषयी का यह संबंध है; विषय के गुणो से व्यतिषक्त हो कर भी विषयी लिप्त नहीं होता ; जैसे कमल का पत्ता पानी से' । पर इस से तो कुछ

संतोष नहीं होता। विषय आया ही कहां से ? क्या विषयी से स्वतन्त्र अन्य पदार्थ है ? तो परिणाम-वाद के झगड़े उठते हैं। और यदि पृथक् स्वाधीन पदार्थ हो भी, तो विषयी को क्या ग़रज़ पड़ी थी कि उस से व्यतिषक्त हो ?

बौद्ध ग्रन्थों में भी सक्रिय-निष्क्रिय के संबंध की चर्चा उठाई है। यह भी उन ग्रन्थों से जान पड़ता है कि बुद्धदेव कभी तो, "गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं" न्याय से, उत्तर ही नहीं देते थे, चुप रह जाते थे, कभी यह कह देते थे कि यह प्रश्न अनुपयोगी है, इस विषय की छान बीन से कोई उपयोग नहीं, हमारे काम का नहीं। स्यात् प्रष्टा को अ-परिपक्व-कषाय, मृदु जिज्ञासु, केवल कुतूहली, अनधिकारी समझ कर ऐसा करते हों; नहीं तो, उन्होंने स्वयं जो वह बृहत् प्रतिज्ञा की, कि जनन-मरण का पार देखेंगे ही, संसार के अंतिम मर्म-रहस्य को जानेंगे ही, वह क्यों की, वह कौन 'काम की बात' थी ? शांतिदेव कृत बोधिचर्यावतार नामक ग्रन्थ के, सक्रिय-निष्क्रिय की शंका के विषय के, कुछ श्लोक ये हैं।

नित्यो हि अचेतनः व्योमवत् स्फुटं अक्रियः ;
प्रत्ययान्तरसंगे ऽपि निर्विकारस्य का क्रिया ?
यः पूर्ववत् क्रियाकाले, क्रियायाः तेन किं कृतम् ?
तस्य क्रिया इति सम्बन्धे कतरत् तन्निबंधनम् ?
करोति अनिच्छन् ईशश्चेत्, परायत्तः प्रसज्यते ;
इच्छन् अपि, इच्छाऽऽयत्तः स्यात्; कुर्वतः कुतः ईशता ?

'व्योम, आकाश, शून्य, पोल, के ऐसा निर्मल, निराकार, निर्विकार, नित्य (चेतन हो भी तो) अचेतन (के ऐसा) अवश्य स्पष्ट ही अक्रिय, क्रिया-हीन है। यदि उस से भिन्न कोई प्रत्यय, हेतु, कारण, उस का प्रेरक हो भी तो निर्विकार की क्या क्रिया हो सकती है ? जो क्रिया के काल में भी, क्रिया करते समय भी, जैसा पहिले था ठीक वैसा ही 'निर्विकार' बना रहता है, तो उस ने क्रिया' का कौन अंश किया, किया ही क्या ? 'उस की क्रिया', यह जो (षष्ठी से) कर्त्ता और कर्म का संबंध दिखाया जाता है; उस संबंध का क्या स्वरूप है ? दोनों का परस्पर बंधन, सबंधन, निबंधन, क्या है ? यदि अपनी इच्छा से कुछ करता है, तो निर्विकार नहीं; इच्छा रूपी विकार उस में आया, और

इच्छा के अधीन हुआ; यदि बिना इच्छा के करता है, तो दूसरे के बलात्कार से करता है, ईश नहीं है, पराधीन है। इत्यादि।

पर यहाँ तो काम की और बेकाम की बात की चर्चा नहीं। काम की बात तो साधारणतः 'खाओ, पीयो', हो ही गई। बुद्धदेव की महाकरुणा, महाऽभिनिष्क्रमण, महातपस्या, महाबोधि, महापरिनिर्वाण का फल कुछ और भी होना चाहिये; और है। जैसा योगवासिष्ठ मे वसिष्ठ ने राम से कहा है, यदि प्रष्टा का, जिज्ञासु का, शुश्रूषु का, 'अतिप्रश्नो' के भी उचित उत्तर से, संतोष न हुआ, तो मुनियों का जन्म ही व्यर्थ हो जायगा। जिसी बात मे किसी का प्राण, मन, अटक जाय, वही उस के लिये सब से भारी 'काम की बात' हो गई, चाहे दूसरों को नितान्त व्यर्थ ही जान पड़ती हो। बच्चे का प्राण मिट्टी के खिलौने मे बसा है; गणितज्ञ का किसी गूढ़तम गणित के प्रश्न के गुणन और उत्तरण मे धँसा है।

> सकल-लोक-चमत्कृति-कारिणः
> ऽपि अभिमतं यदि, राघवचेतसः,
> फलति नो तद् इमे वयं एव हि,
> स्फुटतरं, मुनयः हतबुद्धयः। (यो. वा.)

और प्रतिज्ञा की है,

> विवेकवैराग्यवतो बोधः एव महोदयः।

जिस को विवेक और वैराग्य और दृढ़ खोज होगी उस को संतोषकारक बोध मिलेगा ही। "मनोरथानां अगतिः न विद्यते।"

संसार के अंतिम रहस्य के, अहं-अनहं, आत्मा-अनात्मा, चेतन-जड के जान लेने की यह चिन्ता ऐसी है, कि जब एक बेर मन मे घुस जाती है, तो फिर चैन नहीं लेने देती; थोड़ी थोड़ी देर के लिये दबा दी जाय, पर जान नहीं छोड़ती, फिर फिर आती और ज़ोर करती है। सब काल, सब देश, सब मानव जातियों मे, अपना प्रभाव दिखाती रही है। जितने धर्म, मज़हब, 'रिलिजन', छोटे, मोटे, भले, बुरे, संस्कृत, असंस्कृत, तामस, राजस, सात्त्विक, पैदा हुए हैं, या होंगे, जितने मार्ग, जितनी उपासना, जितने दर्शन, बने, बन रहे हैं, या बनेंगे—सब इसी मूल चिंता के विशेष विशेष प्रकारों के, शाखा प्रशाखाओं के, मृत्यु के भय और अमर होने की इच्छा के, फल हैं।

जब तक दुःख है, जब तक मृत्यु है, जब तक मनुष्य को दोनों का भय है, तब तक यह चिंता, और उस के कार्यरूप, कर्मकांड, ज्ञानकाण्ड, और भक्तिकांड (वा उपासनाकांड) तरह तरह के भी हैं। जब वह भय मिट जायगा, तब चिन्ता भी उसी के साथ-साथ कट जायगी, धर्म-मज़हब-रिलिजन का भी वेदान्त मे अंत हो जायगा; "बुधस्य आत्मनि देवता।" भारतवर्ष मे, वैदिक धर्मावलम्बियों ने, संस्कृत भाषा मे, दार्शनिक दृष्टि से, आरंभवाद परिणामवाद से विवर्त्तवाद तक, द्वैतवाद से अद्वैत के प्रकारों तक, विशिष्टाद्वैत से शुद्धाद्वैत तक, विचार को पहुँचाया। पश्चिम के देशों मे, ईसाई आदि धर्मावलंबियों ने अन्य भाषाओं मे, 'फिलासोफ़ी' के शब्दों मे, 'क्रियेशन्', 'ट्रान्सफ़ार्मेशन्', 'अन्कांशस् विल् ऐंड इमाजिनेशन्', (वा 'आइडियेशन') के नाम से, अथवा, 'रिलिजन' और 'थियालोजी' के शब्दों मे, 'थीइ्म', 'पैन्थीज्म', 'मोनिज्म' के नाम से, इन्हीं वादों के आस पास के आशय कहे। बीच के देशों मे, इस्लाम-धर्मावलंबियों ने, अरबी फ़ारसी मे, 'ईजादिया', 'शुहूदिया' (या 'दहिया'), 'वुजूदिया' आदि के नाम से, प्रायः वही भाव दिखाये। बहुत दूर तक विचार को लाये, बहुत रास्ता साफ़ किया, मार्ग शोधा। एक वही अन्तिम गाँठ, निष्क्रिय सक्रिय के समन्वय की, सुलझाने को बाक़ी रह जाती है।

नाऽसतः विद्यते भावः, नाऽभावः विद्यते सतः। (गीo)

पर क्रिया का होना ही, सोये आदमी का जागना ही, पलक भांजना ही, स्वप्न देखना ही, संकल्पन करना ही, तो सत् का असत्, असत् का सत्, भाव का अभाव, अभाव का भाव, होना है। इस को समझाइये।

जब यह ठीक समझ मे आ जाय, कि 'मै' ही निष्क्रिय भी, सक्रिय भी, तभी अपनी अमरता और स्वतंत्रता सिद्ध हो, तभी दुःख का, मृत्यु का, अपने से अन्य किसी दूसरे प्रभुताशाली प्रभु का, जीव को सुख दुःख दे सकने वाले की ईशता का, हुकूमत का, अपनी पराधीनता परवशता का, भय छूटे; तब धर्म-मज़हब की आवश्यकता न रहे; तब प्राचीन श्लोक चरितार्थ हो,

सर्वं परवशं दुःखं, सर्वं आत्मवशं सुखं,
एतद् विद्यात् समासेन, लक्षणं सुखदुःखयोः। (मनु)

निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः । (वेदांतस्तोत्र)
सर्वधर्मान् परित्यज्य माम् (अहमम्) एकं शरणं व्रज ;
अहं त्वां सर्वपापेभ्यः मोक्षयिष्यामि (ष्यति), मा शुचः । (गी०
सोऽहं ब्रह्म, तत् त्वम् (अपि) असि । (उप०)
यः तु मूढतमः लोके, यश्च बुद्धेः परं गतः ,
उभौ तौ सुखं एधेते, क्लिश्यति अंतरितः जनः । (भागवत)

परवशता दुःख, आत्म-वशता सुख—बस इतना ही निचोड़ लक्षण दुःख और सुख का जानो। पर, जिस को यह पराधीनता और स्वाधीनता की चिंता उठी ही नहीं, जो दुनिया मे मस्त है, वह भी सुखी, एक चाल से। जो चिंता को पार कर गया, वह भी सुखी, दूसरी चाल से। बीच वाला जीव, चिंता मे पड़ा हुआ, दुःखी। चिंता के पार पहुँचा जीव भी, जीवन्मुक्त भी, चिंता वालों की चिंता से, करुणारूपी अंतिम उत्तम तमस् से, चिंतित और दुःखी। "संसारिणां करुणया"। पर वह भीतर से, दृढ़ निश्चय से, जानता है, कि बीच वाले भी, आगे-पीछे, जल्दी-देरी, पार पहुँचेंगे ही, क्योंकि सभी तो उसी एक ही परमात्मा के अंश हैं, अंग हैं, तद्रूप हैं। जो त्रिगुणो के तत्त्व को समझ गया है, अतः उन के पार पहुँच गया है, उस को अब दूसरों के कहे विधि-निषेध की आवश्यकता नहीं :

नहि गतिः अधिका ऽस्ति कस्यचित् ,
सकृत् उपदर्शयति इह तुल्यताम् । (महाभारत, शांति०)
सर्वे एव समाः, सर्वे एव अनन्ताः । (उप०)
त्रिगुणत्वात् कर्तुः श्रद्धया कर्मगतयः
पृथग्विधाः सर्वाः एव सर्वस्य तारतम्येन
भवंति। (भागवत, ५–२६–२)

कोई भी जीव किसी दूसरे जीव से, इस समय का अनीश्वर जीव भी इस समय के ईश्वर जीव से भी, तत्त्वतः, वस्तुतः, अंततः, सुख दुःख की संपूर्ण मात्रा मे, भूत, भविष्य, वर्तमान काल के अनुभवों का जोड़, मीज़ान, निकालने पर, कम नहीं निकलेगा। किस की गति किसी से, परमार्थतः, अंततः, अधिक नहीं

है। सब बराबर है, सब अनंत हैं; प्रत्येक जीव मे तीनो गुण हैं, और तीनो के अनुसार त्रिविध श्रद्धा, इच्छा, प्रत्येक जीव को, पारी पारी से, होती रहती है, इस लिये सभी जीव, सब प्रकार के कर्म, आगे पीछे, करते हैं, और तत्तद्गति भोगते हैं। भर्तृ-हरि ने भी कहा है, "अन्योऽन्यभावः समः"; विषय विषयी के सम्बन्ध का सुख-दुःख, जो इन्द्र को है, वही शूकर को है। इस हेतु से, ज्ञानी कारुणिक जीवन्मुक्त अधिकारी ईश्वर जीव जो हैं, वे, बद्ध संसरमाण अज्ञानी जीवों के लिये चिंतित हो कर भी, भीतर से, हृदय से, शांत ही रहते हैं। वे निश्चय से जानते हैं, कि जीव-आत्मा स्वयं ही बद्ध होता है, स्वयं ही राग-द्वेष पुण्य-पाप करता है, स्वयं ही फलरूप सुख-दुःख भोगता है, स्वयं ही मुक्त होता है, तथा अनन्त कालचक्र और अपार आकाशगोल मे पारी-पारी से, सभी जीव सब प्रकार के सुख-दुःख भोग लेते हैं। और भी, साधारण दृष्टि से भी, सभी मनुष्यों को, तीव्र दुःख और थकाव के समय मे, वह ज्ञान, थोड़ा बहुत हो ही जाता है, जो जीवन्मुक्त को होता है, "ब्रह्म सत्यं, जगत् मिथ्या, जीवः ब्रह्म एव, न ऽपरः"; परमात्मा की व्यापकता के कारण, जीव के भीतर, चाहे अस्पष्ट रूप से ही, यह बोध उदय होता है; यहूदियों के प्रसिद्ध राजा, सुलैमान बादशाह ने भी कहा, "आल इज़ वैनिटी आव वैनिटीज़", 'यह सब मिथ्या है'; भारत मे, अनपढ़ स्त्री पुरुष को भी, दुःख और नैराश्य के समय यही भाव भीतर से, उठता है, और कहते हैं, 'दुनिया झूठी है, सब माया है'।

जीवन्मुक्त, शंकामुक्त, निस्त्रैगुण्य ज्ञानी को, विधि-निषेध की, धर्म-मजहब की, आवश्यकता नहीं—इस का यह अर्थ नहीं कि वह दुराचरण भी मनमाना करै और तदुचित दंड न पावै। नहीं। अर्थ इतना ही है कि अब स्वयं उस के भीतर, (योगसूत्रोक्त) 'धर्ममेघ', धर्मान् मेहति, वर्षति, धर्म बताने वाला, उचितानुचित कर्म का विवेक कराने वाला, ज्ञान उदित हो गया है। वह स्वयं अंतरात्मा की प्रेरणा से, अपने मन से, बिना किसी दूसरे क़ानून-क़ायदा पोथीपत्रा शास्त्रादि की अपेक्षा के, धर्म का निर्णय और धर्म का आचरण करता है, और जिस शरीर से आचरण करता है उस से उस आचरण का फल भोगता है। यदि उस

से कोई दुराचरण बन जाय, तो उस का दुष्ट फल भी, दुःख-रूप, वह प्रपन्न और प्रसन्न भाव से, सिर झुका कर भोगेगा। वसिष्ठ ने राम से कहा कि ज्ञान के उदय हो जाने के पीछे, "पिब, लल, भुंक्ष्व, यथेच्छं आस्स्व राजन्!"। पीयो, खाओ, खेलो, जैसे चाहो उठो बैठो। इस का अर्थ यह नहीं है कि जो मन मे आवे, करो, तुम को सुख ही होगा। इस का अर्थ इतना ही है कि, जैसे माता पिता लड़के को पाल-पोस लिखा-पढ़ा कर बालिग़ कर देते हैं, और उस से कहते हैं कि, प्रिय पुत्र!, अब तुम अपने पैरों पर खड़े हो गये, अब हमारी ज़िम्मेदारी, पर्यनुयोज्यता, उत्तरदातृता, छूटी; अब तुम भला बुरा स्वयं पहिचान सकते हो; तुम्हारी आँख खुल गई, जान गये हो कि भले काम का फल भला, बुरे का बुरा; अब तुम स्वयं सोच विचार कर के, जैसा उचित समझो वैसा करो। परमात्मज्ञान के लाभ होने पर यही 'समावर्त्तन कर्म', अधिक उत्कृष्ट और गंभीर रूप से दुहराया जाता है—ऐसा समझना चाहिये। साधारण समावर्त्तन कर्म मे तो विद्यार्थी का स्थूल शरीर और बहिर्मुख मन, मनोमय कोष, परिपक्वता को, यौवन, प्रौढ़ि, सवयस्कता, बुलूग़ियत को, प्राप्त होता है; इस आत्मलाभरूपी पुनर्जन्म मे, ("तृतीयं यज्ञदीक्षायां"), आत्मज्ञान दीक्षा मे, सूक्ष्म शरीर, अन्तर्मुख बुद्धि, विज्ञान-मय कोष, यथाकथंचित् यौवन को प्राप्त होता है, और जीव, जीवन्मुक्त हो कर, विविध प्रकार के (प्रकृतिलय, सालोक्य, आदि) मुक्तों के 'महा गार्हस्थ्य' मे प्रवेश करता है, और योग्यता और वासनाशेष आदि के अनुसार,'अधिकार' की 'वृत्ति' करता है। ऐसा पुराण-ऋषिओं और महापुरुषों के उपदेश से जान पड़ता है। पर यह स्वप्न मे भी नहीं समझना चाहिये कि ज्ञान मिल गया, ज्ञानी हो गये, अब जो चाहे सो उच्छृङ्खल आचरण करैं, कोई दंड देने वाला नहीं है। बड़े बड़ों से बड़ी बड़ी चूक हो जाती है। देवों को, ऋषियों को, शाप पा कर, अवतार आदि लेना, प्रायश्चित्त करना, विविध प्रकार के दुःख भोगना, पड़ता है। "ईश्वरैः अपि भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाऽशुभं"। "प्रारब्ध-कर्मणां भोगादेव क्षयः"। विष्णु को तिर्यक् और मनुष्य योनि में, और उन के पार्षदों को दैत्य राक्षस आदि योनि मे, जन्म लेना पड़ा, और ऋषियों को दैत्य राक्षस आदिकों का भक्ष्य बनना पड़ा, इत्यादि। इस लिये यही जानना

चाहिये कि जिन्हों ने ज्ञान का अभिमान किया उन्होंने सच्चा ज्ञान नहीं पाया, सच्चे 'अहं' को, परमात्मा को, नहीं पाया, 'अहंकार' ही को पाया, और अभी उन को बहुत भटकना, भोगना, दंड पाना बाक़ी है। माया देवी की शक्ति अनंत, अपार, अथाह, अदम्य, असह्य, अवार्य, अजेय है; ज्ञानियों को भी पकड़ के मोह कूप में फेंक झोंक देती है, यद्यपि पीछे फिर दया कर के निकालती भी अवश्य है; क्योंकि अविद्या है तो विद्या भी है। इस लिये सदा उस परमात्मा जगदात्मा की जगद्धात्री शक्ति के आगे हृदय से प्रणत ही रहना चाहिये; जो परमात्मा की शरण पकड़ते हैं, वे ही उस की माया के पार लगते हैं।

ज्ञानिनां अपि चेतांसि, देवी भगवती हि सा,
बलाद् आक्षिप्य, मोहाय, महामाया प्रयच्छति। (दुर्गा-सप्तशती)
दैवी हि एषा गुणमयी मम माया दुरत्यया;
मां एव ये प्रपद्यन्ते मायां एतां तरन्ति ते। (गीता)
विश्वामित्र-पराशर-प्रभृतयः, वातऽम्बु-पर्णऽशनाः,
तेऽपि स्त्रीमुखपंकजं सुललितं दृष्ट्वा एव मोहं गताः;
शाल्यन्नं दधिदुग्धगोघृतयुतं ये भुञ्जते मानवाः,
तेषां इन्द्रियनिग्रहः यदि भवेत् विंध्यः तरेत् सागरं। (भर्तृहरि)
कामं चेद् अजयन् केचित्, तेऽपि क्रोधवशं गताः; (भागवत)
(उभौ जित्वा तु, लोभेन, मोहेन ऽथ, मदेन वा,
मत्सरेण ऽथ वा आकृष्य, विक्षिप्य, विनिपातिताः;
कामक्रोधौ उभौ देव्याः एवऽाकारौ सदातनौ।
सा एव गौरी च काली च, तद्-धवःऽपि भवः हरः;
सा एव उमा एव अपि चण्डी च, सः ऽपि रुद्रः शिवः तथा;
सा एव दुर्गा ऽन्नपूर्णा सा, कलाः तस्याः मदऽादयः।
शिवं अपि ताण्डवनृत्ये, ज्योतिश्चक्रे, भ्रमे महति,
देवी सा विनियुङ्क्ते; किं पुनः अन्ये पृथग्जीवाः।)
न अयम् आत्मा प्रवचनेन लभ्यः, न मेधया, न बहुना श्रुतेन,
यम् एव एषः वृणुते, तेन लभ्यः; तस्य एषः आत्मा विवृणुते तनूं स्वां। (उप०)

अस्तु । यह जो अंतिम सर्वविरोधसारभूत महाविरोध, अपरिमित-परिमित का, अनंत-सान्त का, नित्य-अनित्य का, व्यापक-अव्यापक का, अपरिणामी-परिणामी का, निराकार-साकार का, निर्गुण-सगुण का, एक-अनेक का, चेतन-जड का, निष्क्रिय-सक्रिय का, विषयी-विषय का, पुरुष-प्रकृति का, मैं-यह का, है, इन दोनो के बीच मे जो तात्त्विक वास्तविक संबंध 'न'-कार का है, उस की भावना करने से, इस 'न' को इन दोनो के साथ लगा देने से, जो महामंत्र, महावाक्य, देख पडने लगता है, उस से, इस महाविरोध की महाशान्ति, इन द्वन्द्वों का महा-समन्वय, सिद्ध हो जाता है । इस का दिग्दर्शन पहिले किया गया है । 'मैं-यह-नहीं (हूँ)'-इस सम्पूर्ण पारमार्थिक दृष्टि मे निष्क्रियता है; यह देश, काल, क्रिया, से अतीत है, परे है; पर देश, काल, क्रिया, सब इस के भीतर हैं । "सर्वं सर्वत्र सर्वदा ।"

'मैं' है, इस मे कोई विवाद हो नहीं सकता; किसी को यह संदेह नहीं होता कि मै हूँ या नहीं हूँ;

नहि कश्चित् संदिग्धे ऽहं वा न ऽहं वा इति । (भामती)

इन्द्रियाँ अपने अपने विषय की वस्तुओं की प्रमाण हैं । पर इन्द्रियों का प्रमाण क्या है ? "यानि इंद्रियाणि प्रत्यक्षसाधनानि तानि स्वयम् एवऽप्रत्यक्षाणि ।" (चरक०)।जिन इन्द्रियों से प्रमाणऽात्मक प्रत्यक्ष होता है,वे स्वयं अप्रत्यक्ष हैं। किसी आँख ने अपने को नहीं देखा । किसी कान ने अपने को नहीं सुना । किसी नाक, जीभ, हाथ ने अपने को नहीं सूँघा, चीखा, छूआ । यह जो वस्तु मेरे सामने है, इस को 'मैं' कान से, हाथ से, आँख से, जीभ से, नाक से, सुनता हूँ, छूता हूँ, देखता हूँ, चीखता हूँ, सूँघता हूँ । ये मेरी पाँच इन्द्रियाँ इस वस्तु की सत्ता और गुणो की प्रमाण हैं । पर ये इन्द्रियाँ हैं—इस का क्या प्रमाण ? 'मैं' उन का अनुभव कर रहा हूँ, इस के सिवाय और कोई प्रमाण, इन की सत्ता का, नहीं । जैसे दीपक अपने को भी दिखाता है और दूसरी वस्तुओं को भी, वैसे आत्मा स्वतःप्रमाण, स्वयंसिद्ध, स्वयंभू हो कर, सब 'अन्य' प्रमाणादिकों का प्रमाण है ।

सर्वप्रमाणसत्तानां प्रमाणं अहम् एव हि ।

तथा, 'मैं' अजर अमर अनादि अनन्त अखंड निराकार निर्विशेष स्वयंसिद्ध है । इस का अपलाप न कभी हुआ, न हो सकता है । 'मैं' के आदि अंत का

अनुभव कभी किसी को नहीं हुआ। यदि हुआ, तो अनुभव करने वाला भी तो 'मै' ही हुआ; उस आदि के पहिले 'मै' रहा, और उस अन्त के पीछे भी 'मै' ही है।

संविदो व्यभिचारस्तु न ऽनुभूतोऽस्ति कर्हिचित्;
यदि तस्याऽपि अनुभवः, तर्हि अयं येन साक्षिणा
अनुभूतः, सः एवाऽत्र शिष्टः संविद्वपुः स्वयम्। (देवी भागवत)

सो अखंड 'मै' सब अनन्त सम्भावनीय खण्डरूप 'यहो' का, एक साथ, युगपत्, संसेधन भी और निषेधन भी, अनुध्यान भी अपध्यान भी, अध्यारोपण भी अपरोपण भी, ऊरीकार भी दूरीकार भी, करता है। अखण्ड 'मै' के लिये तो यह सम्भव है। पर खण्डरूप 'यह' के लिये, 'यह' की दृष्टि से, होना और न होना, भाव और अभाव, जन्म और मरण, दोनो बात एक साथ नहीं हो सकती। क्रम से होती है। इसी क्रम की आवश्यकता का नाम माया है। 'या मा', जो 'नहीं—है', नहीं भी और है भी। 'मै-(मै से अन्य =) यह-नहीं-हूँ,' यह संवित् ही परमात्मा है। सब अनन्त भूत-वर्तमान-भविष्य (अर्थात् कालत्रय का) संसार, अर्थात् 'यह' पदार्थ का संसरण, असंख्य योनियों, शरीरों, उपाधियों, 'यहो', का जन्म-मरण, इस मे सर्वदा वर्तमान ही है। पीछे-यहाँ-आगे (अर्थात् देशत्रय) की सब वस्तु यहाँ ही हैं। सर्व सर्वत्र सर्वदा। प्रत्यक्ष ही 'मै' मे सब है। 'मै' बिना कुछ नहीं है। सब क्रिया ग्रहण-त्यजन-आवर्तन (क्रियात्रय) इस निष्क्रिय 'मै' मे है। 'मै' निष्क्रिय है। 'यह' की आविर्भाव-तिरोभाव-रूपिणी अनन्त क्रिया, आभास-मात्र, माया-मात्र, 'यह' के स्वरूप के कारण, उस के परिमितत्व की, खंडत्व की, आवश्यकता के कारण, देख पड़ती है।

'मै-यह-शरीर-नहीं-हूँ'; 'मै' इस से अलग हूँ, भिन्न हूँ; इस शरीर के जन्म से पहिले भी 'मै' था, इस के मरण के पीछे भी 'मै' हूँगा, इस समय भी यह कथंचित् 'मेरा' हो, पर 'मै' नहीं हूँ; यद्यपि व्यवहार ऐसा हो रहा है मानो 'मै-यही-हूँ'। अच्छा, तो जिस जीव को यह बोध है, कि 'मै यह' (शरीर, और ममता-द्वारा इस से सम्बद्ध सकल जगत्) 'नहीं-हूँ', उस जीव की चेतना मे, भूत-भविष्य-वर्तमान तीनो काल मे 'यह' का निषेध है, और साथ ही, इस वर्त-

मान काल मे 'यह' से 'मैं' के संयोग का, और इस लिये 'यह' के आभासिक अस्तित्व का अनुभव भी हो रहा है। जिस वस्तु का निषेध करते हैं, उस के अस्तित्व की संभावना कर के ही तो उस का अनस्तित्व वस्तुतः कहेंगे। चेतन के लिये आलाप-अपलाप, प्रसेधन-निषेधन, साथ ही होते हैं। 'इस स्थान पर मेरे सामने पुष्प नहीं है'—ऐसे विचारने कहने के लिये आवश्यक है कि पुष्प की संभावना भी की जाय और निषेध भी, अध्यारोप भी और अपवाद भी; चेतन मे दोनो युगपत् हैं; क्रियातीत कालातीत देशातीत हैं; पर पुष्प की दृष्टि से एक बेर पुष्प उत्पन्न होगा, दूसरी बेर नष्ट होगा; क्रम से, स्थान मे, क्रिया-द्वारा। ऐसे ही, शरीर की व्यावहारिक अपूर्ण दृष्टि से शरीर जन्मते हैं और मरते हैं, पर आत्मा की पारमार्थिक संपूर्ण त्रिकालातीत त्रिदेशातीत दृष्टि से, सदा, कभी भी, 'नहीं-हैं'। क्रमरूपी काल ही मिथ्या है, शून्य है, स्वप्न है, मेरे भीतर है, 'मैं' इस के भीतर नहीं हूँ—यह ठीक ठीक पहिचानने से निष्क्रिय-सक्रिय का समन्वय होता है।

बात थोड़ी है। सीधी सादी है। इतनी सीधी सादी कि शीघ्र विश्वास नहीं होता कि, मैं-यह-नहीं', इन तीन अति साधारण शब्दों मे संसार की सृष्टि-स्थिति-लय का रहस्य रक्खा होगा। प्यास लगने पर पानी की बहुमूल्यता जान पड़ती है। गला दबने और श्वास रुकने पर वायु मे श्रद्धा उत्पन्न होती है। "अति परिचयाद् अवज्ञा"। सुलभ पदार्थ मे आस्था नहीं होती। स्यात् इसी विचार से प्राचीन दयामय वृद्धों ने, सब कुछ कह कर भी कुछ नहीं कहा। अंतिम रहस्य को 'संध्या-भाषा' मे, प्रहेलिका के ऐसा, छिपा दिया है। जिस मे सच्चा खोजी, सच्ची लगन वाला, खूब भूखा प्यासा हो कर, उस को अंत मे स्वयं ढूँढ़ निकाले, और तभी पूरा सन्तोष पावे। पास तो उसे पहुंचा दिया है। प्रथम पुरुष के शब्दों मे कह दिया है। अब उत्तम पुरुष के शब्दों मे वह स्वयं अनुवाद कर ले, और पुरुषोत्तम हो जाय। माता ने बच्चे के आगे भोजन की सामग्री रख दी; खाय और अपने शरीर मे जीर्ण करे, यह उस का काम है।

'अस्ति ब्रह्म' 'इति चेद् वेद, परोक्षं ज्ञानम् एव तत्;
'अस्मि ब्रह्म' इति चेद् वेद, साक्षात्कारः तद् उच्यते।

इस 'संध्या भाषा' के उदाहरण कुछ देखिये।

किमर्थं, केन द्रव्येण, कथं जानामि च ऽखिलं—
इति एव चिंत्यमानाय मुकुंदाय महात्मने,
श्लोकार्धेन तया प्रोक्तं, भगवत्या ऽखिलार्थदं,
'सर्वं खलु इदम् एवऽहं न अन्यद्अस्ति सनातनम् ।
'अहम् एव ऽास पूर्वं तु, न ऽन्यत् किंचित्', नगाधिप ! । (देवी भागवत)

"अहं—इदं (अन्यत् सर्वं)—न", यही अखिलऽर्थं का देने वाला है; सब अर्थित, प्रार्थित, आकांक्षित, उत्तरों का, शंकाओं के समाधानो का, देने वाला है ।

पहिले कहा कि विष्णु-भागवत मे शंका उठा कर, काम चलाने को, कह दिया कि, यह भगवान् की माया, नय से, तर्क-न्याय से, विरुद्ध चलती है । पर फिर घुमा फिरा कर, स्थान स्थान पर इशारा संकेत किया है, उस परम न्याय का, जो साधारण पञ्चाऽवयव न्याय से तर्क से, अनुमान से, परे है, और इन सब का मूल भी है ।

'अहम् एव,न मत्तः ऽन्यद्'–इति बुद्ध्यध्वम् अंजसा(भाग०११-१३-२४)
अहमेवासमेवाग्रे नाऽऽन्यद् यत् सदसत्परम् ।
पश्चाद् अहं यद् एतत् च यः ऽवशिष्येत सःऽस्मि अहम् । (२-९-३२)
अहमेवासमेवाग्रे नऽन्यत् किंच आंतरं बहिः । (६-५-४७)

'अहं-अन्यत्-न' । 'एतत्' के निषेध के पीछे जो बच जाय सो 'मै' 'अहम्' हूँ । मै मै ही हूँ । 'अपरिमित मै, मै से इतर, भिन्न, अन्यत्, कुछ भी, यह या यह या यह, अनंत असंख्य दृश्यभूत, विषयभूत, परिमित, पदार्थ नहीं हूँ' । इस मे किस को विवाद हो सकता है !

सः ऽयं ते ऽभिहितः, तात !, भगवान् विश्वभावनः
समासेनः हरेः न ऽन्यत्, अन्यस्मात् सदसच् च यत् । (२-७-५०)
आत्मा अनात्मामत्युपलक्षणः । (३-५-२३)

'अहं-नाना-न' यह जो मति है वही आत्मा है ।

तद् ब्रह्म तद् हेतुः अनन्यद् एकम् । (६-४-३०)
त्वं ब्रह्म पूर्णं***अविकारं अनन्यद् अन्यत् । (८-१२-७)

पुरुषं यद्रूपं अनिदं यथा। (१०-२-४२)

अनिदं विदां। (२-२-२७)

पुरुष का स्वरूप, स्वभाव, 'अनिदं', 'इदं न', 'एतत् न' है।

इति एवं अनिद रूपं ब्रह्मणः प्रतिपादितम्;

निर्नाम्नः तस्य नाम एतत् सत्यं सत्यम् इति श्रुतम्।

(अनुभूतिप्रकाशसारोद्धार)

उस नाम-रहित सर्व-नामा परम पदार्थ का सच्चा नाम यही 'अनिदं' है।

इदं-बुद्धिः तु बाह्यार्थे हि, अहं-बुद्धिः तथाऽऽत्मनि।

इदमर्थे शरीरे तु, या ऽहम् इति उदिता मतिः

सा महाभ्रांतिः एव स्यात्; अतस्मिंस्तद्ग्रहत्वतः।

तस्मात् चिद्रूपः एव आत्मा ऽहंबुद्धेः अर्थः ईरितः;

अचिद्रूपं इदंबुद्धेः अनात्मा एव ऽर्थः ईरितः। (सूतसंहिता)

'इदं' 'यह' बाह्य है, विषय है, अचित् है, जड़ है, दृश्य है, शरीर है, अनात्मा है। 'अहं' 'मैं', चित् है, चेतन है, आत्मा है। 'इदं' शरीर को 'मैं' समझना—यही महा भ्रांति है, अविद्या है। पर आवश्यक है। और 'क्रम-शः' अविद्या के पीछे विद्या, 'इदं' को 'मैं-न' समझना, 'मैं' को 'अनिदं' समझना, 'यह-नहीं-हूँ' समझना—यही विद्या है। और इस विद्या का भी उपजना आवश्यक है। यह दोनो आवश्यकता ही माया-शक्ति का स्वरूप है।

उपलब्ध वेदांत के ग्रन्थों में, इस सम्बन्ध में, 'इदं' शब्द का ही प्रयोग अधिक मिलता है, 'एतत्' का प्रायः नहीं। पर 'एतत्' कुछ अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। वैयाकरणों का श्लोक है,

इदमः तु सन्निकृष्टं, समीपतरवर्त्ति च एतदः रूपं,

अदसः तु विप्रकृष्टं; तत् इति परोक्षे विजानीयात्।

'तत्' शब्द या प्रयोग ऐसी वस्तु के लिये होता है जो आँख की ओट में हो, परोक्ष हो; 'अदः', थोड़ी दूर वाली के लिये; 'इदं' पास की वस्तु के लिये; 'एतत्', जो बहुत पास हो उस के लिये। इस हेतु से शरीर के लिये, उपाधि के लिये, 'इदं' से 'एतत्' कुछ अधिक अच्छा जान पड़ता है। ('एतत्' का पुल्लिंग)

'एषः अहं,' (किसी ने पुकारा कि, कौन हो, कहाँ हो, तो उत्तर मे) 'मै यह हूँ' कुछ अधिक सहज पड़ता है, (इदं =) 'अयं अहं' से। (हिंदी भाषा मे इदम् और एतत् के ऐसे दो विवेकी शब्द नहीं देख पड़ते)। 'अहम् एतत्' के अनंतर, दूसरी काष्ठा की एकता का भाव, 'मम एतत्' है। अहं-ता से अव्यवहित ही मम-ता है। जिस अविद्या का घना भाव अहंता है, उसी का कुछ पतला, तरल भाव, ममता है। जिस वस्तु मे 'अहं' सर्वथा मग्न हो गया, भीन गया, वह तो अहम्मय शरीर हो गया। 'मै' चल रहा हूँ, 'मै' बोल रहा हूँ, 'मै' खा, पी, जाग, सो, उठ, बैठ, रहा हूँ। साधारण जन ऐसा ही कहते हैं। ऐसा नहीं कि, 'मेरा शरीर, मेरा हाथ, मेरा पैर', ऐसा ऐसा काम कर रहा है।

मन् तू शुदम्, तू मन् शुदी,
मन् तन् शुदम्, तू जाँ शुदी,
ता कस् न गोयद् बाद अज़ ईं,
मन् दीगरम्, तू दीगरी।
(मै तू हुआ, तू मै हुई,
मै जाँ हुआ, तू तन हुई;
अब तो न कोई कह सके—
मै दूसरा, तू दूसरी।)

जिस समय 'मै' की और 'यह' शरीर की एकता का भाव, आग्रह, अभि-निवेश, कुछ हलका हो जाता है, और दोनो के भेद का भान कुछ होने लगता है, उस समय 'मेरा' शरीर, हाथ, पैर, इत्यादि का प्रयोग होने लगता है। जिस वस्तु मे 'अहं' 'मै' की सत्ता संस्पृष्ट है, छूई है, पर निमग्न नहीं है, उस के लिये 'मम' 'मेरा' का प्रयोग होता है। इस से भी आगे बढ़ कर 'मेरा' (शरीर) का भी प्रयोग छूट जाता है। यथा भारतवर्ष में कोई संन्यासी ऐसा कहते देख पड़ते हैं, कि, 'यह शरीर इतने वर्ष का है, अमुक देश मे जन्मा है, स्वस्थ है, अस्वस्थ है, अमुक रोग से पीड़ित है,' इत्यादि।

मम-इति बध्यते जंतुः, न मम-इति विमुच्यते।

'मेरा' कहा, और बंधन मे पड़ा; 'मेरा नहीं' और बंधन से छूटा।

यह तो ठीक है ही, पर निर्-'अहं'-कारिता एक गुना और अधिक मुक्ति के संनिकृष्ट है, निर्-'मम'-ता की अपेक्षा से ।

अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते। (गीता)

शरीर मे अहं-भाव रखने वाला जीव, अपने को (जीवात्मा को) कर्त्ता मानता है, यद्यपि समग्र क्रियाओं का निष्क्रिय कर्त्ता एक परमात्मा ही है, 'कारणं कारणानां" । अनंत-द्वंद्वात्मक उत्पत्ति-लय-रूप क्रिया-प्रतिक्रियाओं का समूह, यह भूत-भवद्-भविष्य संसार, उस 'मैं' परमात्मा की एकरस धारणा मे, ध्यान मे, अखण्ड अनवरत एकाऽकार ज्ञान मे, भावना, चित्, संवित् मे, एक साथ ही विहित भी और निषिद्ध भी हो कर सदा निहित है। परिमित दृष्टि से क्रमशः आविर्भाव तिरोभाव की माया अनुभूत होती है, और परिमित कारण परिमित कार्यों की शृङ्खला परम्परा का भान होता है। संवित् शब्द का अर्थ है,

विद्यते स च सर्वस्मिन्, सर्वं तस्मिंश्च विद्यते,

तस्मात् संविदिति प्रोक्ता महान् वै बुद्धिमत्तरैः । (वायुपुराण)

परमात्मा की प्रकृति, स्वभाव, का किंचित् झांकी रूप व्यञ्जन ही, महान् आत्मा, महत्तत्व बुद्धितत्त्व, सामूहिक बुद्धि, बुद्धिसमष्टि, सर्वदेशकालद्रव्य मे व्याप्त, व्यापक बुद्धि (अंग्रेज़ी मे 'यूनिवर्सल् माइंड', 'कलेक्टिव इंटैलिजैंस,' फ़ारसी मे 'अक़लि-कुल') को संवित् इस लिये कहते हैं कि, इस मे सब कुछ, भूत-वर्तमान-भविष्य, पश्चात्-इह-अग्रे, विद्यमान है, और सब कुछ मे यह विद्यमान है। "अचैतन्य न विद्यते", चेतना बिना कुछ नहीं है। जो है, वह विद्यमान, 'विद्यते'; जो जाना जाय वह विद्यमान, 'विद्यते' ; विद् धातु के दोनो अर्थ। ठीक ही ; तत्त्वतः दोनो अर्थ एक ही बात हैं; जो है, सो ही जाना जाता है; जो जाना जाता है, सो ही है। जो नहीं है, वह जाना नहीं जाता ; जो जाना नहीं जाता, वह नहीं है। इस संवित् का नाम चित् भी है ,

(सर्वसंचयनात् चित् स्यात्, चैतन्यं, चेतना, चितिः ।
प्रारब्धः संचिताद् अंशः चित्तं इति अभिधीयते ।
चित्तस्य धर्मः स्मरणं, संचितस्मरणात् क्रमात् ।
क्रमेण अंजनं चित्ते ऽव्यक्तस्य, स्मरणं भवेत् ;

यद् हि प्रत्यभिजानाति, चेतति, स्मरतीति वा।)

सब असंख्य अनन्त भूत-भवद्-भविष्य भावों, ज्ञानो, कर्मो का संचय इस मे सदा भरा है, इस लिये इस का नाम 'चित्', चिति, चैतन्यं, चेतना। इस संचित की समष्टि मे से किसी एक अंश का, जो अवच्छिन्न, परिमित, देश-काल मे आरम्भ हो कर चेष्टा कर रहा है, व्यक्त हो रहा है, उस का नाम 'चित्त'। चित्त का धर्म 'स्मरण'। जो सदा क्रम रहित हो कर संचित है, उस को अनंत असंख्य अंशों मे विभक्त कर के, (माया से), एक एक कर के, क्रम से उलटना, जैसे पुस्तक के पत्र उलट उलट कर देखे जाते हैं वैसे देखना, अनुभव मे लाना, यही स्मरण। अव्यक्त समष्टि का चित्त मे क्रमशः व्यक्तीभवन, व्यञ्जन, ही स्मरण है। 'स्मरति', 'चेतति', 'चेतयति', 'प्रत्यभिजानाति' यह सब पर्यायप्राय हैं। हिन्दी मे भी 'चेत करो' का अर्थ 'याद करो' है। चित् के व्यञ्जन का स्थान, अपरिमित चिति शक्ति की एक परिमित व्यक्ति, चित्त। अस्तु।

जैसे भागवत मे घुमा फिरा कर इशारे से शंका का समाधान किया है, वैसे ही विष्णुपुराण मे।

अहं हरिः सर्वं इदं जनार्दनः
नऽन्यत् ततः कारण-कार्य-जातम्—
ईदृक् मनः यस्य, न तस्य भूयः
भवोद्भवाः द्वंद्वगदाः भवंति। (वि० पु० १–२२–२६)

'अहं (जनार्दनः)—इदं (= एतत्, अन्यत् सर्वं कारण-कार्य-जातं)—न' इन्हीं तीन शब्दों पर ध्यान जमाना चाहिये। 'अहं-इदं-न' ऐसा जिस का मन, बुद्धि, भाव, हो गया, उस को सांसारिक द्वंद्व के रोग नहीं सताते। श्लोक का अन्वय और अर्थ दूसरे प्रकारों से भी किया जा सकता है; पर उन से कोई विशेष अर्थ की सिद्धि नहीं होती।

योगवासिष्ठ मे भी कहा है,

अकिंचिन्मात्रचिन्मात्रं अस्मि अहं गगनाद् अणुः—
इति या शाश्वती बुद्धिः न सा संसारबंधनी।
(यो० वा०, निर्वाण-प्र०)

'अहं-अ-किंचित्', अर्थात् 'अहं-(किंचित्=) एतत्-न', यह बुद्धि, यह भावना, संसार के बंधन से मुक्ति देती है।

पुनः पुनः ऐसे श्लोक मिलते हैं, यथा,

अविच्छिन्नचिदात्मा एकः पुमान् अस्ति इह 'न-इतरत्';
स्वसंकल्पवशाद् बद्धः, निःसंकल्पः च मुच्यते।
(मुमुक्षु प्र०, १ सर्गः)

(अविच्छिन्नचिदात्मा एकः) पुमान् (=अहं)—इतरत् (आत्मनः अन्यत् = एतत्)—न।

भागवत के पहिले ही श्लोक मे चित् और जड़ का, आत्मा और अनात्मा का, विषयी और विषय का, विरोध दिखाने के लिये 'इतरत्' शब्द का प्रयोग किया है। ये दोनो एक दूसरे से 'इतर' हैं, अन्य हैं। 'मैं' का इतर 'यह'; 'यह' का इतर 'मैं'।

जन्माद्यस्य यतः ऽन्वयाद् इतरतः। (भागवत)

जन्मादि अस्य दृश्यस्य यतः इतरतः, दृश्याद् यः इतरः अन्यः ततः, पुरुषतः, अनु-अयात्। सार्वविभक्तिकस्तसिल्। यतः, इस लिये कहा कि सब 'विभक्तियों' का काम, प्रथमा से सप्तमी तक का, इस से निकल जाता है। और आत्मा, 'मैं', सब तरह से 'यह' का 'कारक' है, कारण है। कर्त्ता भी, कार्य (कर्म) भी, करण भी, सम्प्रदान, अपादान, सम्बंध, अधिकरण भी, निमित्त, सहकारि, समवायि, इत्यादि सभी।

यस्मिन्, यतो, येन च, यस्य, यस्मै, यं, यः, यथा कुरुते, कार्यते च,
परऽवरेषां परमं, प्राक् प्रसिद्धं, तद् ब्रह्म, तद् हेतुः 'अनू-अन्यद्' एकं।
(भागवत, ६-४-३०)

यस्मिन्, यस्य च, यस्माच् च, यस्मै, येन च, यं तथा,
यःच इदं च, परः ऽस्माच् च, तस्मै सर्वात्मने नमः।

जिस मे यह सब है, जिस का यह सब है, जिस मे से यह सब है, जिस के लिये यह सब है, जिस से यह सब है, जिस को यह सब है, जो यह सब है, जो इस सब से परे भी है, उस सर्वात्मा 'मैं' को नमस्कार है। यह सार्वविभक्तिक संबंध

संसार का, 'यह' का, 'मै' से ही बनता है, 'मै' के सिवाय और किसी से बनता ही नहीं। प्रत्यक्ष ही 'मै' ही, 'यह' का निषेध करता हुआ, सर्वात्मा है, परमात्मा है। कारक-विभक्तियों से जितने प्रकार के सम्बन्ध, 'मै' और 'यह' के, सूचित होते हैं, उन मे से एक एक को ले कर, उसी पर अधिक ज़ोर देने से, एक एक, अलग अलग, दार्शनिकवाद बन गये हैं।

सुवर्चला-श्वेतकेतु-संवाद (महाभारत, शांतिपर्व, अ० २२४) मे भी, गोल शब्दों मे, ऐसा ही संकेत किया है। सुवर्चला ने शंका किया कि पर पदार्थ अचिंत्य है, ऐसा पुराने लोग कहते हैं, फिर इस विषय की चर्चा व्यर्थ है। तो श्वेतकेतु ने कहा, नहीं,

> वेदगम्यं परं शुद्धं, इति सत्या परा श्रुतिः;
> व्याहृत्या 'न-एनत्' (= एतद्') इत्याह, व्युपलिंगे च वर्त्तते।
> साधनस्य उपदेशात् च हि उपायस्य च सूचनात्,
> उपलक्षणयोगेन, व्यावृत्त्या च प्रदर्शनात,
> वेदगम्यः परः शुद्धः इति मे धीयते मतिः।
> अध्यात्मध्यानसंभूतं, अभूतं भूतवत् स्फुटम्,
> ज्ञानं विद्धि, शुभआचारे !; तेन यांति परां गतिम्।
> यदि मे व्याहृतं गुह्यं, श्रुतं, नो वा, त्वया, शुभे !,
> तथ्यं इति एव वा, शुद्धे !, ज्ञानं, ज्ञानविलोचने !

परमपदार्थ, शुद्ध, परमात्मा वेदगम्य है। श्रुति ने, उस का स्वरूप "न-एनत् (= एतत् " ऐसी व्याहृति से एतत् का विधि-निषेध साथ ही कर के स्वतो-व्याहत संसार के रूप से, एतत् की व्यावृत्ति से, कहा है। इस परम पदार्थ का साक्षात् इंद्रियग्राह्य लिंग या लक्षण मिलता नहीं। निजबोधैकगम्य, स्व-लक्षण, स्व-प्रमाण, स्व-प्रत्यक्ष, स्वयं-सिद्ध है। "विज्ञातारं अरे केन विजानीयात्" ? जानने वाले को किसी दूसर, किसी अन्य लिंग के द्वारा, कैसे जाने ? जानने वाला ही अपने आप को भी, दूसरों को भी, जानता है। दूसरों के द्वारा आप नहीं जाना जाता, प्रत्युत दूसरों के निषेध प्रतिषेध द्वारा जाना जाता है। इस लिये साक्षात् लिंग या लक्षण से नहीं, किंतु वि-वर्त्त रूप, उलटे, वि-रुद्ध, वि-उप-लिंग से,

उप-लक्षण से, जाना जाता है। 'मैं' क्या हूँ ? वनस्पति, मणि, आदि स्थावर उद्भिज हूँ ? नहीं। स्वेदज ? नहीं। अंडज ? नहीं। पिंडज ? नहीं। 'न-इति' 'नेति नेति'। इत्यादि। इस परम पदार्थ, परमात्मा, के बोध से परा गति, परमा शांति, प्राप्त होती है। इस से इस को अचिन्त्य कह के छोड़ नहीं देना चाहिये। यह मै ने तुम से गुह्य, गुप्त, रहस्य बात कही; तुम ने पहिचाना कि नहीं ?

गीता मे भी पुनः पुनः संकेत किया है,

महात्मानः तु मां, पार्थ !, दैवीं प्रकृतिम् आश्रिताः,
भजंति 'अनन्य'-मनसः, ज्ञात्वा भूतादिम् अव्ययम्।
'अनन्याः' चिंतयंतः मां, ये जनाः पर्युपासते,
तेषां नित्याभियुक्तानां, योगक्षेमं वहामि अहं।
'अनन्य'-चेताः सततं यः 'मां' स्मरति नित्यशः,
तस्य 'अहं' सुलभः, पार्थ !, भक्त्या लभ्यस्तु 'अनन्यया'।
भक्त्या तु 'अनन्यया' शक्यः 'अहं एवंविधः, अर्जुन !,
ज्ञातुं, द्रष्टुं च तत्त्वेन, प्रवेष्टुं च, परंतप !
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य, मत्पराः,
'अनन्येन' एव योगेन मां ध्यायंतः उपासते,
तेषां अहं समुद्धर्ता भवामि न चिरात् (ननु)।
'आत्म'-संस्थं मनः कृत्वा, 'न-किंचिद्' अपि चिंतयेत्। (गीता)
व्योम त्यक्त्वा 'मद्'-आरोहः 'न-किंचिद्' अपि चिंतयेत्।
(भाग० ११-१४-४४)

जो महात्मा जीव, मेरी दैवी प्रकृति, अप्रमेय शक्ति, का आसरा कर के, मुझ को सब भूतों महाभूतों का अव्यय अनादि आदि कारण मान कर, 'अनन्य' चित्त हो कर, दूसरे और (अपर) किसी को मन मे न रख कर, मुझे भजते हैं, 'अनन्य' योग से सदा मेरी चिंतना उपासना ध्यान-धारणा करते हैं, मुझ मे, 'मैं' मे, मन का नित्य अभियोग किये रहते हैं, सदा मेरी याद बनाये रहते हैं, मैं उन का योग-क्षेम साधता हूँ, उन का उद्धार करता हूँ (हैं)। अप्राप्त वस्तु का पाना, योग; प्राप्त की रक्षा, क्षेम।

भक्ति पक्ष मे, यह सब मन श्रीकृष्ण के ("बिभ्रद् वपुः सकलसुन्दरसन्निधानं") सकल सौंदर्य के निधिभूत लोकातिशायी शरीर मे ही लगा दी जा सकती है। पर जिन जीवों को इतने से ही संतोष न हो, भक्ति के आनन्द के सिवाय, हेतुयुक्त, युक्तियुक्त, निस्पष्ट ज्ञान की, शांति की, गंभीर बोध के स्थिरता की, भी खोज हो, उन के लिये, ज्ञानपक्ष मे, इन श्लोकों का अर्थ यों लगेगा कि 'मां, अहमं, आत्मानं, अन्-अन्य-मनसः, अहम्—(अनहं =) अन्यत्-न इति अविशिष्ट-शाश्वत-अखंड-एकरस-बोधवन्तः, पर्युपासते, भजंति, भावयंति, अनुभवंति, अर्थात्, जो जन मुझ को, 'मै' को, 'मै' के स्वरूप को, 'मै (से)-अन्य-नहीं', 'मै मै ही', ऐसा जानते हैं, और सदा इसी भाव की भावना चिन्तना करते हैं, उन का इस योगाभ्यास से, उत्तम क्षेम वह 'मै' ही सम्पन्न कर देता है। और भी गीता मे कहा है,

मत्तः परतरं 'न ऽन्यत्' किंचिद् अस्ति, धनंजय !,
मयि सर्वं 'इदं' प्रोतं सूत्रे मणिगणाः इव ।

उपनिषदों मे भी ऐसे ही शब्द कहे हैं,

यत्र न ऽन्यत् पश्यति, न ऽन्यत् शृणोति,
न ऽन्यद् विजानाति, सः भूमा । (छांदोग्य)

न ऽन्यत् आत्मनः ऽपश्यत् । स ईक्षांचक्रे, मत् अन्यत् न अस्ति ।...
अथ अतः आदेशः, नेति नेति, नहि एतस्माद् इति न इति अन्यत् परं अस्ति ।
(बृहदारण्यक)

'अहं' एव सुखं 'न ऽन्यत्', अन्यत् चेत् नैव तत् सुखं ।
(वराहोपनिषत्, २-७)

यावत् न उत्पद्यते सत्या बुद्धिः 'न-एतद्-अहं', यथा,
'न-एतत्-मम' इति विज्ञाय, ज्ञः सर्वं अधितिष्ठते ।
(चरक, शारीर स्थान, १-१५३)

सो'ऽहं एव न मेऽन्यो'ऽस्ति यः एवं अभिमन्यते,
न मन्यते ममऽन्योऽस्ति येन चेतोऽस्मि अचेतनः,

'अहं एव न मेऽन्योऽस्ति न प्रबुद्धवशानुगः ।'[1]

(म० भा० अनु० अ० ११८)

इन सब वाक्यों मे, 'मै' 'यह' (दूसरा, अन्य) 'नहीं'—ये ही शब्द मुख्य हैं ।

योगसूत्र और भाष्य मे, जिन मे बौद्ध दर्शन के बहुत से विचार और सांकेतिक शब्द मिलते हैं, 'सत्त्वपुरुषऽन्यताख्याति' अथवा 'विवेकख्याति' की अवस्था को, काष्ठा को, कैवल्यप्राय कहा है। इस ख्याति का ही रूपांतर धर्ममेघ समाधि है। यह शब्द बौद्ध संप्रदाय का है। सत्त्व (अर्थात् तदुपलक्षित मूलप्रकृति) और पुरुष की परस्पर 'अन्यता' की ख्याति, ज्ञान, यही अखंड एकरस बोध है, 'मैं-यह-नहीं'। 'मै' और 'यह' का जो न-कारात्मक, निषेधात्मक, परस्पर-अन्यता-आत्मक, संबंध है, और 'यह' की परिमितता के हेतु से जो 'क्रम' की अनिवार्यता है, उसी से सब अवांतर नियम कहिये, धर्म कहिये, क़ायदा क़ानून कहिये, संसार की सृष्टि-स्थिति-लय के उत्पन्न होते हैं। (इस की सूचना 'प्रणव की कहानी' मे की गई है)। इसी से "धर्मान् मेहति", संसारनियमान् ज्ञापयति। योगसूत्र, "प्रातिभाद्वा सर्वं", का भी कुछ ऐसा ही आशय जान पड़ता है। 'मै-यह-नहीं (हूँ), आत्मा अपने से अन्य वस्तु अनात्मा नहीं है—सीधी बात है, जिस मे किसी को भी कोई आपत्ति, विरोध, शंका, प्रत्यवस्थान, प्रत्याख्यान, नहीं हो सकता। इतनी सीधी कि त्वरा करने वाले को इस मे कोई विशेष अर्थ ही नहीं देख पड़ेगा। तो भी "अखिलऽर्थद" है, सब अर्थ देने वाली है।

१ या तो प्रतिलिपियों लिखने वालों के प्रमाद और बोधऽभाव से इन श्लोकों के शब्द बदल गये हैं, या व्यास जी ने इस को बुद्धिपूर्वक 'कूट' बनाया है। ऐसा ही एक अद्भुत सूत्र, गौतमीय न्याय-सूत्र मे है, "अन्यत् अन्यस्मात् अनन्यत्वात् अनन्यत् इति अन्यता (ऽ!) भावः" (२-२-३१); वात्स्यायन ने इस का भाष्य तो किया ही है; पर उस से अपने को संतोष नहीं होता; यह भी नहीं निश्चय, कि अक्षर गोतम के ही हैं, या बदल गये; जो कुछ हो, अपने को तो यही अर्थ लगता है कि, 'आत्मा, मैं, अन्य से आत्मेतर से, अन्य है, भिन्न है; अन्-अन्य होने से ही अन्य है, इस रीति से अन्यता का, अर्थात् आत्मेतर पदार्थों का, भाव भी है, अभाव भी'।

योग भाष्य में लिखा है—

न पातालं, न च विवरं गिरीणां,
न एव अंधकारः, कुक्षयः न उदधीनां,
गुहा यस्यां निहितं ब्रह्म शाश्वतं,
बुद्धिवृत्तिं अविशिष्टां कवयः वेदयते ।

वह गुहा जिस में सनातन ब्रह्म छिपा है, पाताल में नहीं है, पर्वतों की कंदराओं में नहीं है, घोर अंधकार में नहीं है, समुद्रों की गहिरी कोखों में नहीं है। वह हृदय-गुहा अविशिष्टा बुद्धि-वृत्ति ही है; 'विशेष'-ज्ञान नहीं है, 'मै-यह-नहीं' (मैं मैं ही, मैं से अन्य किंचित् नहीं), इत्याकारक ज्ञान-'सामान्य' ही है ।

यह 'अविशिष्टा' विशेषहीन बुद्धिवृत्ति वही 'अहं-एतत्-न' रूपिणी संवित् है। सब 'अनहं' पदार्थों का, अनात्मरूपी, एतद् रूपी, दृश्य रूपी, विषय-रूपी, विशेष विशेष असंख्य पदार्थों का, एक साथ ही, सामान्य-वाचक सर्वसंग्राहक 'एतत्' शब्द में संग्रह कर के, 'न' शब्द से निषेध करने वाली, विशेषरहित बुद्धि है ।

पूर्व उद्धृत योगवासिष्ठ के श्लोक की "शाश्वती बुद्धि" यही है। काल से अतीत है। सब काल इस के उदर के भीतर है। जब इस में कोई परिवर्त्तन, कोई परिणाम, कोई अदल बदल होता ही नहीं, तो काल के परे, शाश्वती, हुई ही ।

क्रम-त्रय-समाश्रय-व्यतिकरेण, या संततं
क्रम-त्रितय-लंघनं विदधती, विभाति उच्चकैः,
क्रमैकवपुः अक्रमप्रकृतिः एव, या शोभते,
करोमि हृदि तां अहं भगवतीं परां संविदम् ।

काश्मीर शैव सम्प्रदाय के, जिस के अभिनवगुप्त प्रसिद्ध आचार्य और ग्रंथकर्त्ता हो गये हैं, 'ज्ञानगर्भ' नामक एक ग्रंथ का यह श्लोक है। इस सम्प्रदाय के दर्शन को 'त्रिक' दर्शन भी कहते हैं। इस श्लोक का अर्थ भी इसी अविशिष्टा शाश्वती क्रमऽतीत संवित् के सहारे से ही लग सकता है। भूत-वर्तमान-भविष्य-रूप क्रम-त्रय का धारण और उलट पुलट कर के भी जो सदा तीनों क्रमों का लंघन करती हुई, क्रमरहित, अखंड निश्चल सदा वर्तमानस्वरूप शोभती है, जिस की प्रकृति, स्वभाव, वास्तविक रूप अ-क्रम है, क्रमऽभाव है, पर जिस का बाह्यरूप,

आद्य वपु, शरीर, क्रम ही है, ऐसी परा संविद्‌रूपिणी भगवती का मैं हृदय में ध्यान आवाहन धारण करता हूँ। "अक्रमप्रकृतिः" एकरस, अखंड, अत एव क्रमहीन स्वभाव वाली वही संवित्, परमात्मा है। पर उस का शरीर, उस का वपु, उस का आविर्भाव-तिरोभाव, आविष्कार तिरोधान, व्यंजन, व्यक्तीकरण, उस का विअंजक अंग, हाथ-पैर, यह क्रममय संसार ही है।

न नाकपृष्ठे, न महेंद्रधिष्ण्ये, रसातले नैव, न नागलोके,
न पर्वताग्रे, न समुद्रगर्त्ते, न चाऽष्टसिद्धिषु; अनिदं हि मोक्षः।
न मोक्षो नभसः पृष्ठे, न पाताले, न भूतले,
सर्वाशासंक्षये चेतःक्षयः मोक्षः इति श्रुतेः।

इत्यादि श्लोकों का भी संकेत यही है। स्वर्ग की पीठ पर, महेंद्र के महल में, भूतल में, पाताल में, रसातल में, नागलोक में, पर्वत के ऊँचे शिखर पर, समुद्र के गहिरे गर्त्त में, आठ सिद्धियों में भी, मोक्ष नहीं है। 'आत्मा अनिदम्' 'मैं-यह-नहीं'—यह पहिचानना ही मोक्ष है। क्रमात्मक, भेदभ्रमात्मक, चित्त में, चेतस में, क्रमात्मक आशा इच्छा का क्षय हो जाना; निष्क्रमता का, निष्क्रियता का, बोध हो जाना; क्रमात्मक ज्ञान–इच्छा–क्रिया सब भ्रम है, ऐसा बोध हो कर चित्त का क्षय हो जाना अहंकारात्मक आशा, इच्छा, आरम्भ, कर्तृस्वभाव, आदि का बंद हो जाना; अभेद भाव का, अर्थात् जो कुछ है सब एक परमात्मा की प्रकृति ही है, इस भाव का, उदय होना—यही मोक्ष है।

उत्तम पुरुष

ऊपर कहा कि 'अस्ति ब्रह्म', 'ब्रह्म है', यह ज्ञान परोक्ष ही है। इस से संतोष नहीं होगा। 'अस्मि ब्रह्म', 'ब्रह्म हूँ', यह ज्ञान अपरोक्ष है; संतोष देगा। 'आत्मा-अनात्मा-नहीं'। बात ठीक है, पर अपने से दूर है। इस वाक्य का अनुवाद, प्रथम पुरुष से उत्तम पुरुष के शब्दों में करना होगा। जब तक प्रथम पुरुष का प्रयोग होता है तब तक अर्थ दूर रहता है। अपने पास नहीं आता। अपने गले के नीचे नहीं उतरता। अपनी देह में उस का रस नहीं भीनता। 'वह' 'तत्' अपने से, 'मैं' से, दूर है, समझ में नहीं आता। किसी सूफ़ी ने कहा है,

ग़ायब जो हो ख़ुदा से, आलम है उस को 'हू' का:
अनानियत है जिस मे, मौक़ा नहीं है 'तू' का।

जो जीव, जो रूह, ख़ुदा से, आत्मा से, ग़ायब हो, ओट मे हो, आड़ मे, पर्दे मे हो, छिपी हो, दूर हो, जिस मे परायापन, ग़ैरियत, नफ़सानियत हो, जिस से ख़ुदा परमात्मा छिपा हो, उस के लिए 'हू', 'वह', 'तत्' शब्द का कहना, प्रथम पुरुष का, सीग़े-ग़ायब का, प्रयोग करना, ठीक है, उचित है। पर जिस मे 'अनानियत', 'अपनापन', 'मै-पन', 'आत्मता' उत्पन्न हो गई है, जिस मे यह बोध जाग गया है कि 'मै' ही परमात्मा 'हूँ', उसके लिये 'तू' कहने का भी अवसर नहीं है, मध्यम पुरुष, 'तत् त्वं' भी दूर पड़ता है, 'वह' प्रथम पुरुष तो 'ग़ायब' ही हो गया, 'मै' ही 'मै' रह गया। सीग़ै ग़ायब व सीग़ै हाज़िर या मुख़ातिब दोनो ग़ायब हो कर सीग़ै मुतकल्लिम ही रह गया। प्रथम पुरुष और मध्यम पुरुष दोनो उत्तम मे लीन हो गये।

दूसरे सूफ़ी ने इसी अर्थ को, कोमल भी और प्रौढ़ भी विनोद के साथ, उत्तमता से कहा है,

ज़ाहिदे गुमराह के मै किस तरह हमराह हूँ;
वह कहै अल्लाह है, औ मै कहूँ अल्लाह हूँ।

क़ुरान मे भी कहा है,

इन्नि अनल्लाहु ला इलाहा इल्ला अना।

जिस का अक्षरशः अनुवाद यह पूर्वोक्त भागवत का श्लोकार्ध है,

अहम् एव न मत्तः ऽन्यत्।

बाइबल् मे भी अक्षरशः यही कहा है,

"आइ, ईवन् आइ, ऐम् दी लार्ड, ऐंड बिसाइड् मी देयर इज़ नो सेवियर। ...आइ ऐम् गाड, ऐंड देयर इज़ नन् एल्स।" (इशाया, अ० ४३, ४४, ४६)[१]

---

१ I, even I, am the Lord, and beside me there is no Saviour. I am God, and there is None Else: *Bible*, Isaiah, chs. 43,44,46. 'सेवियर' शब्द का अर्थ है रक्षक; बाइबल् के इस वाक्य का वही अर्थ है जो गीता मे, उपनिषदों मे, बुद्धदेव के उपदेशों मे, पुनः पुनः कहा है, कि आत्मा,

'मैं', 'अना', 'आइ'; 'अन्यत्', 'इल्ला', 'एल्स'; 'न', 'ला', 'नो'। 'मै' के सिवा कोई दूसरा खुदा, गाड्, नहीं है, मै के सिवा और (अपर, अन्य) कुछ, नहीं (हूँ और है)।

गीता मे कहा है,

द्वौ इमौ पुरुषौ लोके, क्षरः च अक्षरः एव च;
क्षरः सर्वाणि भूतानि, कूटस्थः अक्षरः उच्यते।
उत्तमः पुरुषः तु अन्यः, परमात्मा इति उदाहृतः,
यः लोकत्रयं आविश्य बिभर्त्ति अव्ययः ईश्वरः।
यस्मात् क्षरं अतीतः ऽहं, अक्षरात् अपि च उत्तमः,
अतः अस्मि लोके, वेदे च, प्रथितः 'पुरुषोत्तमः'।

विष्णु पुराण मे कहा है,

विष्णोः स्वरूपात् परतः हि, तेऽन्ये रूपे, प्रधानं पुरुषश्च, विप्र!

क्षर, अर्थात् प्रकृति की सब नश्वर विकृतियाँ, 'नाना' रूप, प्रतिक्षण परिणामी, परिवर्त्ती, सक्रिय, संसरमाण, अस्थिर; तथा अक्षर, अर्थात् सदा स्थिर, निष्क्रिय, कूटस्थ, अविकारी, एकरूप, प्रत्यग्-आत्मा, अनादिप्रवाहवती प्रकृति से प्रत्यक् उलटे खींचा हुआ, प्रत्याहृत, अलगाया हुआ, उस का प्रतिद्वन्द्वी, विरोधी; इन दोनों से अतीत और उत्तम। क्षर से तो अतीत, स्पष्ट ही; अक्षर से भी उत्तम, अर्थात्, शून्यवत् 'केवल' नहीं, अहम्मात्र नहीं, प्रत्युत समस्त क्षरों को अपने भीतर ले कर निषेधता हुआ, अक्षर, 'एतत्-न' कहता हुआ 'अहं' 'केवल'; मूलप्रकृति और प्रत्यगात्मा का समाहार, परमात्मा। 'एतत्' हुआ 'क्षर', प्रकृति। 'अहं' हुआ कूटस्थ, 'अक्षर', प्रत्यगात्मा। 'एतत् न' ऐसा समझता बूझता (सम्बुध्य-मान, बुध्यमान) 'अहं', 'अहं'-एतत्-न' इति संपूर्ण-संवित्-स्वरूप 'अहं' जो है, वही परमात्मा पुरुषोत्तम है। बिना इस उत्तम पुरुष 'मैं' की, पुरुषोत्तम की, शरण लिये, बिना मैं मे पुरुषोत्तम की भावना किये, बिना अपने को पुरुषोत्तम

'मैं', ही, रक्षक है, योगक्षेम का सम्पादक है, सब शोकों से मोक्ष देने वाला है, सब देवताओं का देव है।

असुमेह पूछे, गति नहीं। प्रथम पुरुष से, मध्यम पुरुष से, 'वह' से, 'तुम' से, काम नहीं चलने का। 'मैं' को सर्वोत्तम, सर्वश्रेष्ठ, सर्वप्रेष्ठ कर के पहिचानना (प्रत्यभिज्ञान करना) होगा। तभी कल्याण होगा, भय जायगा, अमरता मिलेगी, अर्थात् यह स्मृति लब्ध होगी, याद आ जायगी, कि 'मैं' तो सदा अमर है ही, हूँ ही। "ब्रह्मैव सन् ब्रह्म भवति"। सूफ़ियों ने भी कहा है, "अल्आना कमा काना", 'मैं जो हमेशा था सो अब भी हूँ'। सूफियों की इस्तिलाह अर्थात् सांकेतिक शब्दों में, परमात्मा को ऐनि-मुत्लक़ या ख़ुदा-इ-मुत्लक़, प्रत्यगात्मा को ऐनि-मुजर्रद या ख़ुदा-इ-मुजर्रद, और जीवात्मा को ऐनि-मुअय्यन कहेंगे। अहदियत, वहदियत, और वाहिदियत—ये नाम भी, इन तीन के, सिल्सिलेवार, कहे जाते हैं। अंग्रेज़ी में, इन्हीं को क्रमशः, 'यूनिवर्सल् सेल्फ़', 'ऐब्स्ट्रैक्ट सेल्फ़', और 'इंडिविजुअल् सेल्फ़', कहेंगे। अरबी में, (१) 'ला बशर्ति शै', (२) 'बशर्ति ला शै', (३) 'बशर्ति शै'; संस्कृत में, (१) अनिर्देश्य, (२) न इदम् इति निर्देश्य, (३) इदम् इति निर्देश्य; अंग्रेज़ी में, (१) ट्रान्सेंडेंट, या 'ऐब्सोल्युट, (२) 'अन्-कन्डिशंड' या 'अन्-लिमिटेड', (३) 'कंडिशंड', 'लिमिटेड', 'रेलेटिव', भी; ये ही तीन भाव हैं।

अनंत-द्वंद्व-विरोध-परिहार।

सब द्वं-द्वं, दो-दो, जोड़ा-जोड़ा के असंख्य, अनंत, विरोध, इस संवित् के भीतर हैं। सब का समन्वय, मेल, समझौता, वैर-परिहार, सब आश्चर्य भी, इस के भीतर है।

यस्मिन् विरुद्ध-गतयः हि, अनिशं पतंति,
विद्यादयः, विविधशक्तयः, आनुपूर्व्या,
तत् ब्रह्म विश्वभवं एकं अनंतं आद्यं,
आनंदमात्रं अविकारं अहं प्रपद्ये। (भागवत, ४-९-१६)
सर्वाहि यः अस्य अनुरुणद्धि शक्तिभिः,
द्रव्य-क्रिया-कारक-चेतनादिभिः,
तस्मै समुन्नद्ध-विरुद्ध-शक्तये

नमः परस्मै पुरुषाय वेधसे। (४-१७-२८)

दूरे विपरीते विषूची अविद्या या च विद्या ज्ञाता, (कठ० २-४)

सृजी विधकमे विष्वङ् सऽशनऽनशने उभे,

यत् अविद्या च विद्या च, पुरुषः तु उभयाश्रयः। (२-६-२०)

'मैं-यह' = अविद्या, और '(मैं) यह-नहीं' = विद्या, दोनो अत्यन्त विरुद्ध भाव इस संवित् मे प्रत्यक्ष ही है। अव्यक्तऽवस्था मे दोनो साथ हैं, युगपत् हैं। व्यक्तऽवस्था मे क्रमशः, आनुपूर्व्या, पूर्व के अनु पीछे, अपर। अविद्या और विद्या, इन दो विरुद्ध शक्तियों के अवांतर भेद, सुखद दुःखद, जीवक मारक, विकासक संकोचक, उत्कर्षक पालक, पोषक नाशक, इत्यादि विरुद्ध गति वाली विविध शक्तियों के रूप मे जो हैं, वे सब भी अवश्य ही इस के भीतर हैं।

जब ये दोनों परम विरुद्ध 'मैं' और 'न-मैं' (= यह), 'हूँ' और 'नहीं (हूँ)', इस के भीतर आ गये, तो कौन विरोधी जोड़ा बाहर रह सकता है? अव्यक्त मे दोनो साथ, प्रत्यक्ष ही हैं। व्यक्त मे आनुपूर्व्या, क्रमेण, भी प्रत्यक्ष ही हैं। यही विरोध का परिहार समाहार है। संपूर्ण द्रष्टा, युगपत् निष्क्रिय अव्यक्त; खंड-दृश्या, क्रमशः सक्रिय व्यज्यमान व्यक्त। मन मे हां नहीं एक साथ; मुँह से एक बेर हां, दूसरी बेर नहीं। 'अहं-एतत्', 'मैं-यह', यह आदिम पहिला जोड़ा, पुरुष-प्रकृति का, पुमान्-योषिता का; विरुद्ध भी और अन्योऽन्यऽध्यास से समान भी, विदृश भी, सदृश भी। जैसे दर्पण की मूर्ति और मूल, प्रतिबिम्ब और बिंब, वाम-दक्षिण।

एकाकी नऽरमत, आत्मानं द्वेधाऽपातयत्, ततः पतिश्च पत्नी चऽभवतां (बृह०)

अकेले वह नहीं रमा, तब अपने को उसने दो कर डाला, पति और पत्नी हो गया।

एतं संयद्वाम इति आचक्षते, एतं सर्वाणि वामानि (विरुद्धानि, द्वंद्वानि) आभिसंयन्ति, एष उ वामनीः, एष हि सर्वाणि वामानि नयति, एष उ भामनीः एष सर्वेषु लोकेषु भाति। (छां०)

इस का नाम 'संयद्वाम' है। सब वाम, विरुद्ध, पदार्थ इस के भीतर बैठे हैं।

तत् एजति, तत् न एजति, तद् दूरे, तत् उ अंतिके,

तत् अंतः अस्य सर्वस्य, तत् उ सर्वस्य अस्य बाह्यतः। (ईश०)

वह चलता भी है, नहीं भी चलता है, दूर भी है, पास भी, सब के भीतर, सब के बाहर।

अणोःअणीयान् महतः महीयान्।
आसीनः दूरं व्रजति, शयानः याति सर्वतः,
कः तं मदामदं देवं मदन्यः ज्ञातुम् अर्हति ? (कठ)

छोटे से छोटा, बड़े से बड़ा; ठहरा हुआ भी दूर दूर चल रहा है; सोया हुआ भी सब जगह घूम रहा है। इस 'मैं' और 'न-मैं' (=अनात्मा, एतत्) दोनो को अपने भीतर रखने वाले देव को 'मैं' से 'अन्य', मैं के सिवाय दूसरा, कौन जान सकता है ?

अस्थूलः अनणुः, मध्यमः अमध्यमः, व्यापकः अव्यापकः, हरिः आदिः अनादिः अविश्वः विश्वः, निर्गुणः सगुणः इति। तुरीयं अतुरीयं, आत्मानं अनात्मानं, उग्रं अनुग्रं, वीरं अवीरं, महान्तं अमहान्तं, विष्णुं अविष्णुं, चलंतं अचलंतं, सर्वतोमुखं असर्वतोमुखं, इति। (नृसिंहतापनी उप०)

गर्भीकृतमहाकल्पः निमेषः असौ उदाहृतः;
आक्रान्तकल्पेनऽनेन न संत्यक्ता निमेषता;
अकुर्वन् एव संसाररचनां कर्तृतां गतः;
कुर्वन् एव महाकर्म, न करोति एव किंचन।

(योग वा०, नि-प्र०, पूर्वार्ध अ० ३६)

न स्थूल है, न अणु; मध्यम भी है और आगे पीछे भी; व्यापक भी है और परिमित भी; आदि भी और अनादि भी; विश्व भी और अविश्व भी; निर्गुण भी सगुण भी; जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति से परे भी, और उन मे अनुस्यूत भी; आत्मा भी अनात्मा भी; उग्र भी नम्र भी; वीर भी भीरु भी; बड़ा भी छोटा भी; विष्णु भी, सब मे व्याप्त, सब को सीये हुए, बांधे हुए, 'वि-सिनोति', और अ-विष्णु भी; चलता भी स्थिर भी, अनादि अनंत प्रवाह से बहता हुआ भी और कूटस्थ स्थिर भी; सब ओर देखता भी, सब से मुँह फेरे भी—सिवा 'मैं' के और कौन ऐसा सर्व-शक्ति-शाली विरुद्ध-शक्ति-वाला है, जो आत्मघात भी कर सकता और करता है, और आत्मधारण आत्मोज्जीवन भी। यह मैं ही ऐसा निमेष है जिस के

भीतर महाकल्प भरा पड़ा है, जो चुप पड़ा है पर सब संसारस्वप्न की रचना कर रहा है।

बौद्ध दार्शनिकों ने भी यही बातें कही हैं,

न स्वतः, नऽपि परतः, न द्वाभ्यां, नऽपि अहेतुना,
उत्पन्नाः जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन।
(शांतिदेव, बोधिचर्यावतार)

अनिरोधं, अनुत्पादं, अनुच्छेदं, अशाश्वतं,
अनेकऽर्थं, अनानार्थं, अनागमं, अनिर्गमं।
(नागार्जुन, माध्यमिक-कारिका)

जैन स्याद्वादियों का प्रसिद्ध सप्तभंगी-न्याय भी यही चीज़ है, स्याद् अस्ति, स्यात् न अस्ति, स्यात् अस्ति च नऽस्ति च, स्यात् अवक्तव्यः, स्यात् अस्ति च ऽवक्तव्यः, स्यात् नऽस्ति चऽवक्तव्यः स्यादस्ति च नऽस्ति चऽवक्तव्यः। वेदान्त का 'अनिर्वचनीय' ही जैनी 'अवक्तव्य' है।

यदि जिज्ञासु ने, जैसा ऊपर कहा, प्रथम पुरुष का अनुवाद उत्तम पुरुष के शब्दों मे कर लिया है, तो उस को प्रत्यक्ष ही सब विरोध और सब का परिहार अपने भीतर अनुभूत होगा। 'मै यह हूँ', थोड़ी देर पीछे 'मै यह नहीं हूँ'। जिस वस्तु से पहिले राग करता हूँ, उसी से पीछे द्वेष करता हूँ। जिस पर काम करता हूँ उसी पर क्रोध। जिस मे सुख मानता हूँ, उसी मे दुःख। पहिले हाँ कहता हूँ, फिर नहीं। पहिले जागरण, फिर निद्रा। पहिले जन्म, फिर मरण। पहिले बंध, फिर मोक्ष। विकास, संकोच। ईहा, उपरम। व्युत्थान, निरोध। सृष्टि, लय। संचर, प्रतिसंचर। आरोह, अवारोह। उपचय, अपचय। वृद्धि, क्षय। संयोग, वियोग। इत्यादि अनंत, द्वंद्व। राग के बाद द्वेष होना, प्रवृत्ति के बाद निवृत्ति होना, आवश्यक इस लिये है कि 'मै' तत्त्वतः, वस्तुतः सचमुच, 'अ-मै', 'न-मैं', 'अनहं', 'अनात्मा' तो है नहीं। इस लिये 'मै-यह' रूपी राग, आभासमात्र, स्वयं विशीर्ण हो जाता है, और द्वेष के, वैराग्य के, रूप मे परिणत होता है।

द्वंद्वों का समन्वय क्या है? इन का पुनः पुनः अभ्यास, फिर फिर

अनंत बार होना। पुनरपि जननं पुनरपि मरणं। प्रवृत्ति और निवृत्ति की अनुवृत्ति। एक यह 'ही' नहीं, किंतु यह 'भी' और इस का उलटा 'भी'।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नऽनुवर्तयति इह यः,
अघायुः इंद्रियारामः, मोघं, पार्थ !, सः जीवति। (गीता)

इस अनवरत अनादि अनंत पौनःपुन्य का ही प्रत्यक्ष स्वरूप, संसार का, ससरण का, जंगम जगत् का, चक्र है। (रेखागणित का) वृत्त, गोल, चक्र, प्रत्यक्ष ही अनादि, अनन्त, अनवरत, अखण्ड हैं। और संसार की सब गति चक्रवत् भ्रमण है, भ्रम है। निष्क्रिय पदार्थ का सक्रिय भासना, भ्रमना, भ्रम ही है, आभास ही, मिथ्या ही, धोखा ही, माया ही, है। पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य, सब ग्रह, तारा, विविध प्रकार से चक्कर खा रहे हैं, गोल घूम रहे हैं, भ्रम रहे हैं, भ्रमण कर रहे हैं। दिन-रात, षड् ऋतु, उत्तरायण-दक्षिणायन, यौवन जरा, स्वास्थ्य-रोग, सभी।

सुखस्य ऽनंतरं दुःखं, दुःखस्य ऽनंतरं सुखं।
जातस्य हि ध्रुवः मृत्युः, ध्रुवं जन्म मृतस्य च। इत्यादि।

सारा पुराण इतिहास, जितने शास्त्र हैं, उन सब के विचारणीय विषयभूत द्रव्यों और भावों का इतिहास, इसी भ्रम का, इसी चक्र का, उदाहरण है। इसी से कहा है कि,

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।

जैसे एक व्यक्ति का जन्म, वृद्धि, क्षय, मरण होता है, वैसे ही एक कुल का, एक वंश का, एक गोत्र का, एक जाति का, एक समुदाय का, एक समाज का, एक राष्ट्र का, एक महाराष्ट्र का। और भी। बहुत सी छोटी छोटी जातियाँ मिल कर एक महा-जाति बन जाती है; फिर महाजाति बिखर कर बहुत सी छोटी छोटी जातियाँ छिन्न भिन्न हो जाती हैं; बहुत से छोटे छोटे राज्य एक में मिल कर एक साम्राज्य बन जाता है; फिर वह बिगड़ कर, छोटे छोटे राज्य हो जाते हैं। एक से अनेक, अनेक से एक। यथा भारतवर्ष के इतिहास में युधिष्ठिर से पहिले और पीछे; चंद्रगुप्त और अशोक से पहिले और पीछे; हर्षवर्धन से पहिले और पीछे; समुद्रगुप्त से पहिले और पीछे; मुगल राजाओं से पहिले और पीछे; तथा पश्चिम में, पारसीक, मिश्रदेशीय, ग्रीस, रोम, मक्दूनिया (सिकन्दर) आदि के साम्राज्य

के पहिले और पीछे। बीज से वृक्ष, वृक्ष से बीज। एक से अनेक, अनेक से एक। जो कथा एक मानव व्यक्ति, ना कुल, समाज, आदि की, वही कथा ब्रह्म के अंडों, ब्रह्माण्डों, पृथ्वी, चंद्रमा, मंगल, बुध, बृहस्पति, आदि ग्रहों, सूर्य, अगस्त्य, सप्तर्षि आदि तारों, तथा सौरसंप्रदायों, और अनंतानंत ऋक्षों और ऋक्षसंप्रदायों और ब्रह्मांडसमूहों, विराटों और महाविराटों, की है।

यदा भूतपृथग्भावं एकस्थं अनुपश्यति,
ततः एव च विस्तारं, ब्रह्म सम्पद्यते सदा। (गीता)

यह सब आवागमन की अनादि अनंत परम्परा, खंड दृष्टि से, व्यवहार दृष्टि से, 'मैं-यह' और 'यह-नहीं' के दो टुकड़ों की अलग-अलग दृष्टि से, क्रम-मय प्रतीत होती है। जभी इस से चित्त खिन्न होता है, जभी यह आवागमन उस को असह्य भार सा जान पड़ने लगता है, जभी वह इस से घबराता है, तभी उस चित्त के पीछे जो द्रष्टा है, चित् है, प्रत्यगात्मा परमात्मा है, (जिस मे असंख्य चित्त, चेतित यह', 'जीवात्मा', मन, अंतःकरण, भरे पड़े हैं, वह, सम्पूर्ण दृष्टि से, परमार्थ दृष्टि से, 'मैं-यह-नहीं (हूँ)' की एकरस एकाकार निर्विशेष दृष्टि से, इस सब अनंत चक्र और भ्रम को अपने भीतर बंद, समाप्त, लीन, शांत, देखता है। "शेते च सर्वम् आपीय", सब को पी कर सोता है।

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः,
तस्मात् पराङ् पश्यति, न ऽन्तरात्मन्;
कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानं ऐक्षत्
आवृत्तचक्षुः अमृतत्वं इच्छन्। (कठ उप०)

स्वयंभू ने, आत्मा ने, अपने लिये जो इन्द्रियाँ बनाईं, उन को बाहर की ओर फोड़ निकाला; इस लिये बाहर की ओर, पराक् वस्तु को, अपने से अन्य और बाह्य माने हुए दृश्य को, देखता हैं। जब थक कर, धीर हो कर, भीतर की ओर आँख फेरता है, तब अपने को, प्रत्यक् वस्तु को, आत्मा को, देखता है।

संसार की किसी वस्तु के बृहत् परिमाण से ही जीव को भयभीत नहीं होना चाहिये। दीर्घ विचार से इस को स्थिर करना चाहिये कि संसार की छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी वस्तु, जो कुछ भी दृश्य है, विषय है, अथवा सुख और

दुःख के असंख्य प्रकारों का अनुभव है—सभी चित्त की, अंतःकरण की, वृत्तियाँ ही हैं। बात प्रत्यक्ष है।

यदि आप कहते हो 'एक घंटा', तो अवश्य एक घंटा का जो कुछ अर्थ है, इतना काल, इतना समय, वह आप के चित्त मे है, आप की चित्त की वृत्ति है, आप का चित्त तदाकार हो रहा है। यदि 'एक वर्ष', तो भी वही दशा है। यदि 'दस वर्ष', तो भी। यदि 'सौ वर्ष'—तो क्या अब आप को संदेह होने लगा? मेरी आयु तो इतनी नहीं है, मेरे चित्त के भीतर सौ वर्ष कैसे आ सकता है! और जब लाख या कोटि वर्ष की चर्चा की तब तो यह संदेह बहुत दृढ़ हो जाता है। तो क्या जब आप 'सौ या लाख या कोटि वर्ष' कहते हो, तो ये शब्द आप के मुँह मे अर्थ-रहित हैं? ऐसा नहीं। सऽर्थ हैं। यही कथा, जो काल के परिमाण की है, वही देश के परिमाण की भी है, यथा एक हाथ, एक कोस, एक योजन, एक सहस्र वा लाख वा कोटि योजन। एक कोस, एक योजन आदि, सभी आप के शरीर के परिमाण से अधिक हैं, पर ये शब्द आप के मन मे बहुत ही सऽर्थ हैं। शरीर के कालकृत देशकृत अवच्छेद मे, और चित्त की वृत्ति मे, समानता सदृशता नहीं। अथवा, समदर्शिता के नियम से समानता ही चाहिये, तो समानता भी आप को मिल सकती है। यह जो खगोल का अर्ध आप चर्म के चक्षु से देखते हो, यह तो विस्तार मे अनंत कोटि योजन है; इस मे अनंत कोटि ब्रह्मांड, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी नक्षत्र, तारा, भरे पड़े हैं; पर सब का सब, आप की आँख के एक अति सूक्ष्म भाग पर प्रतिबिंबित हो जाता है। छोटे से छोटे दर्पण मे भी। तो फिर चित्त मे क्यों नहीं। प्रत्यक्ष ही चित्त, मन, अंतःकरण, जीव भी, आत्मा के अभ्यास से "अणोः अणीयान् महतः महीयान्" है। जब जीव, कोटि वर्ष या कोटि योजन का ध्यान करता है, तो यह सब उस के भीतर आ जाता है। जीव उस से बड़ा हो जाता है। छोटे पदार्थ के लिये छोटा हो जाता है। छोटा, बड़ा, दूर, पास, यह सब ही चित्त के भाव हैं, वृत्तियाँ हैं।

योग-वासिष्ठ मे कहा ही है,

इमे समुद्राः, गिरयः, ब्रह्मांडानि, जगन्ति हि,

मम अंतःकरणस्य एव खंडाः बहिः इव स्थिताः ।

ये पर्वत, समुद्र, ब्रह्मांड, जगत्, घूमते चक्कर खाते सौर सम्प्रदाय, ये सब, मेरे अंतःकरण के ही खंड हैं, मानो बाहर हो गये हैं; यह मानना भी मेरे अंतःकरण का ही कार्य है। तथा सभी सुख दुःख। इस को दृढ़ रूप से निश्चय कर लेने पर यह बात स्पष्ट हो जायगी कि यह सब संसार, आत्मा की लीलामात्र है, नाटक है; सुख को भी दुःख को भी आत्मा अपने ऊपर अध्यारोप करता है; दुःख मे भी नाटक के रौद्र भयानक बीभत्स करुण आदि रसों का इच्छापूर्वक आस्वादन करता है, सुख मे भी शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत आदि का, और सर्वोपरि शांत का। क्योंकि संपूर्णदृष्टि से यह सब लीला, महाशिलासद्यावत्, निश्चल है, निष्क्रिय है। एक महाशिला में, अनंत मूर्तियां, एक साथ, अव्यक्त भरी पड़ी हैं; उन का उत्किरण क्रम से हो सकता है।

समदर्शिता का अर्थ यही है कि जो ही नियम, जो ही अन्योऽन्यभाव, जो ही अनुपात या निष्पत्ति, छोटे के जीवन का नियमन करते हैं वे ही बड़े का। "यथा पिंडे, तथा ब्रह्मांडे"। यदि गुणन अनंत है तो भाजन भी। यदि महत्त्व, गुरुत्व, विशालत्व का अंत नहीं, तो अणुत्व, लघुत्व, अल्पत्व का भी अंत नहीं।

विद्या-विनय-संपन्ने ब्राह्मणे, गवि, हस्तिनि,
शुनि च एव, श्वपाके च, पंडिताः समदर्शिनः। (गीता)

प्रत्यक्ष है कि इस का अर्थ यह तो हो ही नहीं सकता कि हाथी और चींटी के परिमाण बराबर हैं, और सड़क पर चलने के लिये दोनो को तुल्य परिमाण का ही अवकाश मिलना चाहिये। इस का अर्थ यही है कि आत्मा के नियम, जनन मरण के, सुख दुःख के, जो एक में देख पड़ते हैं, वे ही दूसरे में भी।

यावान् अयं वै पुरुषः, यावत्या संस्थया मितः,
तावान् असौ अपि महापुरुषः लोकसंस्थया। (भागवत)

जैसे एक पुरुष के शरीर में अंगों का संस्थान है उसी के समान महाविराट् पुरुष के शरीर में विविध लोकों का संस्थान है। जैसे एक की उत्पत्ति, स्थिति, लय, वैसे दूसरे की। इतिहास में, पुराण में, महाकाव्य में, हज़ारों लाखों वर्ष के क्रमिक इतिवृत्त एक साथ ही लिखे पड़े हैं। उन के लिखने वाले महा कवि के चित्त में, स्मृति

मे, भी, सब उदंत एक साथ ही भरे हैं; अव्यक्त रूप से। लिखने या पढ़ने वाला लिखने या पढ़ने लगे, तो एक एक को क्रम से ही लिखे पढ़ेगा। लिखना पढ़ना बंद कर दे, तो फिर ज्यों की त्यों निष्क्रमता और अव्यक्तता हो जाती है। यह भी परिमित दृष्टि से ही, निष्क्रमता और सक्रमता में क्रमिकता (अर्थात् निष्क्रमता के बाद सक्रमता, और सक्रमता के बाद निष्क्रमता) देख पड़ती है। अपरिमित दृष्टि से दोनो, अव्यक्तावस्था, कारणावस्था, प्रसुप्तावस्था, निष्क्रमता, और व्यक्तावस्था, कार्यावस्था, जागरावस्था, सक्रमता, सब एक साथ हैं। सूफ़ियों के संकेत मे, अव्यक्त को निहाँ, (तिरोभूत, छिपा), बातिन (भीतरी), खुफ़्ता (सुप्त) कहते हैं, और व्यक्त को अयाँ (प्रकट, आविर्भूत), ज़ाहिर (बाहरी), बेदार (जागता)। 'लहो' शब्द अरबी का है, इस का अर्थ लीला, नाटक, खेल है; अलिफ़ लगाने से महत्व का अर्थ उत्पन्न होता है, जैसे "किब्र" का अर्थ बड़ा, तो अक्बर का अर्थ सब से बड़ा; इसी तरह 'लहो' का अर्थ लीला, तो 'अल्लाह' का अर्थ सब से बड़ा लीला करने वाला। अध्यारोप-अपवाद को तश्बीह-तन्ज़ीह, निर्गुण-ब्रह्म को ज़ाति ला-सिफ़ात, सगुण को ज़ाति-बा-सिफ़ात, सत्-चिद्-आनंद को वुजूद-नूर-शुहूद, नेति अथवा निषेध को इस्क़ातुल-इशारत, सूफ़ियों की इस्तिलाह मे कहते हैं। उपनिषदों मे जगद्रचयिता के लिये, इसी आशय से, 'पुराण कवि' आदि नाम मिलते हैं।

यः स्वात्मनि इदं निजमायया ऽर्पितं, क्वचिद् विभातं, क्व च तत् तिरोहितं,
अविद्धदृक् साक्षी उभयं तद् ईक्षते, स आत्ममूलः अवतु मां परात् परः। (भा०)

यह परम मायावी लीलाशील परमात्मा 'मैं', अपने स्व-भाव रूप संसार की व्यक्तावस्था और अव्यक्तावस्था दोनो का, विभात दशा और तिरोहित दशा दोनो का, अविद्धदृक्, अव्याहत अनवरत दृष्टि से, अपने भीतर ही, एक साथ ही अनुभव करता है।

विरोधी द्वंद्वों से संसार बना है, इस बात को क़ुरान ने भी पहिचाना है।

मिन् ख़लक़्ना कुल्ले शयीन् ज़ौजैन्।

'मैं' ने, परमात्मा ने, अल्ला ख़ुदा ने, सब चीज़ जोड़ा जोड़ा पैदा की हैं। (अरबी मे अल्ला के कई नाम भी ऐसे ही विरुद्ध-शक्ति-द्योतक जोड़ा-जोड़ा कहे

हैं, जैसे रहमान-जब्बार अर्थात् शंकर-रुद्र, हई-मुमीत अर्थात् पालक-संहारक, मुज़िल-हादी अर्थात् मायी-तारक, बंधदाता-मोक्षदाता, वग़ैरह)। और ये विरोधी एक दूसरे का नाश कर देते हैं, जैसे जोड़-घटाव, संकलन-व्यवकलन, गुणन-विभाजन, लहना-देना; और फल सदा शून्य, 'खं', सिफ़र, ज़ीरो, रह जाता है, जो परमात्मा का, ब्रह्म का, 'मैं' का, स्वरूप है। महाजन का कारखाना बड़ा भारी है, ला-इंतिहा है, अनंत है, अनगिनत आदमियों से अनगिनत पाना चुकाना है; पर जितना ही सब लहना है उतना ही सब देना है; दोनो का मीज़ान बराबर है। असली पूंजी 'कुछ-नहीं' है, 'अ-किंचित्', 'एतन्-न', माया है। और जितने लहनेदार और देनदार हैं, वे सब भी 'मेरे' ही रूपांतर हैं, 'मैं' ही हैं!

विद्यां च अविद्यां च, यः तद् वेद उभयं स ह,
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा, विद्यया ऽमृतं अश्नुते।
संभूतिं च विनाशं च, यस्तद्वेदोभयं सह,
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा, संभूत्याऽमृतमश्नुते। (ईशोप०)

अविद्या को और विद्या को, दोनो को, जो एक साथ (सह) जानै, वह (सः ह) अमृत का स्वाद ले, अमर हो। 'मैं-यह (शरीर हूँ)', यही अविद्या। अनित्य, अशुचि, दुःखमय अनात्मा को, हाड़ मास के पिंड को, 'यह' को, नित्य, शुचि, सुखमय निराकार आत्मा, 'मैं', मान लेना—यही अविद्या है; "अनित्यऽशुचिदुःखऽनात्मसु नित्यशुचिसुखऽात्मख्यातिः अविद्या (योगसूत्र)। 'मैं-(यह नहीं हूँ)', यही विद्या। "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानं", "स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिः", (योगसूत्र); अपने स्व-रूप मे प्रतिस्थित, प्रतिष्ठित, दृढ़ रूप से स्थित, द्रष्टा, चेतना, चिति शक्ति, 'यह-नहीं-हूँ' ऐसे अपने रूप को पहिचानने पर; अविद्या से मृत्यु का, नश्वरता का, अनित्यता का, अनुभव हो कर, उस के पार जा कर, विद्या से नित्यता का, अमरता का अनुभव होता है। दोनो सह, एक साथ, युगपत्, इस महावाक्य से सूचित संवित् मे विद्यमान हैं। 'यह' की संभूति, संभव, और उस का विनाश, दोनो इस मे सदा साथ ही मौजूद हैं। विनाश के द्वारा मृत्यु के पार पहुँचता है, 'मैं' की अनंत सत्ता के संयोग से, अभ्यास से, 'एतत्' से, 'यह' मे, जो अनंत आविर्भाव

तिरोभाव की संभूति आ गई है, उस के द्वारा अमरत्व का अनुभव करता है। अजन्मा, अजर, अमर तो है ही, पर शरीरों, उपाधियों, के आविर्भाव-तिरोभाव के अनादि अनंत प्रवाह के द्वारा विशेष रूप से, विशेष प्रकार की, अमरता का अनुभव करता है।

अविप्रणाशः सर्वेषां कर्मणाम्, इति निश्चयः ;
कर्मजानि शरीराणि, शरीराऽऽकृतयः तथा ,
महाभूतानि नित्यानि, भूताधिपति-संश्रयात् ;
तेषां च नित्यसंवासः, न विनाशः वियुज्यताम्। (म० भा०)

'मैं', विषयी, द्रष्टा, आत्मा, प्रत्यगात्मा, परमात्मा, नित्य है। अनात्मा, आत्मेतर, आत्मा से अन्यत्, 'यह', विषय, दृश्य, अनित्य है। अनित्य तो है, पर नित्य आत्मा के ध्यान मे, अवधारण मे, संवित्, चित्, बोध, ज्ञान, मे है ; इसी हेतु से तो जो कुछ भी क्षणिक सत्ता का आभास उस मे है सो है। 'यह' का उद्भावन संभावन 'मैं' करता है, अपलाप के वास्ते। इतने ही उद्भावन से 'यह' मे सत्ता का आभास आ जाता है, और अपलाप से असत्ता उस मे देख पड़ती है। पर यदि अनित्य पदार्थ भी नित्य से छू गया, तो उस मे नित्यता का आभास भी आ जायगा, जैसे ही सत्ता का। "नाऽसतो विद्यते भावो, नाऽभावो विद्यते सतः"। सत् और नित्य, एक ही वस्तु, एक ही भाव। जहाँ सत्ता वहाँ नित्यता। जहाँ सत्ताऽऽभास तहां नित्यताऽऽभास भी। इस का विवर्त्त भी ठीक है, कि जहाँ असत्ता और असत्ताऽऽभास, तहाँ अनित्यता और अनित्यताऽऽभास भी। ऊपर देख चुके हैं कि, 'मैं' और 'यह' मे परस्पर अन्योऽन्य गुणो का अध्यास हो जाता है। पर एक ही चीज़ नित्य भी अनित्य भी, अनित्य भी नित्य भी—यह कैसे बने ? तो ऐसे बने ; अनंत असंख्य आविर्भाव-तिरोभाव से। भूत-ऽधिपति आत्मा का संश्रय होने से सब कर्म से जनित शरीर, सब शरीरों के सूक्ष्म से सूक्ष्म आकार प्रकार, सब महाभूत, तत्त्व आदि, सभी नश्वर पदार्थ, भी अनश्वर हो जाते हैं, क्योंकि 'अहं-एतत्-न' इस महाबोध मे, 'एतत्' के असंख्य भेद रूप, ये सभी सदा 'वर्त्तमान' हैं। भूत नहीं, भविष्य नहीं, सदा 'वर्त्तमान' हैं; कारणावस्था में, अव्यक्त, अनुद्बुद्ध, स्मृति रूप से; 'कारणम् अस्ति अव्यक्तम्';

कार्यावस्था मे, व्यक्त, उद्‌बुद्ध, अनुभव रूप से मेरी स्मृति मे जो बातें भरी पड़ी हैं, उन को फिर फिर जगाता और सुलाता रहता हूँ, बाहर प्रकट करता हूँ और फिर अन्तर्हित कर देता हूँ। यह दशा समस्त संसार की है।

> क्रीडन् इव एतत् कुरुते परमेष्ठी, पुनः पुनः,
> यदा सः देवः जागर्त्ति, तदा इदं चेष्टते जगत्;
> यदा स्वपिति शांतात्मा, तदा सर्वं निमीलति।
> एवं सः, जाग्रत्स्वप्नाभ्यां, इदं सर्वं चराचरं
> संजीवयति च ऽजस्रं, प्रमापयति च ऽव्ययः। (मनु)

जब ब्रह्मा जागते हैं तब सृष्टि उत्पन्न होती है। पुरा-कल्प की 'स्मृति' के अनुसार इस अपने जगत् की रचना आदि करते हैं। वेद अर्थात् आध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिक ज्ञानसार, ज्ञानसमूह, ज्ञानसर्वस्व, जो सदा ब्रह्म मे है, अथवा ब्रह्मस्वरूप है, उस का स्मरण, प्रत्येक ब्रह्मा, व्यक्त ब्रह्मांड के अधिपाल, करते हैं। जो अनन्त ज्ञान ब्रह्म मे, परमात्मा मे, अव्यक्तरूप से सदा 'वर्त्तमान', 'विद्यमान' है, वह व्यक्त ब्रह्मा की बुद्धि मे क्रमिक, भूत-भवद्-भविष्य रूप क्रम से, उपजता है। जब ब्रह्मा सोते हैं तो सारा उन का जगत् भी सो जाता है, प्रलीन हो जाता है। "ब्रह्मणा सह मुक्तिः"। और यह क्रिया, सोने जागने की, प्रत्येक ब्रह्मा, परमेष्ठी, पुनः पुनः, मानो क्रीडा से, लीला से, करते रहते हैं।

निष्कर्ष यह कि परमात्मा के ज्ञान मे अनित्य भी अव्यक्त रूप से नित्य हो गया। विनाश हो जाने पर भी पुनः पुनः उत्पन्न होता रहता है। और यह अनन्त बार पुनरुत्पत्ति का संभव ही उस की आभासिक नित्यता है, अविप्रणाश अ-नाश है। दूसरी ओर, नित्य आत्मा को भी शरीर मे पड़ जाने के कारण मरणरूपी अनित्यता के आभास अध्यास का पुनः पुनः अनुभव होता है।

परमात्मा से अभिन्न हो कर भी, जीवऽवस्था मे, जीव अविद्या ग्रस्त होता है, और उस को मृत्यु का अनुभव करना पड़ता है, इस लिये, "सर्वे जीवाः सर्वमयाः तथा अपि अल्पाः," (नृसिंहोत्तरतापनी उप०), सर्वमय हो कर भी जीव, ब्रह्म से अल्प छोटा है। इसी आशय को ईसा मसीह ने भी कहा है, "आइ ऐंड माइ फ़ादर

आर वन्, यट् इज़ माइ फ़ादर ग्रेटर दैन आई",[1] मैं और मेरा पिता (परमात्मा) एक हैं, तो भी मेरा पिता मुझ से बड़ा है।

'कोऽहम्', 'मैं' क्या है, क्या हूँ ? स्थावर, परमाणु, अणु, तत्त्व, महाभूत, अश्मा, मणि, उद्भिज्ज, औषधि, वनस्पति, गुच्छ, गुल्म, तृण, वीरुत्, वृक्ष, वल्ली आदि बीज-कांड-रुह, हूँ ? नहीं।

अंतःसंज्ञाः भवंति एते, सुखदुःखसमन्विताः। (मनु)

यह सब स्थावर, अचर, अचल जीव, अंतःसंज्ञ होते हैं; इन में चेतना भीतर छिपी रहती है।

स्वेदज, दंश, मशक, कीट, पतंग, मक्खी, बर्रे, भौंरा, झींगुर, चपड़ा, टिड्डी, गोजर, बिच्छी, मकड़ी, जुगनू, हूँ ? नहीं। अंडज, मछली, कछुआ, सांप, मगर, घड़ियाल, छिपकिली, गोह, गरुड़, गृध्र, हंस, शुक, काक, बक, चटक, आदि हूँ ? नहीं। पिंडज, हाथी, घोड़ा, ऊँट, गाय, बकरी, भेड़, मृग, सिंह, व्याघ्र, तेंदुआ, बिल्ली, चूहा, नेवला आदि हूँ ? नहीं। वानर, लंगूर, बनमानुस, आदि हूँ ? नहीं। काले, पीले, लाल, सफ़ेद, ज़ात, परज़ात, ऊँची ज़ात, नीची ज़ात, भले, बुरे, पुण्यवान्, पापी, सुखी, दुःखी, मोटे, पतले, रोगी, स्वस्थ, धनी, निर्धन, मूर्ख, विद्वान्, शूर, भीरु, श्रमी, आलसी, मनुष्य, स्त्री, पुरुष, नपुंसक हूँ ? नहीं। भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष, राक्षस, पूतना, कूश्मांड, अप्सरा, गंधर्व, सिद्ध, विद्याधर, मुनि, ऋषि, महर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि, परमर्षि, उपदेव, देव, इंद्र, वरुण, सोम, मरुत्, अग्नि, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, गणपति, सूर्य आदि हूँ ? नहीं। 'मैं' 'मैं' ही हूँ। 'मैं' के सिवा 'अन्य' 'इतर' 'अपर', (और) कुछ 'नहीं हूँ'।

एतद्-अंताः तु गतयः ब्रह्माद्याः समुदाहृताः। (मनु)
स्थावरं विंशतेर्लक्षं, जलजं नवलक्षकम्,
कूर्माश्च नवलक्षं च, दशलक्षं च पक्षिणः,
त्रिंशल्लक्षं पशूनां च, चतुर्लक्षं च वानराः;
ततो मनुष्यतां प्राप्य, ब्रह्मज्ञानं ततोऽभ्यसेत्। (बृहद्विष्णुपुराण)

---

१. I and my Father are one, yet is my Father greater than I: *Bible*.

घास, पौधे, कीट, पतंग से ले कर ब्रह्मा पर्यन्त योनियाँ जातियाँ, ऊपर कहा। इन मे बीस लाख जातियाँ स्थावर अर्थात् मणियों और पेड पौधों की हैं; नौ लाख मछली आदि जलजन्तुओं की; कछुआ आदि जल-स्थल-उभय-वासियों की नौ लाख; पक्षी, दस लाख; चार पैर के पशुओं की तीस लाख; वानरों की चार लाख। इतनी योनियों मे से जीव हो कर तब मनुष्यता को पाता है, और ब्रह्म-ज्ञान आत्मज्ञान के योग्य होता है।

इस मे दो लाख मनुष्य जातियाँ जोड़ देने से इस ब्रह्मांड की प्रसिद्ध चौरासी लाख योनियों की गिनती पूरी हो जाती है। 'मा-या' से, ('या-मा', 'जो-नहीं' है, पर दिखाती है मानो 'है'), आत्मा इन योनियों को, शरीरों को, क्रम से, ओढ़ता और छोड़ता हुआ भासता है। पर, वस्तुतः, यह सब अनंत ओढ़ने-छोड़ने की क्रिया, एक ही अपरिमित असीम क्षण मे, (महाशिलासत्तावत्), परमात्मसंवित् मे 'वर्त्तमान' है, कालऽतीत है, क्रमत्रय से परे है। और भी माया की लीला को देखिये। जीव-भाव को, भेद-भाव को, असंख्य योनियों की उपाधियों मे बद्ध-भाव को, आत्मा स्वयं ओढ़ता-छोड़ता है; पर मोह-वश, जब छोड़ना चाहता भी है, तब भी छोड़ने से डरता भी है!

अष्टावक्र गीता मे कहा है,

इहऽमुत्रविरक्तस्य, नित्यऽनित्यविवेकिनः,

सततं मोक्षकामस्य, मोक्षाद् एव बिभीषिका।

ऐहिक और आमुष्मिक सुखों से विरक्त भी है, नित्य और अनित्य का विवेक भी निश्चय से कर रहा है, मोक्ष की इच्छा भी संतत लगी है, तो भी माया का, वासना का, प्रभाव ऐसा है कि जब मोक्ष सामने आता है, तब एक बेर उसी से भय जान पड़ने लगता है। कारण यह कि अभी परमात्मा मे दृढ़ निश्चय, निष्ठा, नहीं हुई है, डरता है कि शरीर छोड़ने से सर्वथा नाश तो न हो जाय! पर शीघ्र ही निष्ठा, निस्तरां स्थिति, हो जायगी।

अंधं तमः प्रविशन्ति, येऽविद्याम् उपासते;

ततो भूय इव ते तमः, ये उ विद्यायां रताः। (ईश)

जो अविद्या मे पड़े हैं, वे तो अंधकार मे हैं ही। पर जो विद्या की उपासना

करते हैं, वे, एक बेर तो मानो उस से भी बहुत गहिरे अंधेरे में घुसते हैं । अहं का, मैं का, अर्थ, चिरकाल से परिमित शरीर समझ रक्खा है । "मा न भूवं, हि भूयासं, इति प्रेम आत्मनि ईक्ष्यते," मैं सदा बना रहूँ, मेरा नाश कभी न हो, ऐसा स्वाभाविक प्रेम आत्मा को अपने से है; और उस आत्मा को शरीर समझ रक्खा है; तो ऐसी प्रिय वस्तु को छोड़ते अवश्य बड़ा मोह, बड़ा भय, बड़ी करुणा, उमड़ती है; साकार 'मैं' को ढूंढ़ता है' शुद्ध निराकार 'मैं' पर विश्वास हो हो कर हटता है । पर नहीं, वही तो अंतिम शरण है, अंत में 'मैं', 'मैं' पर ही आश्रित, आस्थायुक्त, होता है । "तमसस्तु परे पारे", गहन अंधकार के पार, उस ज्योति को दृढ़ पहिचानता है और शांति पाता है । *

शौनक ने सूत से पूछा,

> भूरीणि, भूरि-कर्माणि, श्रोतव्यानि, श्रुतानि च ।
> तस्मात्, साधो !, ऽत्र यत् सारं, तद् उद्धृत्य मनीषया ,
> ब्रूहि नः श्रद्दधानानां येन ऽत्मा संप्रसीदति । (भागवत)
> शास्त्र बहुत, अरु कर्म बहुत, सब सुनत करत न औराय,
> सो, साधो !, जो सार चुन्यौ तुम, अपनी बुद्धि बराय,
> वही कहौ, जो सुनि श्रद्धालुन की आतमा जुड़ाय ।

सूत के उत्तर का निचोड़ यह है ।

मां (अहमं) विधत्ते ऽभिधत्ते मां, (अहमं) विकल्प्य ऽपोह्यते तु अहम् ।

---

* मौलाना रूम की मस्नवी में उपनिषदों के इसी आशय का अनुवाद है ।

> तजल्ली गर तु ख्वाही नूरि ज़ातस्त;
> ब तारीकी दरू' आबे हयातस्त ।

गहिरे अंधेरे के भीतर आत्मा का अद्वितीय अनुपम सर्वश्रेष्ठ प्रकाश, "वरेण्यं भर्गः" छिपा हुआ है, इस अंधेरे में अमृत, आबि-हयात, रक्खा है । "उद्वयं तमसः परि ज्योतिः पश्यंतः उत्तरं" (वेद), "तमसः पारं दर्शयति ' (छां०), "यस्य तमः शरीरं " (बृ०), " आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् " (श्वेत०), " तमसः परस्तात् " (मुण्डक, कैवल्य, महानारायण०, नृसिंह उप०) ।

एतावान् सर्ववेदार्थः, सर्वम् आस्थाय, मां, भिदा,
मायामात्रं अनूद्य अंते प्रतिषिध्य प्रसीदति । (भागवत)

मेरो ही विधान करि, मेरो अभिधान करि,
अनगिनत भेदन कौ मो पर आरोप करि,
विकल्प-संकल्प करि, अन्त मे सब दूर करि,
एक ही अकेलो ही मो कूँ छाँड़ि राखतु है ;
एतो ही अर्थ सब वेदन कौ जानौ तुम,
भेदन विकल्पन सब माया ही भाखतु है ;
'अन्यन' कौ करि निषेध, 'मैं' ही कौ शांति रस,
अपुने ही भीतर प्रसन्न होइ चाखतु है ।[1]

सब वेद, और सब संसार, का काम इतना ही है कि 'मैं' के ऊपर, असंख्य अनंत भेदों से भिन्न हुए भावों का अध्यारोप, ऊहन, अभ्युपगमन, विशेष-कल्पन, संकल्पन, उद्भावन, संभावन कर के, पीछे उन का अपवाद, अप-ऊहन, अपोहन, निरसन, अपकल्पन, वि(विगत)कल्पन, खंडन, प्रतिषेधन, निषेधन करै; सब को मिथ्या 'मा-या'—मात्र, 'या-मा', 'जो नहीं है' (किंतु 'है' के ऐसी भासती है), सिद्ध करैं ।

यत् नेति नेति वचनैः निगमाः अवोचन् ।

इस ब्रह्मांड मे क्रमिक विकास-संकोच ('ईवोल्यूशन-इन्वोल्यूशन', evolution-in-volution) के नियमो के अनुसार, जीव उपर्युक्त 'चौरासी लाख' योनियों का, शरीर के प्रकारों का, अपने ऊपर अध्यारोप करता है, और फिर उन का अपवाद करता है ।

१—यों भी अनुवाद हो सकता है ।

'मैं' का ही श्रुति कहत है, करि करि बहुत विकल्प,
अरु पुनि तिन कौ अपकल्पन; यही श्रुतिन कौ जल्प ;
इतनो ही सब वेद कौ अर्थं विचारहु सार,
'मैं' पर माया रूप धरि, तिनहि देत पुनि टार ।

यह विकास का क्रम, स्थावर, वनस्पति, जलजन्तु, कूर्म, पक्षी, पशु, वानर, मनुष्य का, पाश्चात्य विद्वानों ने भी अब पहिचाना है।

इन मे, अविद्या के वश हो कर, जीव भ्रमण करता है। बाद मे, विद्या प्राप्त कर के, यह स्मरण कर के, कि 'मै मै ही हूँ, यह सब नहीं हूँ', सर्वदा निकटस्थ, पर तौ भी खोई हुई, अपनी अमरता को, स्थिरता को, पूर्णता को, पाता है।

चित्तनदी इयं उभयतो वाहिनी, संसारप्राग्भारा वहति
तु पापाय, कैवल्यप्राग्भारा वहति कल्याणाय। (योग-भाष्य)

यह चित्त की नदी दोनो ओर, विरुद्धगति से, बहती है, संसार की ओर झुक कर पाप की ओर बहा ले जाती है। ("पुण्यं च पाप च पापे", पुण्य और पाप दोनो ही परमार्थ दृष्टि से पाप हैं। सोने की सांकल हो तो, लोहे की शृंखला हो तो, दोनो ही सिकड़ी पैर को बांधती ही हैं। पुण्य और पाप दोनो ही जीव के बंधन हैं)। जब चित्त-नदी कैवल्य की ओर ढुरती है, तब जीव को कल्याण की ओर बहा ले चलती है, पुण्यपाप दोनो से छुड़ा कर शांति मे पहुँचा देती है। यही अर्थ मनु ने कहा है,

सुखाऽभ्युदयिकं चैव, नैश्रेयसिकं एव च,
प्रवृत्तं च, निवृत्तं च, द्विविधं कर्म वैदिकं।

कर्म दो प्रकार के, प्रवृत्त और निवृत्त। एक अभ्युदयसाधक ऋणकारक, जीव-बंधक; दूसरा ऋणनिर्मोचक, संसारबाधक, निःश्रेयससाधक, जिस को नैष्कर्म्य कहते हैं। अपनी पूर्णता को भूलना, यही अविद्या है, संसार है, पुण्यपापात्मक, धर्मार्थकामरूप त्रिवर्गात्मक, अभ्युदयात्मक, बंध है। अपनी पूर्णता को पहिचानना, याद करना, यही परम कल्याण है, पापपुण्यातीत निःश्रेयस है, चतुर्थवर्गात्मक, परमपुरुषार्थरूप, मोक्ष, निर्वाण, कैवल्य, ब्रह्मभाव, परमपद है।

अखिलऽर्थदम्।

मनुष्य शरीर मे जन्म लेने मे यदि गुण है तो यही, कि इस शरीर मे यह पहिचानने का सम्भव होता है, कि अन्-आत्मा से आत्मा भिन्न है, 'मै—यह—नहीं (है)';

सृष्ट्वा पुराणि विविधानि, अजयाऽऽत्मशक्त्या,
वृक्षान्, सरीसृप-पशून्, खग-दंश-मत्स्यान्,
तैस् तैर् अतुष्टहृदयः, मनुजं विधाय,
ब्रह्माऽवबोधधिषणं, मुद आप देवः। (भागवत)
(अपनी अनादि शक्ति, वा तें रच्यौ विविध पुर,
अपने निवास हेतु, मन बहलावन कौं;
वृक्ष, (अ)रु सरीसृप, पशु, पक्षी, दंश मशकहू,
मत्स्यहू विशाल अति, उदधि माहिं धावन कौं;
किन्तु, इन सबन मे तें, एक हू ते भयौ नाहिं
नेक हू विश्राम ब्रह्मदेवहिं तोष पावन कौ;
रच्यौ मनुज देह तब; या मे पहिचान्यौ अब,
अपने कौ ब्रह्म; मोद पायौ मोक्षभावन कौ।)

'एतत्' का, 'यद्' का, रूप द्वन्द्वात्मक क्यों है; स्त्री और पुरुष क्यों हैं; पुरुष 'और' प्रकृति (जैसा सांख्य मे) कहना ठीक है, या पुरुष 'की' प्रकृति (जैसा वेदान्त मे) कहना ठीक है; सब द्वन्द्व नितरां विरुद्ध और विदृश हैं या अनुरुद्ध संरुद्ध और सदृश भी हैं; और हैं तो क्यों हैं; स्त्री-पुरुष परस्पर वाम-दक्षिण क्यों हैं; इन मे सर्वथा गुणभेद लिंगभेद ही है, या तमःप्रकाशवत्, युष्मद्-अस्मत्-प्रत्ययवत्, विषय विषयिवत्, विरुद्ध हो कर भी इन मे गुणो का परस्पर अध्यास और उभयलिंगता और अर्धनारीश्वरता भी है; शिव और शक्ति मे भेद है या नहीं हैं; है, तो क्या और क्यों है; आकस्मिकता और आवश्यकता, यदृच्छा और नियति, पुरुषकार और दैव, यह दो भिन्न पदार्थ हैं या नहीं हैं; और हैं, तो क्या और क्यों हैं; (क़द्र व जब्र, इख्तियार व इज़्तिरार, 'फ्री-विल ऐंड डेस्टिनी');[1] यदि सब संसार, परमात्मा की केवल लीला है, यदृच्छा है, "न

१—सूफ़ियों ने अच्छा कहा है, कि 'इख्तियारि ख़ुफ्तः', सोता हुआ पुरुषकार, क़ुद्रत, ही मजबूरी है, इज़्तिरार है, ज़रूर होने वाली बात है। संस्कृत मे भी यही भाव, पुराणो मे कहा है, "पूर्वजन्मजनितं, पुराविदः, कर्म, दैवं इति

खलु परतंत्राः प्रभुधियः", तो इस मे नियति, नियम, बहुत कड़ा अनिवार्य कार्य-कारण संबंध, पुण्य-पाप का अनुबंध, नियत पुनर्जन्म, अवश्य "सुखस्यानंतरं दुःखं, दुःखस्यानंतरं सुखं", "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च", "ईश्वरैरपि भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाऽशुभं", "प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः", बीज से वृक्ष, वृक्ष से बीज, इत्यादि कड़े नियम से बँधा क्रम क्यों देख पड़ता है; प्रत्येक कार्य के लिये कारण की खोज मानवबुद्धि को क्यों अवश्यमेव होती है; लीला तो मनमानी, निर्मर्याद, स्वच्छंद, उच्छृंखल, व्यतिक्रांत, अनुबंधऽतीत, सम्बन्धन-रहित होना चाहिये न ? फिर गणित के, विज्ञान के, प्रकृति के, विभिन्न विभागों मे, अनतिक्रमणीय अनिवार्य अबाध्य अनुल्लंघ्य अखंडनीय नियम क्यों; पांच ही महाभूत, ज्ञानेंद्रिय, कर्मेंद्रिय, अंगुली, आदि क्यों, न्यूनाधिक क्यों नहीं; स्थूल, सूक्ष्म, कारण, तीन ही शरीर क्यों; जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तीन ही अवस्था क्यों; तीन ही गुण, तीन ही शक्ति, क्यों; ज्ञान-इच्छा-क्रिया, सत्त्व-रजस्-तमस्, द्रव्य-गुण-कर्म, सत्-चिद्-आनंद, क्या और क्यों; राग-द्वेष-शांति, प्रवृत्ति-निवृत्ति-अनुवृत्ति, क्या और क्यों; तात्त्विक मोक्ष, सद्योमुक्ति, चित्तविमुक्ति से, और सांकेतिक-मोक्ष, क्रममोक्ष, काशी मुक्ति से, क्या भेद और क्यो; सांकेतिक मोक्ष के विविध प्रकार क्या और क्यों; तात्त्विक मोक्ष और सिद्धियों मे क्या भेद और क्यों; जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त मे क्या भेद और क्यों;जीवन्मुक्त अथ च अमुक्त अधिकारी जीवों मे और अधिकार-वासना-रहित जीवन्मुक्तों और जीवों मे क्या भेद और क्यों; प्रत्येक प्रश्न के दो पक्ष, पूर्व-पक्ष और उत्तर-पक्ष, तथा निर्णयात्मक तीसरा, उभय-समन्वित, उभय-समन्वायक, उभय-सम्बादक, मध्यस्थ सिद्धांत, क्यों; दर्शनों के विविध वाद क्यों;—इत्यादि असंख्य प्रश्नों के कुछ न कुछ परस्पर संगत उत्तर, इस 'अहं-एतत्-न' रूपी परम महावाक्य के विचारने से, हेरने फेरने से, मिल जाते हैं। समाजशास्त्र, धर्मशास्त्र, राजशास्त्र, आधिभौतिक, आधिदैविक, सभी

सम्प्रपद्यते"; पूर्वजन्म का किया हुआ कर्म ही संचित हो कर, प्रसुप्तवत हो कर, भीतर भीतर, अब इस जन्म में दैव का, नियति का, काम कर रहा है; नये पुरुषकार से उस का प्रत्याख्यान हो सकता है। 'इख्तियारि बेदार' जागता पौरुष है।

शास्त्रों के भी मुख्य मुख्य मूल सिद्धांत सब इसी आध्यात्मिक शास्त्र के बीजभूत सारभूत महावाक्य से निकल सकेंगे। पर,

नभः पतंति आत्मसमं पतत्रिणः।

जिस पक्षी के पंखों मे जितना बल होगा उतना ही ऊँचा और दूर आकाश मे उड़ सकैगा। जिस को जितने शास्त्र आते हों, और जितनी शक्ति खोजने की हो, जितना धैर्य, धृति, वासना, निर्बन्ध, विविध और विशेष ज्ञान की प्राप्ति का हो, उतना ही इस मे से पावेगा। ऐसा इस लेखक का विश्वास है। और "ब्रह्मविद्या सर्वविद्याप्रतिष्ठा", "अध्यात्मविद्या विद्यानां", यह अति प्राचीन वेद, गीता, आदि का प्रवाद है ही।

अन्य पुस्तकें

ऊपर लिखे प्रश्नो के, और उन के अवांतर प्रश्नो के, विषय में, इस महावाक्य की सहायता से जो कुछ थोड़ा बहुत मेरी समझ मे, इस जन्म मे, इस शरीर से, आया, वह इस ग्रन्थ मे, तथा 'दी सायंस् आफ़् पीस्' ('शांतिशास्त्र' वा 'मोक्षशास्त्र') नामक अंग्रेज़ी भाषा मे लिखे ग्रन्थ मे कहने का यत्न किया है। तथा, अविद्या और अस्मिता (अहंकार) के परिणाम-स्वरूप राग और द्वेष, किस प्रकार से, 'मैं' और 'यह' के, एक और अनेक के, अभेद और भेद के, संयोग-वियोग से उपजते हैं; तथा अभेद-बुद्धि-प्रधान राग और भेद-बुद्धि-प्रधान द्वेष के बहुविध अवांतर भेद और विकार, शाखा-प्रशाखा रूप से, कैसे फैलते हैं; इच्छा का क्या स्वरूप है; तीन एषणा क्या और क्यों हैं, और उन का इन क्षोभविकारों से, संरंभविकारों से, क्या संबन्ध है; प्रसिद्ध षड्रिपु काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर का, राग-द्वेष के मुख्य प्रकारों मे कैसे समावेश होता है; साहित्य और रस अलंकारादि का क्या स्वरूप है, नव रसों का राग और द्वेष के नीचे विभाजन राशीकरण कैसे होता है; और क्यों इन की संख्या नौ ही मानी है; राग द्वेष आदि का निग्रह, नियमन, दमन, शोधन, उन्नयन, शुभंकरण, सदुपयोजन कैसे हो सकता है; अध्यात्म-शास्त्र वा शांतिशास्त्र वा मोक्षशास्त्र के अंतर्गत क्षोभशास्त्र, संरंभशास्त्र, रागद्वेषशास्त्र के जानने से क्या फल हो सकते हैं; इत्यादि विषय 'दी सायंस्

आफ़् दी ईमोशंस्' ('क्षोभ शास्त्र') नामक अंग्रेज़ी ग्रंथ मे दिखाने का प्रयास किया है। मानव समाज की नीवी, नीव, प्रतिष्ठा, किस प्रकार से अध्यात्मशास्त्र के सिद्धांतों पर, प्राचीन काल मे, इस भारतवर्ष मे की गई, और अब फिर समस्त पृथ्वीतल पर हो सकती है; कैसे ज्ञान, वा इच्छा, वा क्रिया (सत्त्व, वा, तमस्, वा रजस्) की, किसी एक गुण की, स्वभाव मे प्रधानता के अनुसार, तीन द्विजवर्ण और एक एकज वर्ण बनते हैं, और इन मे किस प्रकार से कर्मविभाग, वृत्तिविभाग (जीविका का विभाग), उपायन-विभाग (राधस् , पारितोषिक, वस्न, शुल्क, दक्षिणा, इनाम का विभाग) होना चाहिये; ('मैं', 'मैं-यह', 'यह-नहीं', और 'मैं-यह-नहीं-हूँ' इस के अनुसार) चार आश्रम क्या और क्यों हैं; चार वर्ण और चार आश्रम की व्यवस्था से कैसे, मनुष्य के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले, सभी प्रश्न उत्तीर्ण हो सकते हैं; इत्यादि विषय, 'दी सायंस् आफ़ सोशल् आर्गेनिज़ेशन्' ('समाज-व्यवस्था शास्त्र') मे, तथा अन्य ग्रन्थों मे कहने का यत्न किया है। प्रचलित सभी मतो, सम्प्रदायों, धर्मों, मज़हबों के मूल सिद्धांत एक ही हैं, यह दिखाने का प्रयास 'दि प्रिंसिपल्स आफ़ सनातन वैदिक धर्म आर् दि सायंस आफ़ रिलिजन' ('सनातन-वैदिक-धर्म के सिद्धांत, अर्थात् धर्म का शास्त्र') नामक ग्रन्थ मे किया है। प्रणव-वाद का अंग्रेज़ी अनुवाद 'दी सायंस आफ़् दी सेक्रेड् वर्ड' (ओंकार-शास्त्र) के नाम से जो प्रकाशित हुआ, उस की चर्चा पहिले कर चुका हूँ। पूर्वोक्त 'वेदांतहृदय सूत्र' का आशय 'थियासोफ़िस्ट' नामक मासिक पत्र मे (जो एक दो वर्ष बंबई से निकल कर अब आड्यार, मद्रास, से, प्राय: ६३–६४ वर्ष से निरंतर निकल रहा है) पहिले सन् १८९४ ई० (१९५१ वि०) में, दो लेखों मे, प्रकाश हुआ। प्रणववाद के अनुवाद को छोड़ कर, अन्य ग्रन्थों को उसी आशय का विस्तार समझना चाहिये।

जिस समय ये लेख और ग्रंथ लिखे और छापे गये, उस समय अंतरात्मा की प्रेरणा ऐसी ही हुई, कि ये अंग्रेज़ी मे लिखे जायँ[1]। स्यात् इन के द्वारा पश्चिम

---

१ यह सब वाक्य, इस 'समन्वय'-नामक ग्रन्थ के प्रथम संस्करण के समय,

के देशों मे इन प्राचीन विचारों का कुछ थोड़ा प्रचार हुआ हो; भारत के भी सब प्रान्तों की बोली एक नहीं है ; या तो संस्कृत को, कुछ बहुत थोड़े सज्जन, सब प्रांतों मे जानते हैं, या अंग्रेज़ी को, अधिक संख्या मे। भारत मे तो ये भाव पुराने हैं, और समय समय पर संस्कृत प्राकृत भाषाओं मे विविध प्रकारों से कहे गये हैं। युगभेद से, वक्ता श्रोता की प्रकृति के अनुरूप, कहने सुनने के प्रकार मे, भाषा मे, शब्दों के विन्यास मे, वाक्यों की रचना और क्रम मे, प्रत्येक जीर्णोद्धार के समय न्यूनऽधिक भेद होता रहा है। इस लेखक को 'अहं-एतन्-न' के प्रकार से विशेष संतोष हुआ, इस लिये, इस आशा से कि लेखक के चित्त के मल का क्षय हो, तथा, स्यात्, अन्य जिज्ञासु खोजी भाई बहिनों को भी इस प्रकार से कुछ सहायता मिले, अंतरात्मा की प्रेरणा से इस 'समन्वय' ग्रंथ को छपवा दिया।

मधुस्फीताः वाचः परमं अमृतं निर्मिमवतः
तव, ब्रह्मन् !, किं वाग् अपि सुरगुरोः विस्मयपदम् ?

१९२८ ई० मे लिखे गये थे। उस के पश्चात्, हिन्दी मे 'दर्शन का प्रयोजन' १९४० ई० मे, 'मानव-धर्म-सारः' संस्कृत पद्य मे १९४० ई० मे, हिन्दी मे 'पुरुषार्थ' १९४३ मे, अंग्रेज़ी मे 'दि एसेन्शल् युनिटी आफ़ आल् रिलिजन्स' ('सब धर्मों-मज़हबों की तात्त्विक एकता') १९३९ मे, अंग्रेज़ी मे 'एन्शेंट वर्सस् माडर्न सायंटिफ़िक सोशलिज्म' ('प्राचीन बमुक़ाबिलै नवीन वैज्ञानिक समाज') १९३४ मे, 'दि सायंस आफ़ दि सेल्फ़' ('आत्म-शास्त्र', जिस मे प्रायः सब अन्य ग्रन्थों के मूल सिद्धान्त संक्षेप से दिखा दिये है) अंग्रेज़ी मे १९३८ मे, तथा अन्य ग्रन्थ भी, छपाये। विषय भिन्नवत् होते हुए भी, महा-समन्वय-ऽात्मक महा-वाक्य 'अहं-एतन्-न' का भाव और प्रभाव सब मे अनुस्यूत है, सब का परस्पर सम्बन्धन करता है। 'पुरुषार्थ' का नया संस्करण इसी महीने, जून, १९४७, मे छप गया है; 'सायंस आफ़ पीस' और 'एसेंशल युनिटी आफ़ आल रिलिजन्स' के नये संस्करण छप रहे हैं, और आशा है कि १९४७ के भीतर ही तयार हो जायँगे।

मम तु एतां वाणीं, गुणकथनपुण्येन, भवतः,
पुनामि इत्यर्थेऽस्मिन्, पुरमथन !, बुद्धिः व्यवसिता ।
त्रयी, सांख्यं, योगः, पशुपतिमतं, वैष्णवं, इति
प्रभिन्ने प्रस्थाने, परं इदम्, अदः पथ्यं, इति वा,
रुचीनां वैचित्र्याद्, ऋजु-कुटिल-नाना-पथ-जुषां
नृणां एकः गम्यः त्वं असि पयसां अर्णवः इव। (शिवमहिमस्तुति)

देवगुरु बृहस्पति भी आप की महिमा नहीं बखान (व्याख्यान कर) सकते हैं ! हे परमात्मन् !, मैं ने जो यह यत्न किया, सो अपना मन, वाणी, शरीर, शुद्ध करने के लिये किया । वेदत्रयी, सांख्य, योग, पाशुपत मत, वैष्णवमत, सब अपने अपने प्रस्थान के लिये अच्छे ही हैं, सब ही आप ही को खोजते हैं, जैसे असंख्य नदियाँ एक ही समुद्र को । सब ही आप ही की महिमा का भजन करते हैं ।

प्रणव-महिमा ।

जब से 'अहं-एतत्-न' महावाक्य का उदय मेरे हृदय में हुआ, तब से इस खोज में रहता था, कि कोई प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ मिल जाय जिस से यह महावाक्य, सर्व-शंका-समाधाता, अखिलऽर्थद, स्वयंसिद्ध, स्वतःप्रमाण होता हुआ, परतः प्रमाण भी, आप्त-वाक्य-समर्थित भी, हो जाता; जिस से अन्य जिज्ञासुओं को इस की ओर फेरने फिरने में सौकर्य होता । अवश्य बीच बीच में मेरे मन में आता रहा, कि हो न हो, प्रणव के तीन अक्षरों में यही अर्थ होगा ; पर निश्चित प्रमाण नहीं मिलता था ।

मांडूक्य उपनिषत् में, गोपथ ब्राह्मण में, अन्य ग्रंथों में, कई कई अर्थ इन तीन अक्षरों के किये हैं । महिमस्तुति का श्लोक प्रसिद्ध है,

त्रयीं, तिस्रो वृत्तीः, त्रिभुवनं, अथो त्रीन् अपि सुरान्,
अकाराद्यैः वर्णैः त्रिभिः अभिदधत्, तीर्णविकृति,
तुरीयं ते धाम, ध्वनिभिः अवरुन्धानम् अणुभिः,
समस्तं व्यस्तं त्वां, शरणद !, गृणाति ओम् इति पदम् ।

तीन वेद, तीन वृत्ति (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति), तीन लोक, (तीन गुण,

तीन शक्ति,) तीन देव (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) को, तीन अक्षरों से (क्रमशः) सूचित करता हुआ, (तीनो अक्षरों को एक साथ, एक ध्वनि से, उच्चारण करने पर) सब विकृतियों विकारों से उत्तीर्ण, अतीत, (क्रमरहित), तुरीयऽवस्था की सूचना भी करता हुआ, हे परमात्मन् !, हे ब्रह्मन् !, शरण देने वाले !, भय से मोक्ष देने वाले !, यह ॐ पद तुम्हारे व्यस्त (क्रमिक, सक्रिय, जगत्) रूप को भी, और समस्त (क्रमऽतीत, निष्क्रिय, निश्चल) रूप को भी, कहता है। कुछ और उक्तियों को देखिये।

ओंकारः, प्रणवः, तारः, प्रातिभः, सर्वविन्मतिः। (कोष)

ये सब प्रणव के पर्याय हैं।

सार्वविन्मतिः, सर्वज्ञबुद्धिः, वही पूर्वोक्त अविशिष्टा शाश्वती बुद्धि, सकृत्प्रभ, सकृद्विभात, सकृद्विद्युत् आदि शब्दों से उपनिषदों में कही बुद्धि।

वेदादिस्त्रिगुणो ब्रह्म सत्यो मंत्रादिरूअव्ययः। (तंत्र)

वेदों का आदि, मूल, त्रिगुण, ब्रह्म, सत्य, मंत्रों का आदि, मूल, अव्यय—ये सब भी प्रणव के नाम हैं।

अक्षरं प्रणौति (परमात्मानं प्र-नौति, स्तौति, स्तवीति)। (छांदोग्य)

प्रकर्षेण नूयते स्तूयते ज्ञाप्यते आत्मा अनेन इति प्रणवः।

सर्वं (दर्शनं, बोधं, संसारं, जीवनं) प्रकर्षेण नवीकरोति, इति प्रणवः।

आत्मा की स्तुति करता है, याद दिलाता है, और ब्रह्मज्ञान द्वारा सब दर्शन को, सब जीवन को, नवीन कर देता है। द्रष्टा की आँख को नया कर देता है। इस का तात्त्विक अर्थ समझ कर जीव सब संसार को, सब भावों को, नई आँख से देखने लगता है।

अवति इति ओम्। अवति, रक्षा करता है।

तस्य वाचकः प्रणवः। तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।

प्रातिभाद् वा सर्वम्। तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयं अक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानं। (योगसूत्र)

परमेश्वर का वाचक प्रणव है। उस में संपूर्ण सर्वज्ञता का बीज है। प्रातिभ बुद्धि से, सर्व-प्रश्न-पारो-त्तारिणी प्रतिभा से, ओंकार के स्वरूप और अर्थ

के ज्ञान वाली तारक प्रतिभा से, सर्वज्ञान प्राप्त होता है। अपनी प्रतिभा में उत्पन्न इस तारक, ('मैं' और 'यह' के) विवेक (अर्थात् 'अन्यता') रूप ज्ञान से, सब विषय, सब प्रकार से, एक ही क्षण में, क्रम-रहित, क्रमऽतीत, हो कर वर्त्तमान हैं।

ॐ इत्येतद् ब्रह्मणो नेदिष्ठं नाम; यस्माद् उच्चार्यमाणः
एव संसारभयात् तारयति तस्माद् उच्यते तारः इति।

यह ॐ, ब्रह्म का सब से पास वाला नाम है। इस के उच्चारण से ही जीव संसार के भय से तर जाता है, इस लिये इस को 'तार', 'तारक' मंत्र, भी कहते हैं।

ॐ कार-प्रणव-उद्गीत-तार-तारकादीनि च नामानि तस्य।
ओम् इति अनुमतौ प्रोक्तं, प्रणवे चऽपि, अनुक्रमे।

सत् का वाचक है, इस लिये अनुमति का भी द्योतक है। 'हाँ, जो आप कहते हो, वह ठीक है, सत्य है, ऐसी मेरी भी अनुमति है'। अनुक्रम के लिये, आरम्भ के लिये, भी इस का प्रयोग होता है।

ओमित्येकऽक्षरं ब्रह्म व्याहरन्, मां अनुस्मरन्,
यः प्रयाति, त्यजन् देहं, सः याति परमां गतिम्। (गीता)

जो मुझ को, 'मैं' को, आत्मा को, स्मरण करता और ॐ का उच्चारण करता हुआ शरीर छोड़ता है, वह परम गति को प्राप्त होता है।

एतद्वै, सत्यकाम !, परं चऽपरं च ब्रह्म, यद् ओंकारः।
ओंकारः एवेदं सर्वम्। (छांदोग्य उ०; प्रश्न उ०)
ओमिति ब्रह्म। ओमितीदं सर्वम्। (तैत्तिरीय उ०)

ओमित्येतद्क्षरम्; इदं सर्वं, तस्य उपव्याख्यानं, भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोंकार एव। (मांडूक्य उ०; तारसार उ०)

ओंकार ही सब कुछ, पर और अपर है। भूत भवद् भविष्य, सब उसी का फैलावा है, व्याख्यान है।

एकः एव पुरा वेदः प्रणवः सर्ववाङ्मयः,
देवो नारायणः, 'नऽन्यः', एकोऽग्निः, वर्णः एव च।

(भागवत, ९-१४-४८)

पुरा काल, सत्ययुग, मे, एक ही वेद, सर्ववाङ्मय रूप प्रणव ही था; अनन्त वाङ्मय का अनन्त विस्तार, सब इसी शब्द-सामान्य के गर्भ मे लीन था; जैसे बीज मे वृक्ष । तथा एक ही देव नारायण, 'अन्य-नहीं'; एक ही 'अग्नि' (शक्ति); और एक ही वर्ण (मानव) था ।

सर्वे वेदाः यत्पदं आमनंति,
तपांसि सर्वाणि च यद् वदंति,
यद् इच्छंतो ब्रह्मचर्यं चरंति,
तत् ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये । ओमित्येतत् । (कठ उ०; गीता)
एतद् हि एव अक्षरं ब्रह्म, एतद् हि एव अक्षरं परम्,
एतदेव विदित्वा तु, यो यदिच्छति तस्य तत् । (कठ.)

जिस परम पद का ही सब वेद आमनन करते हैं, जिसी को सब तपस्वी बखानते हैं (व्याख्यांति, वदंति), जिसी को पाने की इच्छा से तपस्वी जन घोर ब्रह्मचर्य करते हैं, उस पद को मैं थोड़े मे तुम से कहता हूँ, यह ॐ है । यही अक्षर ब्रह्म है, परम अक्षर है, इस को जान कर, जीव जो चाहै वह पावै । ऊपर कह आये हैं कि जैसे विद्या पढ़ कर, समावर्त्तन संस्करण से संस्कृत हो कर, बालिग, वयःप्राप्त, प्रौढ़ हो कर, युवा जो चाहै उस वृत्ति, 'वर्ण', का वरण और आरंभ कर सकता है, वैसे ही इस महा समावर्त्तन-संस्करण से, इस दीक्षा से, प्रणवनिष्ठ ब्रह्मज्ञान आत्मज्ञान से, संस्कृत दीक्षित हो कर, इस प्रणव के द्वारा जिस गति को चाहे, जिस प्रकार की विशेष मुक्ति को (सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, देव-सायुज्य को, योगशास्त्रोक्त विदेह, प्रकृतिलय, को, अथवा ऋषित्व, देवत्व, सूर्यत्व आदि को, अथवा शुद्ध विदेह-कैवल्य को) चाहै, वह उस को मिल सकती है । मनु मे भी कहा है,

आद्यं यत् त्र्यक्षरं ब्रह्म, त्रयी यस्मिन् प्रतिष्ठिता,
स गुह्योऽन्यस्त्रिवृद् वेदो, यस्तं वेद स वेदवित् ।
एकाऽक्षरं परं ब्रह्म, प्राणायामाः परं तपः,
सावित्र्यास्तु परं नास्ति, मौनात् सत्यं विशिष्यते ।

 त्रिविधस्त्रिविधः कृत्स्नः संसारस्सार्वभौतिकः ।

सर्वमेतत् त्रिवृत् त्रिवृत् ।

इत्यादि । अधिकांश उपनिषदों मे प्रणव की महिमा मिलती है । पुराणो मे, तंत्रों मे, सभी जगह कही है । जो विशेष विशेष देव देवियों के आराधक मंत्र हैं, उन के आदि अंत मे भी इसी का प्रयोग है । बिना इस के वे अकिंचित्कर हैं । पर क्यों और कैसे, इस का उपलब्ध ग्रन्थों से पता नहीं चलता । 'अहं-एतत्- न', ऐसा अर्थ किसी ख्यात ग्रंथ मे स्पष्ट शब्दों मे नहीं मिलता । प्रणव-वाद मे मिला, उस की चर्चा विस्तार से दूसरे लेख मे की जा चुकी है ।

यहाँ इस ओर ध्यान दिलाने का प्रयोजन यह है कि प्रणव का यह अर्थ, 'अहं-एतत्-न', बोधात्मक, बौद्ध, विचारात्मक, ज्ञानात्मक, चित्त-विमुक्ति-संबंधी ज्ञान-योग-विषयक है । प्रक्रियाऽऽत्मक नहीं । इस ज्ञान से संसार का स्वरूप और उस के नियम, उस के प्रकार, समझ मे आ जायँ, और शांति मिलै । पर इस से कोई सृष्टि-स्थिति-संहार-शक्ति, कोई सिद्धि, कोई विभूति, महाभूतों और द्रव्य-शक्तियों पर वशिता, तत्क्षण प्राप्त नहीं होती । ऐसी सिद्धियों की कथा न्यारी है । जैसे ब्रह्मचर्य मे अध्ययन अच्छी तरह कर के ज्ञानशक्ति से सम्पन्न हो कर, उस आश्रम को समाप्त कर, समावृत्त हो कर, गृहस्थी मे प्रवेश कर के, जिस रोज़गार व्यापार व्यवसाय की ओर उस की प्रकृति झुकै, उस को कर सकता है, और उस से जीविका-लाभ कर सकता है, वैसे ही "एतदेव विदित्वा तु यो यदिच्छति तस्य तत्", अध्यात्मज्ञान को पा कर जो कुछ वासना-शेष रह जाय, चित्त मे जो वासना का अधिकार, प्रारब्धशेष का अधिकार, और उस के कारण जीव को जो कुछ अधिकारिता, बच जाय, तदनुसार वह छोटी या बड़ी सिद्धियाँ साध कर जीवन्मुक्तावस्था मे संसार का कार्य कर सकता है । वायु-यान, जल-यान, बना सकना भी एक सिद्धि है; इन को चला सकना भी एक सिद्धि है । ऐसे ही स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर को निकाल कर मन माना घूम फिर सकना, यह भी एक बड़ी सिद्धि है । इन सिद्धियों की मात्रा में बहुत भेद होता है । पर ज्ञान के रूप मे भेद नहीं । जो ही ज्योतिष्मत्ता छोटे दीपक मे है, वही सूर्य मे । प्रकाश-गुण एक है । पर प्रकाशन क्रिया के विस्तार मे, तेजस् मे, क्रियाशक्ति मे, भारी भेद है । ये सिद्धियाँ क्रियात्मक हैं ।

कर्मणैव महेन्द्रत्वं, ब्रह्मत्वं चैव कर्मणा,

कर्मणैव च रुद्रत्वं, विष्णुत्वं चैव कर्मणा। इत्यादि।

जैसे एक छोटे मानव राज्य मे चौकीदार से ले कर राजा तक अधिकारियों की परम्परा संतत है, वैसे ही अनंत ब्रह्मांडों के प्रबंध मे; ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि ईश्वर कोटि के मुख्य अधिकारियों से, और तदधीन मनु और इंद्र, सप्तर्षि और लोकपाल, से ले कर बहुत छोटे दर्जों तक। (सूफ़ी संकेत मे, फ़रिश्ते, .कुतुब, औताद, अब्दाल, औलिया, नबी, रसूल, आदि)। और जैसे मनुष्य राज्य में, जो अधिकारी कर्मचारक कार्यवाहक, जितना ही अधिक निस्स्वार्थ, लोक-हितैषी, विश्वासपात्र होता है, उतना ही अधिक अधिकार, अख़्तियार, सर्कारी फ़ौज और ख़ज़ाना, उस के सुपुर्द किया जाता है, वैसे ही ईश्वरीय ब्रह्मांडशासन मे भो जान पड़ता है। "अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्" (योगसूत्र); ज्यों ज्यों योगी की, अस्तेय के यम मे, व्रत मे, स्थिति दृढ़ होती जाती है, त्यों त्यों अधिक रत्न उस के पास आते हैं। यह सब चित्त-परिकर्म से साध्य है।

विविध शास्त्रों के ज्ञान से सम्पन्न भी शरीर-धारी साधारण मनुष्य, स्थूल शरीर से, आकाश मे नहीं उड़ सकता, पानी के भीतर घंटों नही डूब सकता। पर चिड़िया तो उड़ सकती है, मछली तो डूब सकती है। "जन्म-ओषधि-मंत्र-तपः-समाधि-जाः सिद्धयः" (योगसूत्र)। इन जन्तुओं को वह सिद्धियाँ सह-ज, सह-जात, जन्म-जा हैं, जो मनुष्य को नहीं। विज्ञान से विदित होता है कि कीटों को, चींटा चीटों को , फनगों पतंगों को, कुत्ते शृगाल आदि पशुओं को, तरह तरह के अति सूक्ष्म गंध और रंग और रस के ज्ञान, बहुत दूर से भी होते हैं, जो साधारण मनुष्य को नहीं होते। ज्ञानवान् मनुष्य यदि उड़ना चाहे, या डूब कर पानी मे चलना चाहे, तो उस को बड़े श्रम से वायुयान वा अन्तर्जलचर वहित्र बनाना होगा, या उस से भी अधिक श्रम से योगमार्गों से अपने स्थूल सूक्ष्म शरीर में वह शक्तियां सम्पादन करना होगा। यह सब क्रिया-योग का विषय है। शुद्ध अध्यात्मज्ञान का नहीं। शुद्ध ज्ञान, सिद्धियों के अंत में भी, शांति का ही काम देता है। इस स्थान पर, यह ध्यान मे रखना चाहिये कि, जो सिद्धियां, जो शक्तियां, इस समय मनुष्यों को सह-जात हैं, जन्मना सिद्ध हैं,

यह सभी परम अद्भुत, परम आश्चर्य-जनक हैं, उन से अधिक आश्चर्य-कारी कोई बात संसार में न है, न हो सकती है; पर, "अति परिचयात् अवज्ञा," जो वस्तु अपने पास सदा रहती है, उस का अनादर होता है, तुच्छ समझी जाती है; जो दूर है, उस के लिये बड़ा आदर, बड़ी चाह, बड़ी खोज।

महर्षयोऽपि ऐश्वर्य-क्षय-दर्शनेन निर्विण्णाः कैवल्यं प्रविशंति।

(शांकर शारीरक भाष्य)

जब ब्रह्मा के निद्रा का समय पास आता है, और इस हेतु से जगत् की शक्तियां शिथिल और मंद-गति होने लगती हैं, और इस कारण से महर्षियों की सिद्धियां, शक्तियां, ऐश्वर्य, क्षीण होने लगते हैं, तब वे भी निर्विण्ण, खिन्न, विरक्त हो कर, अधिकारिता से, जगत् की अफ़सरी से, ओहदा-दारी से, विशेष विशेष विभागों की रखवारी के काम से, थक कर, कैवल्यपद, परमपद, विदेह-मोक्ष, में प्रवेश करते हैं। ऊपर योगवासिष्ठ के श्लोक का उद्धरण हो चुका है, परमेष्ठी, हरि, भव भी शान्त हो जाते हैं।

काग-भुशुण्ड (योगवासिष्ठ में) कहते हैं,

गरुड़वाहनं वृषभवाहनं, वृषभवा- विहगवाहनं,
विहगवाहनं गरुड़वाहनं, कलिनजीविलः कलितवानहम्।

अपनी अति दीर्घ आयु में, मैं ने विष्णु को शिव, शिव को ब्रह्मा, ब्रह्मा को विष्णु होते देखा है। इन सब छोटे से छोटे, बड़े से बड़े, अधिकारियों के पीछे, सब लीला का अकेला मालिक, वही केवल, "कारणं कारणानां," परमात्मा है। अधिकारिता भी उसी की लीला का एक अंश है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे, अर्जुन !, तिष्ठति,
भ्रामयन् सर्वभूतानि, यंत्राऽरूढानि, मायया।
प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि, सर्वशः,
अहंकारविमूढ़ऽात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते। (गीता)

ईश्वरः, परमात्मा; सर्वभूतानां, ब्रह्मविष्णुशिवादीनां अपि; प्रकृतेः, परमात्मनः प्रकृतेः; अहङ्कारविमूढऽात्मा, ब्रह्मादयोऽपि। "अज-मानिनो मे" (भागवत)।

परमात्मा, ब्रह्मा-विष्णु-शिव आदि ऐश्वर्यवान् जीवों को भी भ्रमाता रहता है। उस एक परमात्मा की प्रकृति से ही यह सब संसार-चक्र भ्रम रहा है; वही सब क्रियाओं की करने वाली है; ब्रह्मा आदि अपने को जो 'अज' अर्थात् 'अ-जात,' 'स्वयम्भू' ब्रह्मा मानते है, यह सब भी अहंकार का मोह है; साधारण जीव तो इस मोह में सने हैं ही, समझते हैं कि 'मै करने वाला हूँ', यद्यपि सब कुछ करने वाला तो वह एक ही है।

एक ही ऐश्वर्यवान् जीव, तीन रूप, ब्रह्मा-विष्णु-शिव का, कैसे धारण कर सकता है, तीनो के कर्म कैसे कर सकता है, इस का समाधान, पहिले, अन्य प्रकारों से किया जा चुका है। एक बहुत सुगम रीति से मार्कंडेय पुराण के ४३ वें अध्याय मे समझाया है—

> यथा प्राग् वापकः, क्षेत्रपालकः, लावकः तथा,
> एवं सः संज्ञां आयाति ब्रह्म-विष्णु-हर ऽात्मिकां।

खेत का एक ही मालिक, पहिले बीज बोता है (वापकः, वपन करने वाला); फिर खेती का पालक (रक्षा करने वाला) होता है; अंत मे लावक (लावनी करने वाला, काटने वाला); वैसे ही एक ही ईश्वर जीव ब्रह्मा-विष्णु-हर तीन नाम धरता है, तीन काम करता है। पर याद रहे कि एक हो कर भी तीन अलग अलग भी होना आश्चर्य नहीं। एक ही मालिक, भिन्न-भिन्न सहायकों सेवकों से, भिन्न प्रकार के कार्य कराता है।

प्रणव की महिमा के वर्णनो की एक और अर्थ-परम्परा, इस प्रकार के सिद्धि-साधक क्रियायोग से संबंध रखने वाली, हो सकती है। प्रणव की उपासना, योग का एक मुख्य अंग है। "यथाभिमतध्यानाद् वा" कहते हुए भी, योगसूत्र मे फिर फिर प्रणवऽभ्यास पर जोर दिया है। "ईश्वरप्रणिधानाद्वा," "तस्य वाचकः प्रणवः," "स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः", "स्वाध्यायः प्रणवादि पवित्राणां जपः, मोक्षशास्त्राध्ययनं च," इत्यादि; 'अनाहत' नाद भी इसी का स्यात् अति सूक्ष्म मूल प्रकार है। योग-सूत्र मे यद्यपि यह कहा है कि जिस ही वस्तु में मन लगे उसी का ध्यान कर के एकाग्रता साधना चाहिये, तौ भी यह सूचना पुनः पुनः की है कि ईश्वर का प्रणिधान करना चाहिये, और उस सर्वेश ईश्वर

का वाचक ॐकार ही है, तथा स्वाध्याय मे लगे रहना चाहिये, और स्वाध्याय का अर्थ है, प्रणव का जप और मोक्ष-शास्त्र का अध्ययन; इत्यादि। उपनिषदों मे प्रतिज्ञा है कि प्रणव ही से सब जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, संहृति होती है। इस प्रतिज्ञा का ठीक व्याख्यान तो, आधिभौतिक आधिदैविक शास्त्रों के रहस्यों मे निष्णात परमसिद्ध पुरुष ही कर सकते हैं; जो "श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः" हों, सुनी बात को कर दिखा सकते हों। हम लोग कुछ यों ही समझ कर मन का सम्बोधन समाधान कर सकते हैं कि प्रणव की ध्वनि, गूँज, शब्दतन्मात्र, शब्द-मात्र, शब्द-सामान्य का स्वरूप है, जो आकाश तत्त्व का व्यंजक, उत्पादक, गुण है; जैसे अन्य तत्त्वों वा महाभूतों के अन्य तन्मात्र, स्पर्शसामान्य, रूप (वर्ण-) सामान्य, रससामान्य, गंधसामान्य; तथा जगत् की सृष्टि की प्रक्रिया मे, प्रायः, उपनिषत्, दर्शनसूत्र, पुराण आदि मे, यह माना गया है कि, शब्द और आकाश से क्रमशः अन्य सब तत्त्व और गुण प्रादुर्भूत हुए, और उसी मे क्रमशः प्रतिप्रसव से लीन हो जाते हैं; जैसे मृत्तिका के सब विकार, मिट्टी की बनी सब चीज़ें, फिर मिट्टी मे मिल जाती हैं, वैसे मिट्टी पानी मे, पानी आग मे, आग हवा मे, हवा आकाश मे। यदि ऐसा है तो यह कहना उचित है कि आकाश के व्यंजक आविष्कारक प्रणव से सर्व जगत् की सृष्टि, स्थिति, संहृति, सब कुछ, होती है। ध्वनिशक्ति, मन्त्रशक्ति, मन्त्रशास्त्र, 'दी सायन्स आफ़ साउण्ड,' सब इस स्थान पर चरितार्थ होता है। बिना इस शास्त्र के पुनरुद्धार के, बिना अव्यक्त शब्द अर्थात् ध्वनियों की शक्तियों के ज्ञान के, वेद के कर्मकांडांश का अर्थ नहीं लग सकता। एक ही गूँज की ध्वनि, व्यक्ताऽक्षरहीन, थोड़े से भेद से हर्षसूचक, थोड़े से भेद से शोकसूचक, वा भयसूचक, वा क्रोधसूचक, वा प्रश्न-सूचक, नैराश्य-सूचक, वर्जन, तर्जन, अनुमोदन, प्रोत्साहन, अभ्यर्थन, क्षमापन, प्रसादन आदि बहुतेरे भावों की सूचक हो जाती है; यथा, हाँ, हुँ, हूँ, हैं, ऐं, हाय, ओ हो, इत्यादि। "ऋषीणां पुनः आद्यानां वाचं अर्थोऽनुधावति"; परमात्मा की अनभिव्यक्त-कला-रूप पशुओं, पक्षियों, बालकों के विविध भाव, इसी एक आदि गूँज की विकृतियों से सूचित होते हैं। चित्त के असंख्य विकार, सभी, एक इस मूलध्वनि के तत्तदनुरूप विकारों से सूचित हो सकते हैं, और होते हैं।

और प्रत्येक ध्वनिविकार से एक विशेष स्पंदन, स्फुरण, आकाश तत्त्व मे पैदा होता है, और वह क्रमशः अन्य गुणो और महाभूतों और उन के विकारों मे परिणत होता है। प्रत्यक्ष ही, चित्त के प्रत्येक विकार, काम, क्रोध, ईर्ष्या, भय आदि के अनुरूप, मुख की आकृति मे, वर्ण, स्वर, हस्त पाद आदि की मुद्रा चेष्टा मे, सारे शरीर के रस रक्त आदि धातुओं मे, सभी अंशों मे परिवर्तन हो जाता है। प्रणव-ध्वनि की उपासना से, उस पर संयम करने से, स्यात् इन विषयों का ज्ञान और तत्संबंधिनी क्रियाशक्ति प्राप्त हो।

'नाद' की उपासना, (यथा ध्यानबिन्दु उपनिषत् मे), कुछ ऐसे ही भावों को ले कर स्यात् चली है। धारणा और ध्यान के समय, बहिरिन्द्रियों का निरोध कर के, सब विषयों को क्रमशः सत्तासामान्य मे, अस्मिता-मात्र मे, लीन कर के चेतना की धारा को लय न होने देते हुए, उसी सामान्य से, अपने भीतर, सब विशेषों को. आत्मवशता से, अपने अधिकार से, बुद्धिपूर्वक फैलाना, जो पहिले बाहर अबुद्धिपूर्वक, अस्वतंत्रता से, परवशता से, अनुभव किये जाते थे— स्यात् ऐसे क्रियायोग से आत्मैश्वर्य का, नई नई सिद्धियों का, उदय होता हो।

आध्यात्मिक दृष्टि से, प्रणव के तीन अक्षरों का बोधात्मक अर्थ, 'अहं-एतत्-न' 'मै-यह-नहीं (हूँ),' यह संवित् ही, अखिलऽर्थ देने वाली, चित्त की विमुक्ति शांति करने वाली, सब शंकाओं का समाधान, सब प्रश्नो का उत्तर, सब विरोधों का परिहार, सब अनंत असंख्य भावों का महा-समन्वय करने वाली है। इति।

ॐ

सर्वे वेदाः यत्पदमामनन्ति, तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति,
यद् इच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत् ते पदम् सङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये—
ॐ इत्येतत्।

एतद् ध्येवाक्षरं ब्रह्म, एतद् ध्येवाक्षरं परं,
एतदेव विदित्वा तु, यो यदिच्छति तस्य तत्।
सर्वः समानः सर्वेण, सर्वो भवति सर्वथा,
सर्वः सर्वेण संबद्धः, सर्वं सर्वत्र सर्वदा।
स्वयं सदा संसरति, नित्यं प्रालीयते स्वयम्,

स्वयं जाग्रति भूतेषु, निर्वृतः स्वपिति स्वयम् ।
स्वयं कर्माणि कुरुते, युज्यते च फलैः स्वयम्,
स्वयं बंधे निपतति, मुच्यते च तथा स्वयम् ।
स्वयं करोत्ययं सर्वं, न किंचित् कुरुते स्वयम्,
स्वयं सदैव सर्वत्र सर्वं, किंचिच्च न स्वयम् ।
कृपपरिणति चेतः, क्लेशवश्यं क्व चेदं,
क्व च तव गुणसीमोल्लंघिनी शश्वदृद्धिः,
इति चकितं अमन्दीकृत्य, मां, भक्तिर् आधाद्,
वरद !, चरणयोस्ते वाक्यपुष्पोपहारम् ।
असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिंधुपात्रे,
सुरतरुवरशाखा लेखनी, पत्रं उर्वी,
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं,
तदपि तव गुणानां, ईश !, पारं न याति ।
जानाम्यधर्मं, न च मे निवृत्तिः, जानामि धर्मं, न च मे प्रवृत्तिः;
केनाऽपि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ।
विश्वात्मा सर्वभूतानां हृद्देशे ननु तिष्ठति,
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्राऽरूढानि मायया ।
सदुक्तं असदुक्तं वा, तव प्रेरणयैव तत्;
त्वदीयं वस्तु, विश्वात्मन् !, तुभ्यमेव समर्पये ।
जीवात्मने नमस्तुभ्यं, तुभ्यं सूत्रात्मने नमः,
स्थिरात्मने नमस्तुभ्यं, नमस्तुभ्यं चरात्मने,
प्रकृतात्मन् !, नमस्तुभ्यं, नमोऽस्तु विकृतात्मने,
नमोऽव्यक्तात्मने तुभ्यं, नमस्ते व्यंजितात्मने,
एकऽनेकात्मने तुभ्य नमश्च, प्रत्यगात्मने,
सर्वात्मने नमस्तुभ्यं, नमोऽस्तु परमात्मने ।
सत्यपि भेदऽपगमे, नाथ !, तवऽहं, न मामकीनस्त्वम् !
सामुद्रो हि तरंगः, क्वचन समुद्रो न तारंगः ।

देहबुद्ध्या तु दासोऽहं, जीवबुद्ध्या त्वदंशकः,
आत्मबुद्ध्या त्वमेवाहम्; त्रिधाऽपि त्वां भजाम्यहं ।
नऽयं वेद स्वमात्मानं यच्छक्त्याऽहंधिया हतः,
तं दुरत्ययमाहात्म्यं भगवंतं इतोऽस्म्यहम् ।
ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा,
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ;
दैवी ह्येषा गुणमयी, तव माया दुरत्यया,
त्वामेव ये प्रपद्यंते, मायामेतां तरंति ते ।

मनस्विनो यज्ञपरास्तपस्विनो, यशस्विनो मंत्रदृशः सुमंगलाः,
क्षेमं न विंदंति विना यदर्हणं, तस्मै सुभद्र-श्रवसे नमो नमः ।
यत्कीर्त्तनं यच्छ्रवणं यदर्हणं, यद्वन्दनं यत्स्मरणं यदीक्षणं,
जनस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं, तस्मै सुभद्र-श्रवसे नमो नमः ।
भवद्‌गुणऽनुस्मरणाद् ऋते सतां निमित्तं अन्यद्, भगवन् !, न विद्यते,
पिता चरेद् बालहितं यथा स्वयं, तथा त्वमेव अर्हसि नः समीहितुं ।

अज्ञानतिमिरांधस्य, ज्ञानांजनशलाकया,
नेत्रमुन्मीलितम् येन, तस्मै सद्‌गुरवे नमः ।

जनोऽबुधोयं, निजकर्मबन्धनः, सुखेच्छया, कर्म समीहतेऽसुखम्;
यत्सेवया तां विधुनोति असन्मतिं,धियं स नोऽध्यात् परमो गुरोर्गुरुः ।
श्रियःपतिर्यज्ञपतिर्धरापतिर्धियांपतिर्लोकपतिः प्रजापतिः,
पतिर्गतिः संसृतिभर्जितऽात्मनां प्रसीदतां मो भगवान् सतांपतिः ।
अमर भयौ सै, कहा कियौ तौ, जौ तोहि अमर न कीन्हौ,
कठिनहु बहु, सहजहु है अति यह, अपुनहि आपा चीन्हौ;
करुना बिबस महामुनि ज्ञानी सब याही सिख दीन्हौ,
भीतर आँखि फेरि देख्यौ जिन तिन छिन भय जय कीन्हौ ।
जेइ दास भगवान कहैं यह, जेइ दास भगवान सुनै,
तेइ चीन्हि भगवान गुनन कौ, निर्गुन सगुन अभेद गुनै ।

ॐ यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं, यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै,
तं ह देवं आत्मबुद्धिप्रकाशं, मुमुक्षवः शरणं प्रपद्यामहे।
ॐ यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च, विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः,
हिरण्यगर्भं पश्यति जायमानं, स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु। ॐ

ॐ सर्वस्तरतु दुर्गाणि, सर्वो भद्राणि पश्यतु,
सर्वः सद्बुद्धिमाप्नोतु, सर्वः सर्वत्र नंदतु। ॐ

ॐ

* समाप्त *

WORKS BY DR. BHAGWAN DAS.

1.	The Science of the Self	Rs.	1	8	0
2.	The Science of Peace, (3rd edn; in Press)	,,			
3.	The Science of the Emotions, (4th edition ; in preparation)				
4.	The Science of Social Organisation, or The Laws of Manu, 2nd edn., Vols. I & II, (Vol III, in Press)				
	Vol. I, cloth 2-8-0 ; boards ...	,,	2	4	0
	Vol. II, cloth 2-0-0 ; boards ...	,,	1	12	0
5.	The Science of The Sacred Word, or The Pranava Vada of Gargyayana, 3 Vols (Out of print) ...				
6.	The Science of Religion, or The Principles of Sanatana Vaidika Dharma. (Out of print; new edition projected)				
7.	Krishna, A Study in The Theory of Avataras, Cloth, Rs. 2-0-0 ; Boards	,,	1	12	0
8.	Mystic Experiences, or Tales from the Yoga-Vasishtha	,,	1	8	0
9.	Ancient versus Modern Scientific Socialism (Out of Print)				
10.	The Essential Unity of All Religions; (New Edition in Prey)				
11.	*World War and Its Only Cure—World Order and World Religion. (Cr. 8vo, 650 pp)	,,	3	0	0

12.	*Concordance and Dictionary to the Yoga-Sutra & Bhashya, (Words in Skt.; explns. in English) : Cloth	Rs.	3	0	0
13.	Annie Besant and the Changing World	,,	0	4	0
14.	Communalism, Its Cause and Cure	,,	0	4	0
15.	Ancient Solutions of Modern Problems	,,	0	8	0
16.	Manava-Dharma-Sarah, (Laghu, in	,,	0	8	0
	Sanskrit, abridged)	,,	0	8	0
17.	Purushartha (in Hindi) (Boards)	,,	6	8	0
18.	Prayojana (in Hindi)	,,	2	0	0
19.	Manava-Dharma-Sarah (Brihat, in Skt., unabridged)	,,	2	0	0
20.	Many pamphlets in English in the Adyar Pamphlets Series, and others in English and Hindi.				
21.	*Manava-Arsha-Bhashya (Skt. text and commentary in verse, and running version in Hindi by Pt. Indira Ramana Shastri, compiled under the supervision and guidance of Dr. Bhagavan Das)	,,	5	0	0

To be had from the Manager, The Indian Book Shop, Benares City; also, The Theosophical Publishing House, Adyar, Madras. Books marked * may be had direct from the author also; address—Dr. Bhagavan Das, Benares (Cantt). Full pamphlet of Opinions on the above works, may be had on requisition, Prices are liable to change without notice.